

ਮਹਾਪ੍ਰਯ-ਫ਼ਰੀਜ਼



�ਾਕ ਦਿਆਨਨਦ ਭਾਗਵ

आचार्य महाप्रज्ञ का परिचय

मूलनाम :	नथमल
जन्मदिनांक :	१४ जून, १६२०
जन्मस्थान :	टमकोर (राजस्थान)
पितृनाम :	श्री तोलाराम चोरड़िया
मातृनाम :	माता बालूजी
मुनिदीक्षा :	२६ जनवरी, १६३७
दीक्षागुरु :	आचार्य कालूगणी
शिक्षागुरु :	आचार्य तुलसी
युवाचार्य पद :	३ फरवरी, १६७६
आचार्य पद :	५ फरवरी, १६६५
लेखन :	लगभग १५० ग्रन्थ

आचार्य महाप्रज्ञ कृत आगमविवेचन

- आचाराङ्ग
- दशवैकालिक
- उत्तराध्ययन
- सूत्रकृताङ्ग
- स्थानाङ्ग
- भगवती
- ज्ञाताधर्मकथा
- नन्दी
- अनुयोगद्वार
- व्यवहार-भाष्य

पद यात्रा : लगभग १ लाख किलोमीटर

अनुशास्ता : जैन विश्व भारती संस्थान
(मान्य विश्वविद्यालय) लाडनूं

सम्प्रति :

सन् २००१ से चतुर्वर्षीय अहिंसा यात्रा द्वारा
आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों को जन जन के
मन में स्थापित करने में व्यापृत।

महाप्रज्ञ-दर्शन

एक जैन आचार्य के अर्ध-शताब्दी के चिन्तन का
समग्र विश्लेषण

प्रोफेसर डॉ० दयानन्द भार्गव

सम्पादन

मुनि धनञ्जय

कन्हैयालाल फूलफगर

जैन विश्व भारती

लाडनूं-३४९३०६ (राजस्थान)

© जैन विश्व भारती, लाडनू-३४९३०६ (राजस्थान)

महाप्रज्ञ-दर्शन

लेखक : डॉ० दयानन्द भार्गव

सम्पादन : मुनि धनञ्जय
कन्हैयालाल फूलफगर

आवरणपृष्ठ : मञ्जु नाहटा

प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाडनू-३४९३०६ (राजस्थान)

प्रथम संस्करण : अक्टूबर, २००२

ISBN : 81-7195-086-8

मूल्य : दो सौ रुपये

मुद्रक : शान्ति प्रिन्टर्स एण्ड सप्लायर्स, दिल्ली दूरभाष : २७५५५०७

Mahāprajñā-Darsana

Author : Dayanand Bhargava

Rs. : 200/-

मेरे जैन-विद्या के प्रथम गुरु
क्षुल्लक श्री जिनेन्द्र जी वर्ण
की
पुण्य-सृति
का...

दयानन्द भागव

):: अनुक्रम ::

- सम्पादकीय (ix)
- लेखक की ओर से (xiii)
- दृष्टि — (१—१३)
- भावभूमि — (१४—४२) दृष्टि का भ्रम—तीन रत्न—मोक्ष : हमारे जीवन का सहज लक्ष्य—अध्यात्म के बिना खोखली है समाज सेवा—सत्य का आवरण है कषाय—आत्मज्ञान कोई भूलभुलैया नहीं है—प्रारम्भ करें शरीर से—शरीर और मन का सम्बन्ध—आस्तिकता और नास्तिकता—क्वांटम सिद्धान्त और प्राण-तत्त्व—परम्परोपग्रहो जीवनाम्—अन्धविश्वास नहीं है श्रद्धा—अहिंसा की सूक्ष्मता—अहिंसा की प्रासंगिकता—सूक्ष्म की शक्ति—चेतन का जड़ पर प्रभाव—बाह्य संसार एकः अन्दर के संसार सबके अलग अलग—अपने शुद्ध रूप की झलक—अपना सत्य स्वयं खोजें—तक्का तथ न विजज्जइ—साक्षी केवल देखता ही नहीं बदलता भी है—शरीर भी संस्कारों का वाहक है—शरीर के मरने पर विचार नहीं मरता—सूक्ष्म से स्थूल की ओर—वार्धक्य जरा नहीं है—अभिमान विकास को रोकता है—तपसा निर्जरा—प्रवृत्ति में निवृत्ति—अखण्ड है काल और कालातीत है समता—कालचक्र का आवर्त्तन—अजरता अमरता का सूत्र—

महाप्रज्ञ उवाच (४३—५५)

व्यवहार खण्ड

- समाज** — (५६—६७) सामाजिक दृष्टि का उद्देश्य—व्यक्ति और समाज — मनःस्थिति और परिस्थिति — न्यायव्यवस्था—व्यक्तिवादी दृष्टिकोण—व्यक्ति और समाज की सापेक्षता—अध्यात्म और समाज—विधायक मूल्य—शिक्षा और समाज—समाज के बिना व्यक्ति का विकास असम्भव—अध्यात्म का कार्य शिक्षा—समाज व्यवस्था : जैनपरम्परा के परिप्रेक्ष्य में—पूंजीवाद—पूंजीवाद बनाम श्रम—अर्थ का केन्द्र में आना ही अनर्थ की जड़—उपभोक्तृवाद की विकृतियाँ—लोकतंत्र की समस्याएँ—समाजवाद—समाजवाद की समीक्षा—वर्णाश्रम व्यवस्था—सिद्धान्त और व्यवहार का भेद—वर्णाश्रम व्यवस्था का सामाजिक-आर्थिक तंत्र—मुद्रा का प्रचलन और काले धन की समस्या—गृहस्थ आश्रम का महत्त्व—आश्रम व्यवस्था ।

ब्रती समाज—अहिंसा—ब्रतों में अतिचार—सत्य अणुव्रत—अचौर्य अणुव्रत—ब्रह्मचर्य अणुव्रत—अपरिग्रह अणुव्रत—भोगोपभोग परिमाण ब्रत — श्रम — स्वावलंबन — वैयावृत्य — स्थिरीकरण—वात्सल्य—आवश्यकता नयी व्यवस्था की—केन्द्र है मनुष्य—परिग्रह और सुख की व्याप्ति नहीं है—समाजवाद भी अपरिग्रह नहीं ला पाया—स्वदेशी गरिमा—समाजवाद के साथ अध्यात्म जुड़े—परिग्रह सम्माननीय नहीं है—जन प्रतिनिधियों का दायित्व—स्वार्थ को परमार्थ में बदलें—आज धन केन्द्र में है—विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था और मानवीय संरपर्श—उपसंहार—

महाप्रज्ञ उवाच

(६८—१०३)

- संयम** — (१०५—११५) अध्यात्म और काम—ऊर्जा और काम—ध्यान और काम—जप—काम के हेतु—आसक्ति का मर्म—इच्छा परिमाण—निम्नगामी को ऊर्ध्वगामी बनायें—आहार संयम—स्पन्दनों का पक्ष प्रतिपक्ष—इन्द्रियों के पार—योग और तारुण्य—

महाप्रज्ञ उवाच

(११६—१२१)

- पर्यावरण** – (१२३–१३१)–प्रकृति और मानव–प्रकृति के नियम–हम नया कच्चा माल पैदा नहीं कर सकते–विकास की आत्मघाती अवधारणा–नया परिदृश्यःयन्त्रीकृत मानव–गरीबी का अर्थ–साधन शुद्धि–
महावीर उवाच (१३२–१५१)
महाप्रज्ञ उवाच (१५२–१५४)
- अहिंसा** – (१५५–१७४)–हमारी आवश्यकता और अहिंसा–क्यों होती है हिंसा–हिंसा का शमन ध्यान के द्वारा–आहार और अहिंसा–श्रम और अहिंसा–अनाग्रह और अहिंसा–अभय और अंहिंसा–अहिंसा व्यवहार में सहायक है–भेद में अभेद–निर्धनता की समस्या–अहिंसा और सामर्थ्य–रागद्वेष को पहचानें–प्रदर्शन निर्थक है–न भोग, न दमन–हिंसा दुख है–अहिंसा और अपरिग्रह की युति–पर्यावरण और अहिंसा–क्रूरता का दृश्य–शस्त्रीकरण के आंकड़े–अहिंसा : कुछ मिथ्याधारणायें–
महाप्रज्ञ उवाच (१७५–१७७)
- विज्ञान** – (१७६–२०१)–देश–काल–युति–पदार्थ की लम्बाई और काल दोनों सापेक्ष हैं–जैनसम्मत सापेक्षता–सापेक्षता : बौद्ध और वेदान्ती दृष्टिकोण–विज्ञान सम्मत सापेक्षता–प्रकाश की गति की निरपेक्षता–द्रव्यमान की वृद्धि–काल की सापेक्षता–पदार्थ और ऊर्जा की युति–निष्कर्ष–द्वन्द्वों की दुनिया पाप-पुण्य–ज्ञान - कर्म – प्रवृत्ति - निवृत्ति – विम्ब - प्रतिविम्ब–दुःख-सुख–यथा आगत तथा गत–भेदाभेद–व्यक्ताव्यक्त–निश्चय-व्यवहार–पूर्णता-अपूर्णता–जन्म-मृत्यु–तृतीय नेत्र–परिरिथिति-मनस्थिति–जड़-चेतन–
महाप्रज्ञ उवाच (२०२–२०३)
- शिक्षा** – (२०५–२१७)–वर्तमान शिक्षा जानकारी दे रही है संस्कार नहीं–शिक्षा का अवमूल्यन हुआ है–पशु नहीं है मनुष्य–विज्ञान की सीमा–दर्शन और विज्ञान–शिक्षा का उद्देश्य : चतुर्मुखी विकास–
महाप्रज्ञ उवाच (२१८–२२२)
- साहित्य** – (२२३–२३५)–काव्यालोचन–
महाप्रज्ञ उवाच (२३६–२३७)

परमार्थ खण्ड

समाधान – (२४१–३३८) समस्या—ज्ञान—अहिंसा—साधना—रूपान्तरण—
भाव—सूक्ष्म-जगत्—मन—अन्तराय—शारीरिक बाधा—विभूति—

एक स्पनिष्टद् – महाप्रज्ञ-जैनेन्द्र-संवाद (३३६–३५०)

विद्वानों की दृष्टि में आचार्य महाप्रज्ञ (३५१)

संपादकीय

इस्वी सन् १६६४, पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी का दिल्ली में चातुर्मासिक प्रवास। उन दिनों जैन भारती नामक मासिक पत्र में ऋषभायण महाकाव्य का धारावाहिक प्रकाशन हो रहा था। ऋषभायण जैन धर्म के प्रथम तीर्थकर भगवान् ऋषभ के जीवन-दर्शन पर केन्द्रित महाकाव्य है। इस काव्य के सर्जन की मूल प्रेरणा आचार्य श्री तुलसी की यह आकांक्षा रही—‘रामायण की तरह ऋषभायण का भी निर्माण होना चाहिए।’ उन्होंने इस कार्य की संपूर्ति का दायित्व आचार्य श्री महाप्रज्ञ को सौंप दिया। अपने गुरु के इंगित आकार के अनुरूप अपने कार्य की दिशा का निर्धारण आचार्य महाप्रज्ञ का जीवन-ब्रत रहा। इसीलिए गुरुदेव तुलसी की चाह आचार्य महाप्रज्ञ की चाह बन जाती, गुरुदेव तुलसी का संकल्प आचार्य महाप्रज्ञ का संकल्प बन जाता। गुरु-शिष्य की इच्छा और संकल्प की इस एकात्मता में द्वैत में अद्वैत का साक्षात्कार होता था।

इस अद्वैत संकल्प की निष्पत्तियों का लेखा जोखा करना प्रस्तुत प्रसंग में न प्रासांगिक है और न अपेक्षित। ऋषभायण का सर्जन पूर्ण होने से पूर्व ही वह जैन भारती में क्रमशः प्रकाशित होने लगा। जैन भारती के अगस्त (सन् १६६४) अंक में ऋषभायण का जो अंश प्रकाश में आया, उसमें वसंतोत्सव का सजीव एवं मर्मस्पर्शी चित्रण था। डॉ० दयानन्द भार्गव के हाथों में जैन भारती का वह अंक पहुंचा। ऋषभायण में वसंतोत्सव का वर्णन पढ़कर डॉ० भार्गव भावविभोर हो गए। अपने मन में उभरे भावों को रोकना उनके लिए अशक्य बन गया। उस अंक में छपे दस-बारह पद्यों पर उन्होंने एक समीक्षात्मक निबंध लिख डाला।

वह निबंध जैन भारती में प्रकाशित हुआ। आचार्य श्री तुलसी ने उस निबंध को पढ़कर न केवल प्रसन्नता व्यक्त की किन्तु साधु-साधियों की गोष्ठी

के मध्य उस निबंध का वाचन कराया। पूज्य गुरुदेव ने कहा—“डॉ. दयानन्द भार्गव की दृष्टि बहुत पैरी है। उनमें कथ्य के मर्म को पकड़ने की क्षमता है। समीक्षा का विशिष्ट कौशल है। अपने भावों को शब्दों का सुन्दर परिधान देने में निपुण हैं, जिससे उनका वक्तव्य और लेखन पाठक के दिल को छू लेता है।” गुरुदेव ने प्रस्तुत निबंध के लिए डॉ. भार्गव का साधुवाद देते हुए कहा—साधु-साधियों को भी ऐसे निबंध पढ़ने चाहिए। इससे उनकी बौद्धिक क्षमता में नए उन्मेष आ सकते हैं। उसी समय गुरुदेव श्री तुलसी ने इस ओर ध्यान आकृष्ट किया—डॉ. भार्गव ने ऋषभायण के एक अंश पर जो लिखा है, वह यहीं तक सीमित न हो जाए। वे आचार्य महाप्रज्ञ के साहित्य का समग्र दृष्टि से समीक्षात्मक विश्लेषण करें, यह अपेक्षित है।

डॉ. दयानन्द भार्गव तक पूज्य गुरुदेव का वह संदेश पहुंचा। उन्होंने वर्तमान में चल रहे अपने कार्यों की संपूर्ति के पश्चात् इस कार्य को करने का संकल्प व्यक्त किया।

अपने संकल्प के अनुरूप डॉ. भार्गव ने आचार्य महाप्रज्ञ के विशाल साहित्य का अवगाहन शुरू कर दिया। वे गहन अध्ययन, अन्वेषण, तुलनात्मक अनुशीलन तथा समीक्षात्मक विश्लेषण करते रहे। चिन्तन मंथन से नए तथ्य उपलब्ध हुए और अपने अध्ययन, अनुसंधान की महनीय फलश्रुति को ‘महाप्रज्ञ-दर्शन’ शीर्षक ग्रन्थ के रूप में तैयार कर श्रद्धेय आचार्य श्री महाप्रज्ञ के चरणों में उपहृत कर दिया। पूज्यवर के निर्देश से उस ग्रन्थ के आद्योपान्त पारायण का हमें सौभाग्य मिला।

दृष्टि, भाव-भूमि, व्यवहार, परमार्थ इन चार उप शीर्षकों में विभक्त इस ग्रन्थ में ‘महाप्रज्ञ-दर्शन’ का एक अभिनव रूप सामने आया है। आचार, विचार, व्यवहार, दर्शन, शिक्षा आदि के क्षेत्र में आचार्य महाप्रज्ञ का जो विशद चिन्तन रहा है, उसे बहुत थोड़े शब्दों में समेट कर ‘गागर में सागर’ की उकित को चरितार्थ किया है।

डॉ. दयानन्द भार्गव चिन्तक हैं, विचारक हैं, प्रखर मेधावी प्रज्ञावान् साधु पुरुष हैं। वे कहने से अपनी लेखनी नहीं चलाते। जब तक बात उनके हृदय में उत्तर नहीं जाती, तब तक वे कलम उठाना तो बहुत दूर की बात है, वे उस ओर झाँकते तक नहीं। बात उनके कलेजे के आर-पार चली जाती है तब वे ऊब कर नहीं, पूरे मन से छूब कर लिखते हैं। उन्होंने जिस अतल गहराई में उत्तर कर इस ग्रन्थ का सर्जन किया है, वह भारतीय वाङ्मय की अमूल्य

धरोहर बन गया है। यह ग्रन्थ अपने आप में इतना परिपूर्ण और समृद्ध है कि संपादन की कहीं कोई अपेक्षा नहीं थी। फिर भी डॉ० भार्गव के आग्रह और पूज्यवर के निर्देश से हमें इस कार्य से जुड़ने का अवसर मिला, यह हमारे लिए आत्मतोष और प्रसन्नता का विषय है।

आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में "दयानन्द भार्गव विद्वान् हैं यह सब जानते हैं। किन्तु वे जितने बड़े विद्वान् हैं उतने ही बड़े साधक हैं, इस बात को शायद बहुत कम लोग जानते हैं। भार्गव जी अध्ययनशील हैं। वे जितने बड़े विद्वान् हैं साथ-साथ में उतने ही बड़े विद्यार्थी हैं, छात्र हैं, जिज्ञासु हैं। जिस व्यक्ति की जिज्ञासा समाप्त हो जाती है वह दस वर्ष का भी बूढ़ा हो जाता है, और जिसमें जिज्ञासा विद्यमान रहती है वह सौ वर्ष का होकर भी शिशु रहता है, जवान रहता है। हमारे जीवन का संचालन जिज्ञासा के द्वारा ही हो रहा है। इन पांच वर्षों में डॉ० भार्गव ने हमारे साहित्य पर इतना गहन अध्ययन किया है और इतना लिखा है कि जब सामने आएगा तो कुछ नया ही रूप लेकर आएगा।"

आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने डॉ० दयानन्द भार्गव के बारे में जो विश्वास व्यक्त किया है, वह शत-प्रतिशत सही प्रमाणित हुआ है। ग्रन्थ की समीक्षा और समालोचना के लिए पर्याप्त समय, सघन अध्यवसाय और सूक्ष्म दृष्टि की अपेक्षा है। यह कोई दूसरा दयानन्द भार्गव ही कर सकता है। इस ग्रन्थ के पाठक और समीक्षक को इस सचाई का अवश्य साक्षात्कार होगा, यह असंदिग्ध भाव से कहा जा सकता है।

—संपादक

लेखक की ओर से

भूमिका के रूप में जो कुछ मुझे कहना था वह ग्रन्थ की 'भावभूमि' में तथा उससे भी पहले "दृष्टि" शीर्षक के अन्तर्गत दी गयी तालिका में कह दिया गया है। यहाँ तो मेरे लिये उन व्यक्तियों के प्रति नामोल्लेख-पूर्वक कृतज्ञता ज्ञापित करना ही शेष रह जाता है जिनके सक्रिय सहयोग तथा उत्साहवर्धन के बिना इस ग्रन्थ का निर्माण मेरे लिये दुष्कर हो जाता।

इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार होते ही मैं उसे लेकर सर्वप्रथम आचार्य महाप्रज्ञ के कर कमलों में अर्पित करने पहुंचा। इदम्प्रथमतया ग्रन्थ की पाण्डुलिपि पर आचार्यश्री की ही कृपादृष्टि पड़ी। उन्होंने इसे प्रथम दृष्ट्या प्रकाशन योग्य मानकर मुनि श्री धनञ्जय जी को अवलोकनार्थ सौंप दिया। अब मुनि श्री धनञ्जय जी तथा मुझ पर सदा स्नेह भाव रखने वाले श्री कन्हैयालाल जी फूलफगर इसके सम्पादन का गुरुतर भार वहन कर रहे हैं। इधर बहुत दिनों से आचार्यश्री के साहित्य के सम्पादन का भार मुनि श्री धनञ्जय ही संभाल रहे हैं। श्री कन्हैयालाल जी फूलफगर अभी अभी आचार्य महाप्रज्ञ पुरस्कार से सम्मानित हुए हैं जो इस बात का सूचक है कि उन्होंने पिछले तीन दशकों में आचार्य महाप्रज्ञ के वाङ्मय की श्रावकों में सर्वाधिक सेवा की है। ये दोनों मेरे ग्रन्थ के सम्पादक बन रहे हैं। इससे मैं अपने को सम्मानित अनुभव करता हूं। इन दोनों पर, और मुझ पर भी, जो आचार्यश्री का वरद हस्त है, उसके कारण हम तीनों ही अभय भाव में रहते हैं, जिस अभय भाव के बिना आचार्यश्री पर कलम उठाना संभव नहीं है।

ग्रन्थ के निर्माण के समय मेरे साथ स्वाध्यायशील समणीपंचक ने अनुकम्पा पूर्वक ग्रन्थलेखन हेतु सामग्री-संकलन में मेरा अपूर्व सहयोग किया। वे पाँच समणियां हैं—समणी मंगलप्रज्ञा, समणी चैतन्यप्रज्ञा, समणी ऋजुप्रज्ञा,

समणी शारदाप्रज्ञा तथा समणी ऋतुप्रज्ञा। ये समणियां मेरे कृतज्ञता की अपेक्षा मेरी 'वंदामि नमस्सामि' की पात्र हैं। समणी मंगलप्रज्ञाजी ने तो प्रूफरीडिंग के मेरे प्रमादों का सशोधन कर वह दुर्लभ कार्य किया जो किसी अन्य के द्वारा होना कठिन ही था।

मेरे शोधछात्र श्री उम्मेदसिंह बैद ने मेरे बोले हुए को लिपिबद्ध किया तथा मेरी शोधछात्रा श्रीमती मञ्जु नाहटा ने आवरण पृष्ठ बनाया। मेरे पूर्व शोधछात्र डॉ० मोहनचन्द एवं डॉ० अनेकान्त जैन ने ग्रन्थ का अन्तिम प्रूफ देखा। इन चारों को मेरा आशीर्वाद। श्री शिवकुमार वर्मा, शान्ति प्रिन्टर्स एण्ड सप्लायर्स, दिल्ली को ग्रन्थ को हृदयग्राही रूप में मुद्रित करने के लिये आभार।

ग्रन्थ की पाण्डुलिपि दो वर्ष पूर्व तैयार हो गयी थी, प्रकाश में अब आ रही है। इस विलम्ब का भी एक लाभ हुआ। पाण्डुलिपि रूप में ही यह ग्रन्थ एक हाथ से दूसरे हाथ में जाता रहा और उनका आशीर्वाद पाता रहा। जैन विश्व भारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) के प्रथम कुलाधिपति जैनविद्यामनीषी स्वर्गीय श्री श्रीचन्द जी रामपुरिया ने इस ग्रन्थ को 'महाप्रज्ञ की सारी चिन्तन-धारा को हृदयग्राही बनाने वाला' माना तो उसी संस्था के तात्कालिक कुलपति प्रोफेसर भोपालचन्द लोढ़ा ने इसे आचार्य महाप्रज्ञ के योगदान का समीक्षात्मक मूल्यांकन करने वाला घोषित किया। प्राच्यविद्या के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ (मान्य विश्वविद्यालय) दिल्ली के कुलपति प्रोफेसर वाचस्पति उपाध्याय ने लिखा कि 'यह महान् ग्रन्थरत्न सुधी समाज में समावृत होगा' तो सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के कुलपति डॉ० अभिराज राजेन्द्र मिश्र को इस ग्रन्थ की 'स्थापनायं इदम्भ्रथमतया प्रवर्तित होते हुए भी अन्तिम' प्रतीत हुई।

मैंने जैन विश्वभारती संस्थान के जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म दर्शन विभाग के प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष पद पर चार वर्ष से अधिक काल तक कार्यरत रहते हुए इस ग्रन्थ का निर्माण किया तो मेरे सहकर्मी इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि को देखकर हर्षित क्यों न होतें? प्राकृत एवं जैनागम विभागाध्यक्ष, विश्वविद्यालय के कुलसचिव डॉ० जगतराम भट्टाचार्य ने इस ग्रन्थ को 'आचार्य महाप्रज्ञ के चिन्तन को एक अपूर्व शैली में प्रस्तुत करने वाला बताया। विश्वविद्यालय के पूर्व कुलसचिव एवम् अहिंसा-शांति शोध विभाग के अध्यक्ष डॉ० बच्छराज दुगड़ ने ग्रन्थ की समीक्षात्मक पद्धति को सराहा। उनके ही विभाग के

डॉ० अनिलधर ने इसे ज्योति स्तम्भ संज्ञा से अभिहित किया। पत्राचार एवं दूरस्थ शिक्षा के समन्वयक डॉ० आनन्द प्रकाश त्रिपाठी ने ग्रन्थ को सचमुच एक महामानव की अन्तःप्रज्ञा का साक्षात्कार कराने वाला माना। जीवन विज्ञान के तत्कालिक विभागाध्यक्ष डॉ० जे.पी.एन. मिश्र ने विश्लेषण को अत्यन्त व्यवस्थित एवं सरस बताया। प्राकृत एवं जैनागम विभाग के सहाचार्य डॉ० हरिशंकर पाण्डेय के मत में ग्रन्थ में विवेचन बड़े ही सुन्दर एवम् आकर्षक रूप में किया गया है। उनके ही विभाग के डॉ० जिनेन्द्र जैन का मानना है कि यह ग्रन्थ शोधार्थियों के लिये चिन्तन के नये विश्लेषणात्मक स्वरूप को प्रस्तुत करता है। जीवन विभाग के डॉ. बी.पी. गौड़ के मत में भी इसका विपुल उपयोग शोध कार्यों में होगा। समाज कार्य विभाग की सहायक प्रोफेसर श्रीमती प्रतिभा जैन इस ग्रन्थ को भारतीयों को अपनी जड़ों से जोड़ने का एक सशक्त माध्यम मानती हैं। जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म दर्शन विभाग के वर्तमान अध्यक्ष डॉ० अशोक जैन के मतानुसार ग्रन्थ के निष्कर्ष सभी के लिये विचार स्रोत बनकर मानव कल्याण की दिशा में उत्कृष्ट भूमिका निभायेंगे।

समाज कार्य विभाग के डॉ० प्रधान कहते हैं कि यह ग्रन्थ है
A Historical landmark, which adds to the rich Jaina philosophy और अंग्रेजी की सुधी प्राध्यापिका सुश्री ममता गुलेरिया ग्रन्थ को *Thought provoking and insightful* मानती हैं।

ग्रन्थ के प्रकाशन के पूर्व ही इस ग्रन्थ पर इतनी विपुल पुष्प-वर्षा विद्वानों की आचार्य महाप्रज्ञ के प्रति अगाध श्रद्धा का परिणाम है, कर्तृत्व का कोई अहंकार अपने ऊपर ओढ़ने की आत्म-सम्पोहन की मनःस्थिति मेरी बिल्कुल नहीं है।

फिर अभी तो मुझे बहुत कुछ करना है। आचार्य महाप्रज्ञ पर नये सिरे से एक ग्रन्थ के निर्माण में लगा हूँ। इस बार ग्रन्थ अंग्रेजी में होगा। पंचपरमेष्ठी मेरे सारस्वत साधना के शुभोपयोग में अपनी शरण प्रदान करते रहें—यही प्रार्थना है। इस ग्रन्थ के निर्माण-काल में जो आनन्द का भाव लेखक में बना रहा, वह आनन्द-भाव इसके पाठकों में भी सङ्क्रमित हो—इस शुभाशंसा के साथ—

दृष्टि

यथादृष्टिस्तथा सृष्टिः

दृष्टि

आचार्य महाप्रज्ञ के साहित्य के स्वाध्याय को एक महत्त्वपूर्ण निष्पात्त है—दृष्टि-परिवर्तन। हमारे मानस में कुछ मिथ्या धारणाएं जड़ जमाये रहती हैं। विचार करने पर पता चलता है कि हमारी वे धारणाएं भ्रान्त थीं। जब तक उन मिथ्या धारणाओं का निराकरण न हो और सम्यक् धारणा उनका स्थान न ले ले, तब तक वे मिथ्या धारणाएं ही हमारे जीवन को संचालित करती रहती हैं। परिणाम होता है—कुण्ठा, सन्त्रास और विरसता। जब सम्यक् धारणाएं मिथ्या धारणाओं के स्थान पर आती हैं तो जीवन की दिशा भी बदल जाती है और परिणाम होता है—प्रफुल्लता, अभय और सरसता। आचार्य महाप्रज्ञ के साहित्य का अनुशीलन करने से जो मुख्य दृष्टि-परिवर्तन हमारे समुख आये, उनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है। पाठकों की सुविधा के लिए हम इस विवरण को विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत दो कॉलम में विभक्त करके देंगे। प्रथम कॉलम में हम वे धारणा देंगे जो सामान्यतः प्रचलित रहती हैं और द्वितीय कॉलम में हम वह धारणा देंगे जो आचार्य महाप्रज्ञ का साहित्य पढ़ने के अनन्तर बनती हैं—

भाव-भूमि

प्रचलित अवधारणा

1. सत्य उतना ही है जितना इन्द्रियों से प्रतीति में आता है।
2. हम जो जानते हैं वही मानते हैं।
3. हम जो सोचते हैं वही करते हैं।

सम्यक् अवधारणा

1. कुछ सत्य ऐसे भी हैं—और वे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं—जो इन्द्रियातीत हैं।
2. कभी-कभी हम जानते कुछ और हैं और मानते कुछ और हैं।
3. कभी-कभी हम सोचते कुछ और हैं तथा करते कुछ और हैं।

४. संसार के काम बिना बेर्इमानी के सिद्ध नहीं होते ।
५. मोक्ष की साधना कुछ गिने-चुने लोगों के लिए है ।
६. धर्म उनके लिए है जिन्होंने संसार छोड़ दिया है ।
७. अध्यात्म एक हवाई चीज है, ठोस है समाज-सेवा ।
८. हम सामान्य व्यक्ति हैं, सन्त नहीं । हमारा कार्य क्रोध, मान, माया और लोभ के बिना नहीं चल सकता ।
९. आत्मज्ञान एक रहस्यमय चीज है ।
१०. भोगोपभोग के पदार्थ हमें सुख देते हैं ।
११. आत्मज्ञान के लिए शरीर के परे जाना होगा ।
१२. शरीर अलग है, मन अलग है । क्रोध मन में आता है; कैंसर शरीर में होता है । इन दोनों का आपस में कोई संबंध नहीं है ।
१३. नास्तिक वह है जो ईश्वर को नहीं मानता ।
१४. शरीर का मुख्य घटक परमाणु है, उन्हीं से शरीर का निर्माण होता है ।
४. अन्ततोगत्वा बेर्इमानी से होने वाले लाभ की अपेक्षा बेर्इमानी से होने वाली हानि कई गुण अधिक होती है ।
५. मोक्ष हम सबका जन्मसिद्ध अधिकार है ।
६. धर्म संसारी पुरुषों के लिए भी आवश्यक है ।
७. अध्यात्म के बिना समाज-सेवा बिना जड़ की बेल है ।
८. क्रोध, मान, माया और लोभ भले कितने भी आवश्यक लगें, किंतु वे सत्य को ढकते ही हैं ।
९. मैं स्वयं आत्मा हूँ । अपने को जानना ही आत्मज्ञान है ।
१०. यदि हमारा मन अशान्त है तो हमें कोई भी पदार्थ सुख नहीं दे सकता ।
११. आत्मा को जानने के लिए सबसे पहले शरीर को जानना होगा ।
१२. मन के विकार ही शरीर में रोग रूप में परिणत होते हैं ।
१३. नास्तिक वह है जो यह मानता है कि वह बुरा काम करके उसके फल से बच सकता है ।
१४. शरीर में मुख्य स्थान स्पन्दन का है, ये स्पन्दन ही हमारी मनःस्थिति और शरीर की स्थिति का निर्धारण करते हैं ।

१५. हमारा अस्तित्व हमारे शरीर तक सीमित है।
१६. हम सबका अस्तित्व अलग-अलग है। हम स्वयं में पर-निरपेक्ष रूप में स्थित हैं।
१७. श्रद्धा वह है, जहाँ तर्क नहीं है।
१८. धर्म अंध-विश्वासों पर टिका है।
१९. पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु जड़ हैं। इन्हें सुख-दुःख नहीं होता।
२०. हमें दूसरों के सुख-दुःख से कोई प्रयोजन नहीं। हमें अपना ही सुख साधना है।
२१. जो जितना स्थूल है वह उतना शक्तिशाली है।
२२. चेतन और जड़ एक दूसरे को प्रभावित नहीं करते।
२३. पौष्टिक भोजन से शरीर पुष्ट होता है।
२४. एक-सी परिस्थिति में सबको एक-सा-ही अनुभव होगा।
१५. हमारा आभामण्डल हमारे शरीर के बाहर तक फैला है। वह आभामण्डल भी हमारे अस्तित्व का हिस्सा ही है और वह आभामण्डल शरीर से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।
१६. मुक्त आत्माओं को छोड़कर हम सब एक दूसरे से प्रभावित होते हैं।
१७. श्रद्धा वह है जो हमें दूसरों की अच्छाई के प्रति ग्रहणशील बनाती है।
१८. धर्म हमारे उन अंध-विश्वासों पर चोट करता है जिन्हें हम सहज ही सदा पाले रहते हैं।
१९. पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु सजीव हैं, इन्हें भी सुख-दुःख होता है।
२०. दूसरों के प्रति क्रूरता का भाव हमें कठोर बना देता है और हमारी ग्रहण-शीलता समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में न हमें दूसरों के सद्भाव का लाभ मिलता है, न आशीर्वाद का।
२१. जो जितना सूक्ष्म है वह उतना अधिक शक्तिशाली है।
२२. चेतन और जड़ एक दूसरे से प्रभावित होते हैं।
२३. केवल भोजन ही हमारे शरीर को नहीं बनाता। हमारे शरीर के निर्माण में वह मनःस्थिति भी महत्त्वपूर्ण योगदान देती है जिस मनःस्थिति से हम भोजन करते हैं।
२४. एक-सी परिस्थिति होने पर भी सबको अनुभव भिन्न-भिन्न होते हैं।

२५. परिस्थिति की अनुकूलता और प्रतिकूलता निश्चित है।
२६. हम छोटे-बड़े गरीब-अमीर हैं।
२७. हमें कोई अन्य व्यक्ति सत्य का दर्शन करा देगा।
२८. हम विचार करके सत्य को जान लेंगे।
२९. पदार्थ को बदलने के लिए कुछ क्रिया करनी पड़ती है। केवल देखने-जानने से कोई परिवर्तन नहीं आता।
३०. संस्कार मन में रहते हैं, शरीर में नहीं।
३१. हमारी भावना पृथक् है; शरीर की स्थूल क्रिया पृथक् है।
३२. हम सुख-दुःख के द्वन्द्वों में जीते हैं।
३३. हम निरन्तर बदल रहे हैं।
३४. जैसे हम बूढ़े होते हैं वैसे कमजोर हो जाते हैं।
३५. प्रतिष्ठा पाकर हमारा उत्साह बढ़ता है और उससे व्यक्ति को सफलता मिलती है।
२५. निषेधात्मक दृष्टिकोण अनुकूल को भी प्रतिकूल बना देता है। विधेयात्मक दृष्टिकोण प्रतिकूल को भी अनुकूल बना देता है।
२६. हम अपने शुद्ध रूप में न छोटे हैं न बड़े।
२७. अपना सत्य स्वयं खोजना पड़ता है।
२८. सत्य वहाँ नहीं है जहाँ विचार ले जाता है। सत्य उस निर्विचारता में है जिस निर्विचारता में से विचार उत्पन्न होता है।
२९. क्रिया ऊपरी परिवर्तन ला सकती है। आन्तरिक परिवर्तन देखने-जानने से ही आता है।
३०. शरीर भी संस्कारों का वाहक है।
३१. भावना से शरीर की स्थूल क्रिया प्रभावित होती है।
३२. सुख-दुःख के द्वन्द्व हमारे मन की उपज है। हम सुख-दुःख से परे हैं।
३३. हमारे अस्तित्व का दृश्य भाग बदलता है, साक्षी भाग नहीं।
३४. कमजोर होना जरा है, परिपक्वता वार्धक्य है। अवस्था बढ़ने पर शरीर जीर्ण हो सकता है, किंतु परिपक्वता में वृद्धि होनी चाहिये।
३५. प्रतिष्ठा पाकर हम ये मान लेते हैं कि हम बहुत बड़े हैं; इससे हम पुरुषार्थ करना छोड़ देते हैं और हमारा विकास रुक जाता है।

- | | |
|---|---|
| ३६. कष्टों से व्यक्ति निर्बल होता है। | ३६. कष्टों से व्यक्ति निखरता है। |
| ३७. शरीर के समाप्त होने पर हम समाप्त हो जायेंगे। | ३७. शरीर के समाप्त होने पर भी हमारा अस्तित्व बना रहेगा। |
| ३८. मुक्ति के लिए कर्म छोड़ना आवश्यक है। | ३८. मुक्ति के लिए कर्म छोड़ना आवश्यक नहीं है। आवश्यक है—कर्म के प्रति जागरूकता। |
| ३९. काल सीधी रेखा के रूप में चलता है। | ३९. काल वर्तुलाकार चलता है। |
| ४०. काल के प्रभाव से हम बूढ़े होते हैं और मरते हैं। | ४०. जरा और मृत्यु शरीर का धर्म है, आत्मा का नहीं। |

समाज

- | | |
|--|---|
| १. व्यक्ति परिस्थिति का निर्माण करता है अथवा परिस्थिति व्यक्ति का निर्माण करती है। | १. व्यक्ति और परिस्थिति एक दूसरे का निर्माण करते हैं। |
| २. परिस्थिति ठीक हो तो व्यक्ति अपने आप सुधर जाएगा अथवा व्यक्ति ठीक हो तो संस्थाएं अपने-आप सुधर जायेगी। | २. व्यक्ति के लिए साधना में से गुजरना और संस्थाओं के लिए ठीक व्यवस्था का निर्माण—दोनों आवश्यक हैं। |
| ३. एक आदर्श समाज की व्यवस्था होनी चाहिए। | ३. समाज व्यवस्था कितनी भी आदर्श हो, उसमें देश व काल के अनुसार परिवर्तन अपेक्षित रहता है। |
| ४. जैन परम्परा में सामाजिक व आर्थिक तन्त्र का चिन्तन नहीं है। | ४. प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव ने राजपद पर रहते समय असि, मसि और कृषि की व्यवस्था द्वारा सामाजिक तथा आर्थिक तन्त्र की चिन्ता की थी। |
| ५. पूंजीवादी व्यवस्था में पूर्ण स्वतन्त्रता है। | ५. इच्छा पर अंकुश लगाए बिना स्वतन्त्रता स्वच्छता बन जाती है। |
| ६. सब कार्य पैसे से सिद्ध हो जाते हैं। | ६. पैसा यदि साधन न रहकर साध्य बन जाए तो वह मनुष्य को दीन-हीन बना देता है। |
| ७. पैसे पर यदि राज्य का अधिकार होगा तो शोषण नहीं होगा। | ७. राज्य सत्ता भी अत्याचार कर सकती है। |

८. वर्णाश्रम व्यवस्था सर्वोत्तम है।
९. उत्पादन का प्रयोजन लाभ कमाना है।
१०. शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को नौकरी दिलाना है।
११. अभाव पीड़ा का कारण है।
१२. अभाव दुःख का कारण है।
१३. परिग्रह जितना अधिक हो, उतना अच्छा।
१४. समाजवादी व्यवस्था सर्वोपकारी है।
१५. विकास का अर्थ है—पूरे विश्व में उत्पन्न होने वाले उत्तम पदार्थों का संग्रह और भोग।
१६. परिग्रह सम्मान का कारण है।
१७. सभी स्वार्थी हैं।
१८. अधिक लोगों के सुख के लिए थोड़ों का सुख छोड़ा जा सकता है।
१९. भोग की अधिक से अधिक सामग्री बाजार में लानी चाहिए।
२०. धन ही सब कुछ है।
२१. विकास के लिए केन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था आवश्यक है।
८. वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत ऊँच-नीच के भेदभाव ने मनुष्य को अपमानित किया है।
९. उत्पादन मनुष्य के हित को केन्द्र में रखकर होना चाहिए।
१०. शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को सुसंस्कृत बनाना है।
११. केवल अभाव ही नहीं, अक्षमता भी पीड़ा का कारण है।
१२. अभाव ही नहीं, अतिभाव भी दुःख का कारण है।
१३. परिग्रह व त्याग के बीच सन्तुलन होना चाहिए।
१४. समाजवादी राष्ट्र भी घातक शस्त्रों की होड़ में किसी से पीछे नहीं रहे।
१५. स्वदेशी और स्वावलम्बन राष्ट्रीय स्तर पर शोषण को रोकने का उपाय है।
१६. सम्मान का कारण है—चरित्र।
१७. बृहत्तर स्वार्थ ही सच्चा स्वार्थ है। बृहत्तर स्वार्थ का अर्थ है—ऐसा स्वार्थ जो परार्थ का विरोधी नहीं है।
१८. सभी समान हैं। किसी का सुख किसी दूसरे के सुख के लिए छीना नहीं जा सकता।
१९. वरीयता मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताओं को देनी चाहिए।
२०. ज्ञान, आत्म-सम्मान और सेवा का भी महत्त्व है।
२१. कर्मचारियों के संतोष के लिए विकेन्द्रीकरण आवश्यक है।

संयम

१. सैक्स का संयम हानिकारक है। १. अनियन्त्रित सैक्स न केवल शारीरिक रोग लाता है अपितु मानसिक विक्षिप्तता भी लाता है।
२. सैक्स का नियन्त्रण संभव नहीं है। २. सैक्स के नियन्त्रण की एक विधि है, जिसे जान लेने पर सैक्स का नियन्त्रण संभव है।
३. भोग सुख देता है। ३. भोग ऊर्जा का व्यय करता है।
४. ब्रह्मचर्य का जीवन दुःखपूर्ण है। ४. अब्रह्म का सेवन हमारा सन्तुलन बिगाड़ता है।
५. वीतरागता विरसता लाती है। ५. आसक्ति भोगों में भी बाधक है।
६. इच्छा की पूर्ति में सुख है। ६. इच्छा में विवेक करना आवश्यक है।
७. दमन अहितकर है। ७. भोग हमारे मनोबल को क्षीण करता है।
८. भोजन शक्ति बढ़ाता है। ८. अतिभोजन रोग का घर है।
९. तप कष्टकर है। ९. विलासिता दुर्बल बनाती है।
१०. इन्द्रियों सुख का साधन है। १०. वास्तविक सुख अतीन्द्रिय है।
११. यौवन का अर्थ है—शक्ति। ११. यौवन का अर्थ है—शरीर का लचीलापन और बुद्धि की ग्रहणशीलता।

पर्यावरण

१. जड़ और चेतन का परस्पर कोई संबंध नहीं। १. मुक्त-चेतना को छोड़कर शेष सभी स्थितियों में जड़ और चेतन एक दूसरे को प्रभावित कर रहे हैं।
२. प्रकृति हमारी भोग्या है। २. अस्तित्व में प्रकृति, वनस्पति और पशु का भी उसी प्रकार महत्व है जिस प्रकार हमारा।
३. पर्यावरण को हम शुद्ध कर सकते हैं। ३. पर्यावरण की शुद्धि की प्रक्रिया प्रकृति में स्वतः चलती है। हम उसमें हस्तक्षेप करते हैं तो वह व्यवस्था गड़बड़ा जाती है।

४. हम प्रकृति का संचालन करते हैं। ४. प्रकृति में हम कुछ भी नया नहीं बना सकते। प्रकृति जो कुछ देती है, हम केवल उसका उपयोग कर सकते हैं।
५. उद्योगों को बढ़ावा देकर हम विकास करते हैं। ५. उद्योगों से होने वाला प्रदूषण प्राकृतिक सम्पदा की दृष्टि से हमें दरिद्र बनाता है।
६. केन्द्रीकृत अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत बड़े उद्योगों से पैदा होने वाला माल सस्ता और सुलभ होता है। ६. केन्द्रीकृत व्यवस्था के अन्तर्गत श्रमिक मनुष्य नहीं रहकर यन्त्र बन जाता है।
७. हस्तशिल्प का काम भौंडा होता है। ७. हस्तशिल्प में सौन्दर्य है।
८. मूलभूत आवश्यकताएं निश्चित हैं। ८. मूलभूत आवश्यकताओं की सूची सापेक्ष है। किसी के लिए टेलीविजन मूल आवश्यकता है, किसी के लिए वह शान्ति में बाधक है।
९. धन साध्य है, उसे कमाने के लिए कोई भी उपाय बरता जा सकता है। ९. प्रकृति के शोषण से एक बार धन भले ही मिल जाए लेकिन लम्बे समय में हम उन मूलभूत साधनों से ही वंचित हो जाते हैं जिनके आधार पर उद्योग-धन्धे चलते हैं।

अहिंसा

१. मित्र के प्रति मैत्री का नियम उचित है। १. अहिंसा बेशर्त होती है।
२. जीवन के अस्तित्व के लिए की गई हिंसा हिंसा नहीं है। २. हिंसा हर हालत में हिंसा ही है।
३. हिंसा का कारण क्रूरता है। ३. तनाव के कारण भी व्यक्ति हिंसक हो जाता है।
४. सत्य के प्रति तो आग्रह होना ही चाहिए। ४. किसी भी प्रकार का आग्रह हिंसा का हेतु है।
५. सुरक्षा के लिए हिंसा उचित है। ५. अहिंसा की पहली शर्त है—अभय।
६. अहिंसा अव्यवहारिक है। ६. व्यवहार के लिए भी एक सीमा तक अहिंसा आवश्यक है।

७. हम सब अलग-अलग हैं।
८. सुविधा उपलब्ध हो तो हिंसा नहीं होती।
९. अहिंसा निर्बलों के लिए है।
१०. अहिंसा के लिए इच्छाओं का दमन करना पड़ता है।
११. अहिंसा के लिए सुख छोड़ना आवश्यक नहीं।
१२. अहिंसा का फल परोक्ष है।
१३. अहिंसा यथास्थितिवाद की समर्थक है।
७. भेद में छिपे अभेद को जानना आवश्यक है।
८. हिंसा की जड़ में भोग की इच्छा मुख्य है।
९. अहिंसा का पालन केवल समर्थ कर सकते हैं।
१०. अहिंसा के लिए इच्छाओं का परिसीमन /परिष्कार करना होता है।
११. परिग्रही व्यक्ति अहिंसक नहीं हो सकता।
१२. अहिंसा का फल पर्यावरण की सुरक्षा जैसे सन्दर्भों में प्रत्यक्ष है।
१३. अहिंसा जीवन में आमूलचूल परिवर्तन माँगती है।

विज्ञान

१. देश और काल की सत्ता पृथक्-पृथक् है।
२. काल सर्वत्र एक जैसा है।
३. पदार्थ की लम्बाई, चौड़ाई सब स्थितियों में एक ही रहती है।
४. हमें पदार्थ के स्वरूप को तर्क के अनुसार ढालना चाहिए।
५. पदार्थ का द्रव्यमान सदा एक रहता है।
६. काल की दृष्टि से जो एक के लिए पूर्व (पहले) है वह सबके लिए पूर्व है।
७. दो परस्पर विरोधी तथ्यों में एक ही सत्य हो सकता है।
१. देश और काल दोनों मिलकर एक युति बनाते हैं।
२. काल की लम्बाई गति-सापेक्ष है।
३. पदार्थ की लम्बाई, चौड़ाई पदार्थ की गति के साथ बदल जाती है।
४. हमें अपने तर्क को पदार्थ के स्वरूपानुसार ढालना चाहिए।
५. पदार्थ का द्रव्यमान गति के साथ बढ़ता है।
६. काल की दृष्टि से जो एक के लिए पूर्व है वह दूसरों के लिए युगपत् है।
७. स्थूल स्तर पर न्यूटन के सिद्धान्त सत्य है और सूक्ष्म स्तर पर आइंस्टीन के सिद्धान्त सत्य है, यद्यपि वे दोनों परस्पर विरोधी हैं।

८. सत्य द्वंद्वात्मक है।
६. एक वक्तव्य या तो सत्य होता है या असत्य।
८. एक द्वंद्वातीत सत्य भी है।
६. कोई भी वक्तव्य सम्यक् परिप्रेक्ष्य में सत्य होता है और मिथ्या परिप्रेक्ष्य में असत्य।

शिक्षा

१. वर्तमान शिक्षा सर्वोत्तम है।
२. अध्ययन द्वारा व्यक्तित्व का निर्माण किया जा सकता है।
३. शिक्षा की सार्थकता इसमें है कि आजीविका जुटा दे।
४. ध्यान उनके लिए है जो मुमुक्षु हैं।
५. वीतरागता अध्यात्म का मार्ग है।
६. सङ्कल्प करने से सफलता मिल जायेगी।
७. रोग की जड़ शरीर में है।
८. प्रवृत्ति और निवृत्ति में विरोध है।
१. वर्तमान शिक्षा से बौद्धिक विकास अवश्य होता है किन्तु भावनाएं परिष्कृत नहीं होतीं।
२. व्यक्तित्व के निर्माण के लिए कुछ प्रयोगों का अभ्यास करना भी आवश्यक है। ये प्रयोग ही योग कहलाते हैं।
३. शिक्षा को एक ऐसा लक्ष्य भी प्रदान करना होता है जिसके प्रति विद्यार्थी अपने आप को समर्पित कर सके।
४. ध्यान लौकिक सफलता के लिए भी महत्त्वपूर्ण है।
५. तटस्थ भाव के बिना हम लौकिक समस्याओं का भी ठीक समाधान नहीं खोज पाते।
६. सङ्कल्प से सफलता तभी मिलती है जब वह सङ्कल्प गहराई में उस अवचेतन मन तक पहुंचा हुआ हो जिस अवचेतन मन तक वह आदत पहुंची हुई है जिसे हम बदलना चाहते हैं।
७. रोग की जड़ मनोभावों में है।
८. कोरी प्रवृत्ति विक्षिप्तता उत्पन्न करती है। कोरी निवृत्ति निकम्मापन लाती है। दोनों में सामज्जर्ज्य चाहिए।

६. अनुकूल निमित्त सफलता दिलाते हैं।
७. निमित्तों से मिलने वाली सफलता स्थायी नहीं है। स्थायी सफलता उपादान पर टिकी है।
८. भोग हमें पुष्ट करते हैं।
९. भोग हमारी प्राण शक्ति का हास करते हैं।
१०. यौन की स्वच्छन्दता विक्षेप का कारण है।
११. सहिष्णुता आवश्यक है।
१२. तप शरीर के परमाणुओं को चुम्बकीय क्षेत्र में बदल देता है जिससे शरीर पारदर्शी बन जाता है और चेतना बाहर झाँक सकती है।
१३. तप व्यर्थ है।
१४. हमारे अस्तित्व में मन, बुद्धि, प्राण आदि अनेक अंश सूक्ष्म हैं किंतु परोक्ष नहीं।
१५. सृष्टि जड़ से बनी है।
१६. सृष्टि का निर्माण प्राणियों के भीतर बैठी चेतना कर रही है।

उपर्युक्त विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा प्रचलित अवधारणाओं के स्थान पर दी गई अवधारणाओं की एक सूची बानगी के रूप में दी गई है। इस सूची का संबंध व्यवहार सम्बन्धी प्रथम खण्ड से है। जहाँ तक परमार्थ का संबंध है, इस ग्रंथ के परमार्थ खण्ड में दिए गए सभी सूत्र कोई न कोई अभिनव अवधारणा लिए हुए हैं। अतः इन्हें यहाँ पृथक् रूप में नहीं दिया जा रहा है।

उपर्युक्त अवधारणाओं की सूची और परमार्थ खण्ड में दिये गये सूत्रों के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य महाप्रज्ञ के चिन्तन का पटल कितना व्यापक है और उनके द्वारा प्रदत्त अवधारणाएँ कितनी मौलिक हैं। इसी व्यापक पटल पर उनकी अवधारणाओं की मौलिकता को उकेरने का एक प्रारम्भिक एवं विनम्र प्रयास आगे के पृष्ठों में है।

भावभूमि

पाँच हजार वर्ष पुरानी कहानी है। एक यक्ष ने पाँच पाण्डवों में से भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव इन चारों को पकड़ कर मार दिया। इनका कसूर यह था कि यक्ष ने कहा था कि इस झरने से पीने के लिए पानी लेने से पहले वे उसके प्रश्नों का उत्तर दें। चारों में से किसी ने भी यक्ष की परवाह नहीं की और उसके प्रश्नों का उत्तर दिये बिना ही झरने से पानी लेना चाहा। चारों धराशायी हो गये। अन्त में युधिष्ठिर वहाँ पहुंचे। यक्ष ने कहा कि पानी लेने से पूर्व आप मेरे प्रश्नों का उत्तर दे दें। युधिष्ठिर ने कहा कि प्रश्न पूछो। यक्ष ने पूछा कि संसार में सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है? युधिष्ठिर ने कहा कि प्रतिक्षण प्राणी हमारे सामने रात-दिन मरते दिख रहे हैं। फिर भी हम यही मान बैठे हैं कि हम कभी नहीं मरेंगे—भला इससे बढ़कर और क्या आश्चर्य हो सकता है—किम् आश्चर्यम् अतः परम् ?

दृष्टि का भ्रम

संसार में, अस्तित्व में, जो कुछ जैसा है, वह हमारे सामने है फिर भी कई बार हम उसे मानने को तैयार नहीं होते हैं। हम सब जानते हैं कि पृथ्वी थाली की भाँति चपटी नहीं है अपितु गेंद की अथवा नारंगी की भाँति गोल है, तथापि बारम्बार हमारी यही धारणा बनती रहती है कि पृथ्वी चपटी है। हम ऐसा इसलिए मानते हैं कि जैसा दिखाई देता है उसके अतिरिक्त भी सत्य है—यह हम नहीं जानते/मानते। हम कभी-कभी जो है उसे जानते ही नहीं हैं। कभी-कभी जान लेने पर भी उसे मानते नहीं हैं क्योंकि हमारी पूर्व धारणाएं इतनी बद्धमूल होती हैं कि उन धारणाओं के विरुद्ध यदि कोई जानकारी हमें मिल जाए तो वह जानकारी हमारे चिन्तन के ऊपरी स्तर पर ही बनी रह जाती है, उस गहराई पर नहीं पहुँच पाती जिस गहराई पर हमारी पूर्व धारणाएँ जड़ जमाए बैठी होती हैं। हम जानते हैं कि यह शरीर एक दिन हमसे छूट जाएगा

पर इसे मानने को तैयार नहीं हैं। यह मिथ्या दृष्टि हुई। कभी-कभी हमें यह पता ही नहीं होता कि सच्चाई क्या है। उदाहरणतः हमें यह पता ही नहीं है कि हमारे शरीर की प्रत्येक कोशिका (सेल) में प्रति सेकेन्ड ६ ट्रिलयन (६०००,०००,०००,०००) प्रतिक्रियाएं हो रही हैं। हम यही समझते हैं कि हमारा शरीर कुछ स्थिर — न बदलने वाले—घटकों की समष्टि है। यह अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान हुआ। सच्चाई यह है कि एक मास में हमारे शरीर की पूरी चमड़ी बदल जाती है। पाँच दिन में उदर की चारदीवारी बदल जाती है, छह सप्ताह में लीवर बदल जाता है तथा तीन महीनों में पूरा अस्थिपञ्जर बदल जाता है। एक वर्ष पूरा होते न होते हमारे शरीर का ६८ प्रतिशत भाग पूरी तरह बदल चुका होता है, पर हम जन्मदिन के अवसर पर यही समझते हैं कि हमारा शरीर २ प्रतिशत भले ही बदल गया हो ६८ प्रतिशत तो वही है जो पिछले जन्मदिन पर था अर्थात् जो है, हम ठीक उसका उल्टा मानते हैं। जब ज्ञान ही मिथ्या है तो दृष्टि सम्यग् होगी ही कैसे ?

तीन रत्न

हम जानते भी हैं और मानते भी हैं कि भूख से ज्यादा खा लेना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है फिर भी अपने मन पसंद का भोजन सामने हो और परोसने वाला मनुहार कर रहा हो तो ज्यादा खा ही लेते हैं और फिर रात भर खट्टी-मीठी डकारें लेते हुए अनिद्रा से पीड़ित होकर करवटें बदला करते हैं—यह आचरण की विपरीतता है। ज्ञान भी सम्यक्, मान्यता भी सम्यक् पर आचरण मिथ्या।

जिसे हम ठीक से जानते हैं उसे मानें भी। यह सम्यक् दर्शन हुआ। जिसे हम ठीक नहीं जानते उसे ठीक से जानने का पुरुषार्थ करें—यह सम्यग् ज्ञान की आराधना हुई, और जब किसी चीज को ठीक जान-मान लिया तो फिर आचरण उस सम्यक् ज्ञान और सम्यक् श्रद्धा के अनुरूप हो, यह सम्यक् चरित्र हुआ। यह नहीं हो कि दुर्योधन की तरह अपनी विवशता प्रकट करते हुए कह दें कि हम जानते हैं कि ठीक क्या है फिर भी उसे कर नहीं सकते और हम जानते हैं कि गलत क्या है फिर भी उसे कर ही डालते हैं—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः

जानाम्य अधर्मं न च मे निवृत्तिः

दुर्योधन ने अपने मिथ्या आचरण का सारा बोझ किसी देव पर डाल दिया था कि “मेरे हृदय में एक देव बैठा है, वह जैसा करवाता है मैं वैसा कर देता हूं”—

**केनापि देवेन हृदि स्थितेन
यथा नियक्तोऽस्मि तथा करोमि**

देव तो हमारे हृदय में बैठा है या नहीं, यह संरकार अवश्य बैठा है कि गलत काम करे बिना जिन्दगी का मजा नहीं आ सकता। बिना झूठ बोले काम नहीं चलता—यह हम मान ही बैठे हैं। मिथ्या को अपरिहार्य/अनिवार्य उपयोगी मान बैठने वाला सम्यक्त्व की आराधना कैसे करेगा? असली मूर्ख वह नहीं है जिसे मार्ग का पता नहीं है, असली मूर्ख वह है जो मानता है कि ठीक जगह पहुंचने के लिए गलत रास्ते पर चलना जरूरी है। बात सीधी-सादी है—सम्यग्‌दृष्टि, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र की त्रिपुटी को अपनाये बिना जीवन की कृतकृत्यता तीन काल में भी सम्भव नहीं है।

मोक्ष : हमारे जीवन का सहज लक्ष्य

कुछ लोग कहते हैं—हमें मोक्ष नहीं चाहिए। वे मोक्ष का गलत अर्थ लगा बैठे हैं। मोक्ष कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जो कहीं लोकाकाश के अन्त में किसी शिला पर रखा हो। यदि ऐसा होता तब तो यह कहा जा सकता था कि हमें मोक्ष नहीं चाहिए। हम सिद्धशिला पर जायेंगे तो मोक्ष मिलेगा और हमें सिद्धशिला पर नहीं जाना। मोक्ष हमसे बाहर कहीं नहीं है, वह हमारा स्वभाव है। हम अपने स्वभाव से छुटकारा नहीं पा सकते अतः मोक्ष हमारे चाहने की चीज नहीं है, वह हमारे शुद्ध अस्तित्व का नाम है। हम चाहें भी तो अपने अस्तित्व को मिटा नहीं सकते, अपने अस्तित्व से छुटकारा नहीं पा सकते। हमारे अस्तित्व का क्या रूप है, यह विवाद मतभेद का विषय हो सकता है किंतु यह कहना कि मुझे अपना अस्तित्व नहीं चाहिए, निरा अज्ञान है, हम असंभव की इच्छा नहीं कर सकते।

हम कुछ भी चाहें, पहले अपने को शुद्ध कर लें। अशुद्ध व्यक्ति की कामना भी अशुद्ध ही हो जाती है। अशुद्ध कामना का फल भी अशुद्ध ही होगा। उदाहरण के लिए क्रोध, मान, माया और लोभ अध्यात्म के विषय माने जाते हैं। सामान्यतः व्यावहारिक क्षेत्र में इन कषायों से हो सकने वाली विसंगतियों पर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। जबकि सच्चाई यह है कि इन कषायों के साथ जीते हुए हमारा सामान्य सामाजिक जीवन भी चल ही नहीं सकता।

क्रोधी व्यक्ति की कामना यही होगी कि उसके सभी विरोधी नष्ट हो जायें। क्रोध क्रोध को उपजाता है। उसके विरोधी भी यही चाहेंगे कि वह व्यक्ति नष्ट हो जाये। अब यदि दोनों की कामनाएं फलित हों तो सुन्द-उपसुन्द न्याय से दोनों ही नष्ट हो जायेंगे।

- अभिमानी व्यक्ति की कामना होगी कि बाकी सब लोग उसके समक्ष झुकें। मान मान को उपजाता है। दूसरे लोग भी परस्पर यही चाहेंगे कि सब लोग उनके समक्ष झुकें। तो मान के कारण कोई किसी के समक्ष नहीं झुकेगा। एक-दूसरे को झुकाने के लिए संघर्ष की स्थिति बनेगी, और सब परस्पर मरने-मारने पर उतारू हो जायेंगे।
- मायावी व्यक्ति सबको ठगना चाहेगा। माया से माया उपजती है। सभी मायावी बनें, तो फिर परस्पर ठगना प्रारम्भ कर देंगे। सभी ठगेंगे और सभी ठगाये भी जायेंगे। जीवन का सामान्य व्यवहार, जो परस्पर विश्वास के आधार पर ही चल सकता है, ठप्प हो जायेगा।
- लोभी व्यक्ति चाहेगा कि बाकी सबकी सम्पत्ति उसके पास आ जाये। लोभ से लोभ पनपता है। सब लोभी हो जायें तो सभी एक दूसरे की सम्पत्ति हड्डपना चाहेंगे। सम्पत्ति किसके पास जायेये? उभयतोपाश न्याय से सम्पत्ति का भोग कोई भी नहीं कर पायेगा अथवा दुनिया में मात्स्यन्याय ही चलेगा, सभ्यता पुनः अपनी प्रारम्भिक स्थिति में चली जाएगी।

अध्यात्म के बिना खोखली है समाज सेवा

क्रोध, लोभ, मान, माया से युक्त व्यक्ति की सब कामनाएं आत्मधाती सिद्ध होती हैं। आप मोक्ष मत चाहें, लेकिन क्रोध, मान, माया और लोभ से तो मुक्त हों। आप चाहते हैं कि आप अपना ही सुख न चाहकर सबका सुख चाहें। आप कहते हैं कि न मुझे राज्य चाहिए, न स्वर्ग, न मोक्ष, मुझे तो प्राणी मात्र को दुःख से छुटकारा दिलाने की तमन्ना है—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनाम् अर्तिनाशनम् ।

यह बहुत अच्छी कामना है। किंतु क्या क्रोध, लोभ, मान और माया से युक्त व्यक्ति की कामना कभी शुद्ध हो सकती है? “सर्वे भवन्तु सुखिनः” की कामना करने में कोई कठिनाई नहीं है किंतु क्या क्रोधी, लोभी, अभिमानी और मायावी किसी को सुख दे सकता है? क्रोध, मान, माया और लोभ से पहले अपना छुटकारा कर लें—यह जरूरी है, भले ही मोक्ष की कामना न करें। जहां तक हमारा सवाल है, हम तो कषाय मुक्ति को ही मुक्ति मानते हैं—**कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव।** क्रोध, मान, माया और लोभ का ही नाम कषाय है। कषाय से छुटकारा न मिले तो दूसरे का भला करने की कामना ऐसी ही है जैसे कोई अपने हाथ में कीचड़ लपेट कर उसी हाथ से दूसरे के कपड़ों पर पड़ी धूल झाड़ना चाहे।

सत्य का आवरण है कषाय

कषाय एक रंग है। हमारी आत्मा का कोई रंग नहीं है। आत्मा अर्थात् स्वभाव पर जो भी रंग चढ़ा है वह बाहर से आया है—आगन्तुक है। उस आगन्तुक रंग ने आत्मा को कषायित किया है—रंग दिया है। उस रंग के कारण ही न हम सत्य को जान पाते हैं, न मान पाते हैं। जाने और माने बिना सत्य को आचरण में उतारने का तो प्रश्न ही कहां है। कषाय-वश हमें जो है वह तो दिखायी देता नहीं, दिखायी कुछ और ही देता है।

जो है उसे छिपा ले—वह आवरण है, जो नहीं है उसे दिखा दे—वह विक्षेप है। आवरण और विक्षेप का ही नाम वेदान्त में माया है और जैन परम्परा में मिथ्यात्व है। मान्यता को उलट दे वह दर्शनमोहनीय, ज्ञान को छिपा ले वह ज्ञानावरणीय, चरित्र को विपर्यस्त कर दे सो चरित्र-मोहनीय। ये तो विद्वानों के दिये हुए नाम हैं। नाम कभी-कभी बहुत डरा देते हैं। शब्द कभी-कभी सत्य को प्रकट नहीं करते बल्कि सत्य को छिपा लेते हैं। सिद्ध पुरुषों ने तो कह दिया कि आत्मा को शब्दों में नहीं बांधा जा सकता पर आत्मा के स्वरूप को बतलाने के लिए दार्शनिकों ने ऐसा शब्द-जाल फैलाया कि आत्मा शब्द तो सबकी जबान पर चढ़ गया पर जैसे ही हम यह जानना चाहें कि आत्मा है क्या; वैसे ही विभिन्न दार्शनिकों के बीच ऐसा दंगल मचता है कि उसके आगे ओलम्पिक की प्रतियोगिताएं भी फीकी पड़ जाती हैं। आत्मा को जानना हो तो शब्दों से नहीं जाना जा सकेगा। उसके लिए साधना से गुजरना पड़ेगा। तब ही हम कबीर की वाणी में अपनी वाणी मिला कर कह सकेंगे—

तू कहता कागद की लेखी
मैं कहता आंखन की देखी।

आत्मज्ञान कोई भूलभुलैया नहीं है

अपने को जानना होगा। अगर जानने वाले को ही न जाना तो दूसरों के जानने की इच्छा करने का अर्थ एक बुझे हुए दीपक से घट-पट आदि पदार्थों के प्रकाशित हो जाने की आशा करना होगा। दीपक अपने को प्रकाशित कर दे तो फिर सबको प्रकाशित कर सकता है, वह स्व-प्रकाशक होकर ही पर-प्रकाशक हो सकता है। हम अपने को जानते नहीं और दूसरों को जानते हैं तो हमारा दूसरों को जानना भी मिथ्या ही है। अपने को नहीं जाना—यह दृष्टि का मिथ्या होना हुआ। जो मिथ्यादृष्टि है उसका सब ज्ञान मिथ्या है।

कहा जाता है कि यह आत्मज्ञान का चक्कर भारतीय दर्शन को रहस्यवादी बना देता है—बुद्धि से परे की चीज बना देता है। न नौ मन तेल

इकट्ठा होगा, न राधा नाचेगी। न हम कभी आत्मा को जान पायेंगे, न कभी हमें सम्यग् ज्ञान होगा। समझा जाता है कि आत्मज्ञान तो कुछ गिने-चुने बिरले योगियों को ही होता है। तिस पर भी तुक्का यह है कि आत्मा के स्वरूप के बारे में मतभेदों का अंत नहीं है। वेदान्त के लिए आत्मा एक ही है और सर्वव्यापक है। सांख्य के लिए आत्मा एक तो नहीं है पर सर्वव्यापक है। बौद्ध कहता है कि आत्मा नाम की चीज है ही नहीं, हालांकि पुनर्जन्म और कर्मफल है। इस भूल-भुलैया में दार्शनिकों को रस आ सकता है, लेकिन सामान्य व्यक्ति तो यह सब सुनकर तौबा कर लेता है कि अपने को इस चक्कर में नहीं पड़ा, ईमानदारी से परिश्रमपूर्वक अपनी आजीविका चलाकर दो जून रोटी खा लेनी है। आत्म-स्वरूप का निर्णय करना उन निःलोकों के लिए है जिन्हें बिना कुछ करे-धरे रोटी मिल जाती है !! अपन ठहरे दुनियादार आदमी ! बाल-बच्चों का पेट भरना है। इस चक्कर में पड़े तो दुनिया के काम के नहीं रहेंगे।

बैईमानी के बिना काम नहीं चलता—यह पहला भ्रम है और आत्मा-परमात्मा के चक्कर में पड़ गये तो दुनिया के काम के नहीं रहेंगे—यह दूसरा भ्रम है। यह भ्रम सर्वथा निराधार नहीं है। जिन्होंने दर्शन को बुद्धि-विलास बना दिया है उन्होंने दर्शन को सचमुच ऐसा बना दिया कि दार्शनिक आधा पागल लगता है और दीवार पर गोबर के उपले थापे हुए देखकर यह सोचा करता है कि दीवार पर इतनी ऊँची चढ़कर गाय ने गोबर कैसे कर दिया। उसके ध्यान में यह सीधी-सी बात नहीं आती कि किसी व्यक्ति ने गाय के गोबर को जमीन से उठाकर दीवार पर चिपका दिया होगा।

आत्मा-परमात्मा का चक्कर कई बार सचमुच आदमी को पागल बना देता है। आत्मा शब्दों से परे है। तर्क से परे है, वहां तक बुद्धि नहीं जा सकती। उसका न नाम है, न रूप। उसमें न गंध है, न रस, न स्पर्श। ऐसे-ऐसे वक्तव्य पढ़कर आदमी अन्धी गलियों में भटकने के अतिरिक्त क्या कर सकता है।

सत्य यह है कि आत्मा कोई परीलोक की चीज नहीं है। मैं स्वयं आत्मा हूं। घबराने की बात नहीं है। मेरा नाम भी है और रूप भी है। मुझे जाना जा सकता है। यह सच है कि मेरे अस्तित्व के हर कण में आत्मा है, मेरी हर क्रिया में आत्मा का योगदान है। अपने अस्तित्व में, अपनी क्रिया में आत्मा को देखा जा सकता है। आत्मा का हम कोई संकीर्ण अर्थ न करें। शरीर अत्यन्त स्थूल है, किंतु प्रारम्भिक रिथ्ति में हम शरीर को ही आत्मा मानकर चल सकते हैं। शरीर को समझना भी कोई साधारण बात नहीं है। जिसने शरीर को समझा, उसने अपने अस्तित्व को समझने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी। प्रारम्भ स्थूल से हुआ, किंतु यह स्थूल से प्रारम्भ हुई यात्रा ही मन-बुद्धि से होती हुई उस

सूक्ष्मतम् स्तर तक पहुँच जायेगी—जिसे दार्शनिक आत्मा कहते हैं। आत्म-ज्ञान की यात्रा सामान्यतः एक छलांग नहीं है, अपितु स्थूल से क्रमशः सूक्ष्म की ओर प्रयाण है।

स्वयं को जाने बिना सब व्यर्थ है

प्रश्न होता है कि आत्मा को जानने की आवश्यकता क्या है? प्रथम उत्तर तो यह है कि यदि आत्मा है अर्थात् मैं हूँ तो यह प्रश्न गलत है कि उसे क्यों जानूँ। जो है उसे जानना ज्ञान है, न जानना अज्ञान है। मैं अज्ञान से ज्ञान की ओर क्यों जाऊँ यह प्रश्न ऐसा ही है कि कोई पूछे कि मैं श्वास क्यों लूँ? सत्य का अपना मूल्य है। ज्ञान अपने में कीमती है। अज्ञान खुद में हेय है। फिर भी यदि कोई ज्ञान का प्रयोजन जानना ही चाहे तो ज्ञान का प्रयोजन है—जीवन की सार्थकता। ज्ञान के बिना किसी भी कार्य में सफलता नहीं मिलती। वाणिज्य के सिद्धान्तों को जाने बिना व्यापारी असफल हो जाता है। शस्त्र-ज्ञान के बिना योद्धा पराजित हो जाता है, विज्ञान के ज्ञान के बिना प्रयोगशाला में कोई प्रयोग सफल नहीं हो सकता। अतः ज्ञान का महत्त्व तो स्वतः सिद्ध है। प्रश्न है आत्म-ज्ञान के महत्त्व का। आत्म-ज्ञान का प्रयोजन है—शांति। सामान्यतया हम समझते हैं कि हमारे जीवन का अंतिम लक्ष्य सुख की प्राप्ति है। किंतु यदि मन शान्त न हो तो सुख मृग-मरीचिका ही बना रहता है—“अशान्तस्य कुतः सुखम्” ? किसी ने भरी सभा में हमारा अपमान किया—हमारा मन अशान्त हो गया। घर आने पर हमारे सम्मुख भोजन के समय नानाविध व्यंजन परोसे गए। हमारा मन सभा में हुए अपमान के कारण अशान्त है, तो सामने थाली में रखे स्वादिष्ट व्यंजन भी हमें सुख नहीं दे सकते। इसके विपरीत यदि सभा में हमारी प्रशंसा हुई—तो हमारा मन प्रफुल्लित हो जायेगा। उस स्थिति में सामान्य भोजन भी सुखदायी होगा। किंतु वस्तुतः यह भी शान्ति की अवस्था नहीं है। वार्तविक शान्ति वह है—जो निंदा या प्रशंसा से भंग नहीं होती। ऐसी स्थिति पाने वाला स्थितप्रज्ञ ही सदा सुखी रह सकता है। इतना स्पष्ट है कि शान्ति हमारे बाहर नहीं है। अतः ऐसी शान्ति प्राप्त करनी हो तो अंदर झांकना होगा। हमारी इन्द्रियाँ सदा बाहर देखती हैं, इसलिए आत्मा इन्द्रियों का विषय नहीं बन पाती। एक ऐसी चेतना भी है जो इन्द्रियातीत है। इन्द्रियातीत चेतना कहो या अन्तर् आत्मा कहो—एक ही बात है। आत्मदर्शन का यही एकमात्र उपाय है।

प्रारम्भ करें शरीर से

पर हम अन्दर झांकने की जल्दी न करें। हमें अंदर झांकने का अभ्यास नहीं है। अभी अन्दर झांकेंगे तो अतिरिक्त अंधेरे के और कुछ न दिखेगा। अतः

प्रारम्भ बाहर से ही करें। आत्मा का शब्दार्थ है—स्व। स्व का सबसे स्थूल दृश्यमान रूप है—शरीर। हम स्व को जानने के लिए शरीर से प्रारम्भ करें। शरीर का विषय रहस्यवादी नहीं है। विज्ञान ने शरीर के बारे में ढेरों जानकारी इकट्ठी कर ली है। चिकित्साशास्त्रियों ने लाखों प्रयोग करके शरीर की एक-एक गुण्ठी को सुलझाया है। यह बात दूसरी है कि शरीर की पूरी गुण्ठी अभी भी सुलझी नहीं है, पर बहुत सारे तथ्य हमारे सामने आ चुके हैं। शरीर का एक दूसरा पक्ष भी है। हम शरीर को जैसा देखते हैं—वह विज्ञान का विषय है। हम शरीर को जैसा अनुभव करते हैं—वह अध्यात्म का विषय है। विज्ञान यांत्रों से देखता है, अध्यात्म चित्त की एकाग्रता से अनुभव करता है। परीक्षण और अनुभव का सामंजस्य पूर्ण सत्य को प्रकट कर देता है। विज्ञान देखता है, लेकिन उसे सुख-दुःख कहीं दिखाई नहीं देते, वेदना को हम केवल अनुभव से जान सकते हैं, प्रयोगशाला में वह दिखाई नहीं देती।

शरीर के बारे में विज्ञान क्या बताता है हम उसे जानें और चित्त को एकाग्र कर शरीर को देखें भी, शरीर का अनुभव भी करें। यह सारा व्यायाम सत्य को जानने के लिए है। इसका बहुत बड़ा लाभ है। शरीर को जानकर हम शरीर को स्वरथ, सुन्दर, निरोग, चुस्त तथा कार्यक्षम बना सकते हैं। हम जैसे-जैसे शरीर को जानेंगे हमें पता लगेगा कि अपने शरीर को हमने ही बनाया है किसी और ने नहीं और हम ही इसे आज भी बना रहे हैं। हम इसे जैसा चाहे बना सकते हैं। कहते हैं मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है और यह भी कहा जाता है कि पहला सुख निरोगी काया है तो देखना है कि क्या अपने शरीर को रोगी या निरोगी हम स्वयं बनाते हैं या कोई और। आधुनिक विज्ञान का उत्तर है कि अपने शरीर को रोगी भी हम स्वयं बनाते हैं और स्वरथ भी हम स्वयं बनाते हैं। अध्यात्म तो पहले से ही यह कह रहा है कि अपने सुख-दुःख के लिए हम स्वयं जिम्मेदार हैं—अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य। शरीर के संबंध में विज्ञान और अध्यात्म में अद्भुत सहमति है। जरा उस सहमति पर ध्यान दें।

शरीर और मन का संबंध

विज्ञान और अध्यात्म की प्रथम सहमति इस बारे में है कि हमारा कोई विचार या भाव ऐसा नहीं जो अपने समानान्तर भौतिक स्तर पर भी कोई न कोई अनुकूल या प्रतिकूल परिवर्तन न लाता हो और न कोई भौतिक स्तर पर होने वाला परिवर्तन ऐसा है जो हमारे विचारों या भावों को प्रभावित न करता हो। यह सूत्र बहुत महत्त्वपूर्ण है, बल्कि सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण यहीं सूत्र है। प्रत्येक भाव के साथ द्रव्य जुड़ा है और प्रत्येक द्रव्य से भाव जुड़ा है। हम

अज्ञानवश यह समझते हैं कि हमने क्रोध किया तो इसका हृदयाधात से कोई संबंध नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि क्रोध एक भाव है। यह भाव उत्पन्न होते ही शरीर में ऐसा रसायन पैदा कर देता है जो विषाक्त है। वे विषाक्त रसायन हृदय रोग ही नहीं, जाने और भी कौन-कौन से कैंसर जैसे जानलेवा रोग पैदा कर देते हैं। हम यह भी जान लें तब भी यही मानते रहते हैं कि क्रोध किया, यह एक अलग बात है—और कैंसर हो गया—यह एक अलग बात है। हम ऐसा इसलिए मानते हैं कि हमें क्रोध से रोग उत्पन्न करने वाले रसायन पैदा होते हुए दिखाई नहीं देते। विज्ञान की कृपा से अब हमें यह दिखायी देने लग गया है। विज्ञान की यह विशेषता है कि बिना देखे वह कुछ भी नहीं मानता। विज्ञान की दूसरी विशेषता यह है कि जिसे कोई एक व्यक्ति देख सकता है विज्ञान उसे किसी दूसरे व्यक्ति को भी दिखा सकता है। इसीलिए विज्ञान की इतनी प्रतिष्ठा है कि विज्ञान जो कुछ कहता है उसे सबको मानना ही पड़ता है। धर्म के क्षेत्र में नास्तिक हो सकते हैं, लेकिन विज्ञान के क्षेत्र में नास्तिक नहीं हो सकते। लेकिन विज्ञान के आस्तिक की परिभाषा दूसरी है। वह यह नहीं मानता कि अमुक वैज्ञानिक ने जो कहा उसे अन्तिम सत्य मानना है। वह मानता है कि अन्तिम सत्य किसी ने जाना ही नहीं किंतु जितना सत्य आज तक जाना गया है, वह है तथ्य पर आश्रित, वह किसी अन्ध-श्रद्धा पर नहीं टिका है। विज्ञान की विधि ही कुछ ऐसी है।

आस्तिकता और नास्तिकता

एक विचारक हुए हैं—चार्वाक। उन्होंने कहा कि शरीर ही आत्मा है। सभी आत्मवादियों ने चार्वाक को पेट भरकर कोसा। “नास्तिक” शब्द भारतीय चिन्तन में एक गाली जैसा है। यूं तो सभी दर्शन वाले एक-दूसरे को नास्तिक समझते रहे हैं किंतु चार्वाक की नास्तिकता सबसे अधिक प्रसिद्ध हो गई। उसने कहा कि—

१. ईश्वर नहीं है।
२. कर्म का फल भोगने के लिए पुनर्जन्म नहीं होता।
३. प्रत्यक्ष के अतिरिक्त आगम तो क्या, अनुमान भी प्रमाण नहीं है।
४. जड़ के अतिरिक्त कोई चेतन नाम का तत्त्व नहीं है। जड़ पदार्थों के संयोग से ही चैतन्य उत्पन्न हो जाता है।

इन चार निषेधों के कारण चार्वाक की नास्तिकता चहुँमुखी है। जैन, बौद्ध भी सृष्टिकर्ता ईश्वर को नहीं मानते तथा आगमों में वेद को प्रमाण नहीं मानते हैं अतः ईश्वरवादी तथा वेदवादी उन्हें नास्तिक कहते हैं यद्यपि पाणिनि

नास्तिक उसे कहते हैं जो कर्मफल और पुनर्जन्म को न माने और इस दृष्टि से जैन तथा बौद्ध भी आस्तिक हैं। ईश्वर को न मानने वाले तो सांख्य तथा मीमांसक भी हैं किंतु वे वेद को मानते हैं। वेदान्ती ईश्वर को मानते हैं किंतु उनका ईश्वर नैयायिकों के ईश्वर से सर्वथा भिन्न है। जैसा ईश्वर, ईसाई या मुसलमानों का है वैसा ईश्वर वेदवादियों में शायद नैयायिकों का ही है। जैनाचार्य प्रायः ईश्वर की नैयायिक सम्मत अवधारणा का ही खण्डन करते हैं।

इस भूमिका के साथ प्रस्तुत प्रसंग में हमें चार्वाक की चतुर्थ मान्यता पर ही कुछ विशेष चर्चा करना अभिप्रेत है—क्या शरीर जड़ पदार्थों से ही मिलकर बना है और एक परिमाण विशेष में एक क्रम विशेष से मिलकर जड़ पदार्थ ही शरीर में चेतना उत्पन्न कर देते हैं अथवा चेतना कोई स्वतंत्र तत्त्व है ? इस विषय में चार दृष्टियां हमारे सम्मुख हैं—

१. चेतना ही एकमात्र तत्त्व है। चेतन ही जड़ बनता है। यह वेदान्त का मत है।
२. जड़ ही एक मात्र तत्त्व है। चेतना उसी से उद्भूत होती है। यह चार्वाक का मत है।
३. जड़ और चेतन दो पृथक् तत्त्व हैं किंतु दोनों एक-दूसरे से प्रभावित नहीं होते। यह सांख्य मत है।
४. जड़ और चेतन दो पृथक् तत्त्व हैं तथा दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। यह जैन मत है।

शरीर मुख्यतः चिकित्साशास्त्रियों का विषय है। चिकित्सा-शास्त्री मुख्यतः वैज्ञानिक होते हैं और वे दार्शनिक चर्चाओं में नहीं उलझा करते। आज जो तथ्य हमारे सम्मुख चिकित्साशास्त्रियों ने रखा है वह यह है कि जड़ को चेतन तथा चेतन को जड़ प्रभावित करते रहते हैं। कम से कम शरीर के संदर्भ में यह तथ्य प्रत्यक्ष गोचर है। इस विषय का प्रतिपादन हम पहले ही कर चुके हैं। यह सत्य है कि चिकित्साशास्त्र आत्मा नाम के तत्त्व को अभी तक नहीं मानता है किंतु विचारों और भावनाओं का शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है—इसकी खोज चिकित्साशास्त्री निरन्तर कर रहे हैं।

क्वाण्टम सिद्धान्त और प्राण तत्त्व

एक विषय जो विज्ञान की खोज के कारण नयी दृष्टि लेकर उपस्थित हुआ है वह है शरीर में प्राण का महत्त्व। विज्ञान ने एक खोज की है कि हमारा पूरा विश्व जिन तत्त्वों से बना है वह तत्त्व “क्वाण्टम” है। “क्वाण्टम” का अर्थ है “ऊर्जासमूह”। जिसे विज्ञान “ऊर्जा” कहता है भारतीय दार्शनिक उसे ही

प्राण कहते हैं। प्राण कोई ठोस पदार्थ नहीं है। यह वह संजीवनी शक्ति है जो प्रत्येक पदार्थ को स्पन्दित करती है। हमारे पूरे शरीर में प्राण व्याप्त है। यद्यपि प्राण प्रत्यक्ष गोचर नहीं है तथापि प्राण का कार्य प्रत्यक्ष गोचर है। प्राण के कारण ही हमारे शरीर में वे सब क्रियायें हो रही हैं जो शरीर के अस्तित्व के लिए आवश्यक हैं। जब शरीर में प्राण नहीं रहता तो शरीर की ये क्रियाएं भी बंद हो जाती हैं और शरीर शव बन जाता है, तब हम कहते हैं कि यह शरीर निष्प्राण हो गया। प्राण का ही एक दूसरा रूप वायु अथवा पवन भी है। जहाँ-जहाँ हमारी चेतना जाती है वहीं पवन का भी संचार होने लगता है—
यत्र मनस्तत्र पवनः। बस यही तथ्य हमारे हाथ में हमारे शरीर की नकेल थमा देता है। हम शरीर के जिस भाग पर भी चित्त को ले जायेंगे वहीं प्राणों का प्रवाह होने लगेगा और जिस भाग में प्राणों का प्रवाह होने लगेगा वह भाग स्वरथ होने लगेगा क्योंकि प्राणों का प्रवाह मल भाग को निकालकर बाहर फेंक देता है।

यह प्राण तत्त्व ही हमारे शरीर को शक्ति देता है। भौतिक क्षेत्र में जैसे किसी पदार्थ का विद्युच्चुम्बकीय क्षेत्र होता है वैसे ही हमारे शरीर का भी एक विद्युच्चुम्बकीय क्षेत्र है जिसे आभामण्डल कहा जाता है। यह आभामण्डल हमारे शरीर तक ही सीमित नहीं है अपितु शरीर के चारों ओर, शरीर के बाहर भी फैला है। यह ओज तत्त्व है जो वीर्य का सार है। जो अन्न हम खाते हैं वह रक्त, मांस, मज्जा आदि का निर्माण करते हुए अंत में वीर्य बनता है। यह वीर्य ही और अधिक परिष्कृत होने पर ओज बन जाता है। वीर्य पार्थिव है, ओज अन्तरिक्ष्य है। वीर्य शरीर के अन्दर है, ओज शरीर के बाहर रहता है। यही ओज महापुरुषों के चित्रों में सिर के चारों ओर आभामण्डल के रूप में दिखला दिया जाता है। वह कलाकार की कल्पना है किंतु यह कल्पना इस वास्तविकता पर टिकी है कि हमारे शरीर के चारों ओर वस्तुतः एक ओजमण्डल है। ऊपर हमने कहा कि दार्शनिक जिसे प्राण कह रहे थे आज का वैज्ञानिक उसे ही क्वाण्टम कह रहा है। यह “क्वाण्टम” विज्ञान की कृपा से आज प्रत्यक्षवत् हो गया है। पुरानी भाषा का प्रयोग करें तो क्वाण्टम अतीन्द्रिय है किंतु विज्ञान ने इतने सूक्ष्म और शक्तिशाली उपकरण आविष्कृत कर दिए हैं कि कल तक जो इन्द्रियातीत था वह आज उन उपकरणों की सहायता से प्रत्यक्ष हो गया है। चार्वाक का आग्रह है कि वह प्रत्यक्ष को ही मानेगा। विज्ञान ने जो कल तक प्रत्यक्ष नहीं था उसे भी आज प्रत्यक्ष-गम्य बना दिया है। अतः प्रत्यक्षवादी को भी जो तत्त्व कल तक मान्य नहीं थे, आज वे तत्त्व मानने पड़ रहे हैं।

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

क्वाण्टम एक ऊर्जासमूह है। इस ऊर्जा समूह से ही समस्त भूत-भौतिक

पदार्थ—हमारा शरीर भी बना हुआ है। ये क्वाण्टम न्यूटन के ठोस परमाणु की भाँति एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् स्थित नहीं हैं अपितु एक-दूसरे में गुत्थम-गुत्था होकर स्थित हैं, जिसके परिणाम स्वरूप विश्व का कोई अवयव विश्व के दूसरे अवयवों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। दो हजार वर्ष पहले जैन आचार्य उमास्वाति ने एक सूत्र दिया था कि एक जीव दूसरे जीव का उपग्रह करता है—परस्परोपग्रहो जीवानाम्। यद्यपि जैन परम्परा में आत्मा और जीव शब्द पर्यायवाची की तरह प्रयुक्त होते हैं किंतु वेदान्त इन दोनों में भेद करता है—वेदान्त अशरीरी चेतना के लिए “आत्मा” शब्द का तथा शरीरी चेतना के लिए “जीव” शब्द का प्रयोग करता है। आचार्य उमास्वाति के उपर्युक्त सूत्र में जीव का अर्थ शरीरी चेतना है। जहां भी शरीरी चेतनाएं हैं वे सब एक-दूसरे का उपग्रह किए हुए हैं—एक दूसरे को पकड़े हुए हैं। जब दो या दो से अधिक व्यक्ति आस-पास बैठते हैं तो दिखायी यह देता है कि वे अलग-अलग हैं किंतु उन सबका आभासण्डल भौतिक अर्थ में भी एक दूसरे के क्षेत्र में प्रविष्ट रहता है। अतः वे एक दूसरे से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। इस दृष्टि से सत्सङ्ग को श्रेयस्कर और दुर्जनों के सङ्ग को हेय बताया जाता है—तजि मन हरिविमुखन को सङ्ग। जाके सङ्ग कुबुधि उपजत है, परत भजन में भङ्ग। सत्सङ्ग की महिमा अपरम्पार है, सत्सङ्ग से सब कुछ हो सकता है। सत्सङ्गतिः कथय किन्न करोति पुंसाम्।

अन्धविश्वास नहीं है श्रद्धा

हम दूसरों से प्रभावित होते हैं किंतु यह प्रभाव यान्त्रिक नहीं है। न सत्संग का प्रभाव सब पर एक सा पड़ता है न कुसंग का। एक तत्त्व है—श्रद्धा। श्रद्धा का काम है मन को ग्रहणशील बना देना। जिसके प्रति हमारी श्रद्धा होती है उसके प्रति हमारा मन आर्द्ध हो जाता है; बोलचाल की भाषा में कहा जाता है कि मन पिघल जाता है। श्रद्धा नाम है इस प्रहवता/नम्रता का, इस आर्द्धता का। यह आर्द्धता हमें ग्रहणशील बना देती है। जिसके प्रति हमारी श्रद्धा है उसके गुणों को हम ग्रहण करते हैं, जिसके प्रति हमारी श्रद्धा नहीं है उसके संस्कार हम ग्रहण नहीं कर पाते। साधु-जनों के प्रति यदि हमारी श्रद्धा है—ग्रहणशीलता अथवा आद्रीभाव है—तब ही हम सत्संग का लाभ उठा पाते हैं। अश्रद्धा का भी अपना उपयोग है। अश्रद्धा का अर्थ है—रुखापन। जिसके प्रति हम रुखे हैं उसके संस्कार हममें नहीं आते। दुर्जनों के प्रति अश्रद्धा ही श्रेयस्कर है—माध्यरथ्यभावं विपरीतवृत्तौ।

न सत्संगति अन्धविश्वास का विषय है, न श्रद्धा। ये दोनों एक वैज्ञानिक सत्य हैं। प्रश्न होता है कि श्रद्धा किस पर करें? उत्तर है कि श्रद्धा का अन्तिम

लक्ष्य तो तत्त्वार्थ ही है—तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। तत्त्व का अर्थ है कि जो जैसा है उस पदार्थ को वैसा ही जानना/मानना। सारी साधना सत्य की खोज है। हमारे अज्ञान और अन्धविश्वासों का अन्त नहीं है। धर्म अन्धविश्वास का मित्र नहीं है, अपितु अंधविश्वासों का शत्रु है। ऐसे कुछ अन्धविश्वासों की चर्चा करना अप्रासङ्गिक न होगा।

अहिंसा की सूक्ष्मता

एक अन्धविश्वास हमारे मन में रुढ़ है कि अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी सब जड़ हैं। इनके साथ हम जैसा चाहे वैसा व्यवहार कर सकते हैं। विज्ञान ने एक बात सिद्ध कर दी है कि जिन पदार्थों को हम जड़ कह रहे हैं उनका भी अपना आभामण्डल है। इन जड़ पदार्थों का आभामण्डल भी हमें प्रभावित करता है। कल्पना करें कि हमारे मन में पृथ्वी के लिए यह भाव आया कि हम यहाँ से जमीन खोद डालें। हमने न तो अभी जमीन को खोदना शुरू किया है, न ही हमारे हाथ में इसके लिए फावड़ा आदि कोई औजार है। हमारे मन में सिर्फ पृथ्वी पर गड्ढा खोदने का विचार आया है। इस विचार के साथ ही हमारे आभामण्डल में परिवर्तन आ जाता है। यह परिवर्तन हमारे मन के हिंसा भाव को प्रकट करता है। किंतु इससे भी बड़े आश्चर्य की बात यह घटित होता है कि पृथ्वी के ओरा में भी परिवर्तन आ जाता है। जमीन के समस्त स्पन्दन बदल जाते हैं। जमीन के स्पन्दनों में दुःखपूर्ण तरंगें बन जाती हैं। पृथ्वी में होने वाले इस स्पन्दन से मैं अप्रभावित नहीं रह सकता। मेरे मन का हिंसा भाव मेरे आभामण्डल को कलुषित करता है। यह कलुष अन्ततोगत्वा स्वयं मेरे दुःख का कारण बन जाता है। यह मानसिक हिंसा का फल है।

आप जल को प्रताड़ित करें। जल के सहज स्पन्दन बदल जायेंगे। वे स्पन्दन हमारे स्पन्दन को भी विकृत कर डालेंगे। हमारे विकृत स्पन्दन न हमारे मन को स्वरथ रहने देंगे, न तन को। यह शारीरिक हिंसा का फल हुआ। यही स्थिति अग्नि और वायु की भी है। पशु-पक्षियों को तो जब हम पीड़ित करते हैं तो उनके चीत्कार के कारण हम उनकी वेदना का अनुमान कर लेते हैं। ये त्रस जीव हैं। किंतु हम वनस्पति पर प्रहार करते हैं तो वनस्पति की कोई ऐसी प्रतिक्रिया हमें प्रतीति में नहीं आती कि हम यह अनुमान कर सकें कि उन्हें भी पीड़ा हो रही है। अब सर जगदीशचन्द्र बोस ने वैज्ञानिक उपकरणों के माध्यम से वनस्पतियों की वेदना को भी प्रत्यक्ष करके दिखा दिया है।

अहिंसा की प्रासंगिकता

हमने अग्नि, जल, वायु और पृथ्वी की चर्चा ऊपर की है। विज्ञान अभी इनमें जीवन भले सिद्ध न कर पाया हो किंतु यह तो सिद्ध हो ही गया है कि

ये भी क्वाण्टम के ही समूह हैं। क्वाण्टम ऊर्जा है। ऊर्जा स्पन्दन उत्पन्न करती है। ये स्पन्दन ही स्थूल पदार्थ की आकृति-प्रकृति बनाते हैं। किसी के साथ किसी भी प्रकार का व्यवहार कीजिए—भले ही वह पदार्थ हमें जड़ ही क्यों न नजर आता हो—वह व्यवहार उस पदार्थ के स्पन्दनों को और उस पदार्थ के स्पन्दन हमारे स्पन्दनों को प्रभावित करते ही हैं। यही कर्म सिद्धान्त का मूल है, यही अहिंसा के सिद्धान्त का मार्ग है।

अहिंसा केवल क्रूरता का अभाव नहीं है, अहिंसा मैत्री का भाव भी है। श्रद्धा और मैत्री दोनों का जोड़ा है। श्रद्धा बड़ों के प्रति होती है, मैत्री बराबर वालों के साथ होती है तथा वात्सल्य छोटों के प्रति होता है। काम इन तीनों का एक ही है—चित्त को आर्द्ध बना देना। जब चित्त आर्द्ध हो जाता है तो हमारे मन से यही आवाज आती है सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाष्वेत्। सर्वहित की यह भावना एक बहुत शक्तिशाली उपकरण है। जब हम सबके प्रति कल्याण का भाव रखते हैं तो बदले में सब भी हमारे प्रति कल्याण का भाव रखेंगे। यह कल्याण की भावना केवल निराकार पदार्थ नहीं है, यह एक साकार तरंग है जो बहुत शक्तिशाली है और जो हमारे व्यक्तित्व में एक सौम्य रूपान्तरण ला देती है।

सूक्ष्म की शक्ति

हमारा एक दूसरा अन्धविश्वास यह है कि स्थूल पदार्थ शक्तिशाली होता है; सूक्ष्म पदार्थ निर्बल होता है। वस्तुस्थिति इससे विपरीत है। सूक्ष्म पदार्थ स्थूल की अपेक्षा बहुत शक्तिशाली होता है। हम यह मानते हैं कि किसी ने हमें एक लाख रुपये दे दिए तो यह बहुत बड़ी बात हो गयी। किसी ने हमें शुभकामना दी या आशीर्वाद दिया तो हम मान लेते हैं कि यह तो साधारण बात है। सच यह है कि एक लाख की राशि सीमित है, शुभकामना अथवा आशीर्वाद की शक्ति को आंकना कठिन है। बड़े-बड़े समाट विश्व को वे नहीं दे पाए जो ज्ञानी जन दे गए हैं। समाटों के पास धनबल था और भुजबल भी था। उसका उपयोग उनके समय के कुछ लोगों के लाभ के लिए हो गया। किंतु जो उपनिषद, आगम, बाइबल अथवा त्रिपिटक का ज्ञान दे गये वे अनन्त काल तक अनन्त मनुष्यों का उपकार करते रहेंगे। शक्ति भले ही स्थूल पदार्थ में हो भी, किंतु आनन्द सदा ज्ञान, कला और विचारों में सन्निहित रहता है। शरीर के प्रसंग में हम स्थूल हाड़-मांस को महत्त्व देते रहते हैं, किंतु महत्त्वपूर्ण प्राण है। प्राण ही हाड़-मांस को ढालता है। प्राण सूक्ष्म है। भारतीय परम्परा चिकित्सक को फिजिशियन (शरीरशास्त्री) नहीं कहती—अपितु प्राणाचार्य कहती है। चिकित्सा प्राणों की करनी है, शरीर तो प्राणों का अनुचर है।

चेतना का जड़ पर प्रभाव

प्राणों पर भावों का प्रभाव गोचर है। क्रोध में हमारा श्वास तेज चलने लगता है। सम्भोग के समय भी श्वासों की गति तीव्र हो जाती है। यह श्वासों की गति केवल प्राणों तक ही सीमित नहीं रहती। यह पूरे शरीर की रासायनिक क्रिया को प्रभावित करती है। इस प्रकार चेतना शरीर का निर्माण करती रहती है। जैन परम्परा कहती है कि जब भी कोई भाव हममें उत्पन्न होता है, तत्काल प्रकृति में भी एक प्रतिक्रिया होती है। हमारे भाव सीधे प्रकृति को स्थूल स्तर पर प्रभावित नहीं करते। प्रकृति का एक सूक्ष्मतम् रूप है जिसे कर्म से प्रभावित होने के कारण कार्मण वर्गणा कहा गया है। अच्छे या बुरे भाव अथवा कर्म के कारण तदनुरूप कार्मण वर्गणा हमारी चेतना से सम्बद्ध हो जाती है। बदले में कालान्तर में यह कार्मण वर्गणा हमारे भावों को तथा क्रियाओं को प्रभावित करती है।

जिसे हम बन्धन कहते हैं, वह केवल मानसिक नहीं है, भौतिक भी है। प्रकृति की सूक्ष्मतम् कार्मण वर्गणाओं से बना कार्मण शरीर चेतना से क्षेत्रीय तथा भावात्मक दोनों अर्थों में चिपटकर चेतना की शुद्धता को ढक लेता है। यही दुःख का कारण बनता है—आश्रवो भवहेतुः स्यात्। यदि इन कार्मण वर्गणाओं का आना रोका जा सके तो हम अपने शुद्ध रूप में स्थिर हो सकते हैं—संवरो मोक्षकारणम्। जैन साधना का मूल सूत्र तो यही है, शेष सब इसका विस्तार है—

आश्रवो भवहेतुः स्यात् . संवरो मोक्षकारणम् ।

इतीयमार्हतीदृष्टिरन्यदस्या: प्रपञ्चनम् ॥

शरीर के संबंध में विज्ञान ने सबसे महत्त्वपूर्ण जानकारी यही दी है कि शरीर की कोई भी क्रिया चेतना की सहायता के बिना नहीं होती है। उदाहरण के लिए पाचन की क्रिया को लें। पाचन क्रिया अन्न से रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, वीर्य सब कुछ बना देती है। अन्न से बनने वाले ये पदार्थ केवल शरीर के अन्दर ही बन सकते हैं। शरीर के बाहर अन्न से हम रक्त की एक बूंद भी प्रयोगशाला में नहीं बना सकते हैं। अन्न से रक्त कैसे बनता है—यह प्रक्रिया हमें मालूम है किंतु उस प्रक्रिया को शरीर के बाहर हम प्रयोगशाला में इसलिए नहीं दोहरा सकते कि शरीर के बाहर चेतना उपलब्ध नहीं है। यदि शरीर के सभी घटकों का निर्माण चेतना कर रही है, भले ही वह निर्माण अन्न से हो रहा हो, तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शरीर के निर्माण में केवल यही महत्त्वपूर्ण नहीं है कि हम खाते क्या हैं अपितु यह भी महत्त्वपूर्ण है कि जो कुछ हम खाते हैं, चेतना उसका उपयोग किस प्रकार करती है। चेतना अपना कार्य किस

प्रकार करे यह चेतना की स्थिति पर निर्भर करता है। चेतना की मुख्यतः तीन स्थितियाँ हैं—एक विधायक स्थिति जिसे शुभोपयोग कहा जाता है, एक निषेधात्मक स्थिति जिसे अशुभोपयोग कहा जाता है तथा तीसरी स्थिति वह है जिसमें चेतना परमुखापेक्षी न होकर स्व में स्थित रहती है। इस तीसरी स्थिति को शुद्धोपयोग कहा जाता है। हम प्रसन्नता की मुद्रा में, शान्त मन से सबके प्रति मैत्री भाव रखते हुए कार्य कर रहे हैं यह चेतना का शुभोपयोग है। हम दुःखी होकर अशान्त एवं विक्षिप्त मन से सबके प्रति असंतोष के भाव को रखते हुए कार्य कर रहे हैं, यह चेतना का अशुभोपयोग हुआ। हम सुख दुःख से ऊपर उठकर केवल दृष्टाभाव में स्थित हैं, यह चेतना का शुद्धोपयोग है।

बाह्य संसार एक : अन्दर के संसार सबके अलग-अलग

हमारे चारों ओर निरन्तर घटनाएं घटित होती रहती हैं। वे घटनाएं हमारे बाहर घटित होती हैं। हम इन घटनाओं को जानते हैं। यहाँ तक हम घटनाओं के द्रष्टा होते हैं। जहाँ तक हम घटनाओं के द्रष्टा होते हैं, हम घटनाओं से प्रभावित नहीं होते किंतु प्रायः हम घटनाओं के द्रष्टा बहुत समय तक नहीं रह पाते। हम उन घटनाओं के प्रति अपनी प्रतिक्रिया भी करते हैं। यह प्रतिक्रिया महत्त्वपूर्ण है। घटना हमारे आधीन नहीं है, घटना को जानना अथवा न जानना भी हमारे आधीन नहीं है। घटना घटेगी तो हम उसे जानेंगे भी। घटना का यह जानना सबका समान होता है किंतु उस घटना के प्रति सबकी प्रतिक्रिया समान नहीं होती, बल्कि कभी-कभी तो दो व्यक्तियों की यह प्रतिक्रिया एक दूसरे के सर्वथा विरुद्ध भी होती है। प्रतिक्रिया की इस विविधता का कारण हमारे मन के पूर्व संचित संस्कार हैं। हम सबके संस्कार एक जैसे नहीं हैं, अतः हम सबकी प्रतिक्रिया एक जैसी नहीं हो सकती। वस्तुतः एक संसार हमारे बाहर है, वह सबके लिए एक जैसा है किंतु एक संसार हमारे अंदर है, वह सबका भिन्न-भिन्न है तथा उसके कारण हम सब बाहर के संसार को एक जैसा नहीं देख पाते हैं; हमारे बाहर का संसार जब अन्दर के संसार पर प्रतिबिम्बित होता है तो प्रत्येक व्यक्ति के लिए अलग-अलग हो जाता है। हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्दर एक अलग तरह का संसार लिये फिरता है जिसका निर्माण वह स्वयं करता है।

यदि हम विधायक दृष्टिकोण लेकर चलते हैं तो हम बाहर के संसार को अपने अनुकूल ढालकर उसकी व्याख्या करते हैं। ऐसे में हमें सब अपने अनुकूल लगते हैं, अतः सहज ही हमारा सबके प्रति मैत्री भाव प्रस्फुटित हो उठता है। निषेधात्मक दृष्टिकोण वाले व्यक्ति को सब कुछ प्रतिकूल प्रतिभासित होता है। अतः वह किसी के प्रति मैत्री नहीं रख सकता। यह एक स्थिति है।

एक दूसरी स्थिति यह है कि जब कोई व्यक्ति हमारी रुचि के अनुकूल व्यवहार करता है तो वह हमें अपना मित्र प्रतीत होता है, यदि वही व्यक्ति हमारे प्रतिकूल व्यवहार करे तो हमें शत्रु प्रतीत होने लगेगा। यह मैत्री सशर्त है; हममें से अधिकतर ऐसी ही मैत्री कर पाते हैं। यह मैत्री वस्तुतः मैत्री नहीं, राग है। वास्तविक मैत्री तो उस विधायक दृष्टि का परिणाम है जहां हम किसी भी परिस्थिति की अपने अनुकूल व्याख्या करना सीख लेते हैं।

अपने शुद्ध रूप की झलक

अनुकूलता-प्रतिकूलता पर विचार करें कि वस्तुतः हमारे अनुकूल या प्रतिकूल क्या है। जहां शुभ-अशुभ है वहां तक अनुकूलता-प्रतिकूलता का द्वन्द्व भी है। शुद्ध भाव में न कुछ अनुकूल है न प्रतिकूल। इस शुद्ध भाव की एक झलक हमें अपनी दैनन्दिनचर्या में भी कभी-कभी मिलती रहती है। कल्पना करें कि हम प्रातः शय्या से अभी उठे ही हैं। सुषुप्ति में हमारे संस्कार भी सुषुप्त हो गए थे। उस समय न हमें कुछ अनुकूल प्रतीत हो रहा था, न कुछ प्रतिकूल। बस हमें केवल अपने अस्तित्व का बोध था। हमारी आंखें खुल गयी हैं। कुछ क्षणों के लिए हमारे सुषुप्त संस्कार अभी जाग नहीं पाए हैं। उस क्षण में जाग जाने पर भी हम अनुकूलता-प्रतिकूलता का बोध नहीं कर पाते हैं। न उस समय हमें यह बोध है कि हमने कल तक क्या किया था, न हमें यह बोध है कि हमें आज आगे क्या करना है। हम उस समय केवल वर्तमान को देख रहे होते हैं, अतीत की स्मृति या भविष्य की कल्पना अभी हमें नहीं घेर पाती है। यह स्थिति केवल कुछ क्षण ही रह पाती है और फिर तत्काल सारे संस्कार उद्बुद्ध हो जाते हैं। संस्कार उद्बुद्ध होने से पूर्व के कुछ क्षण में हम सब एक जैसे होते हैं—न कोई गरीब है, न कोई अमीर, न कोई छोटा है, न कोई बड़ा, न कोई सुखी है, न कोई दुःखी। उस समय हम सब अपने शुद्ध द्रष्टा भाव में एक समान हैं। किंतु जैसे ही हमारे संस्कार हमें घेरते हैं, हम सब भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। हममें से किसी को याद आता है कि आज उसका जन्मदिन है तो वह प्रफुल्लित हो उठता है, उसे ख्याल आता है कि आज उसके मित्र उसके घर बधाई देने आने वाले हैं। हममें से किसी को ख्याल आता है कि आज उसके मुकदमे का फैसला सुनाया जाने वाला है तो वह तत्काल तनावपूर्ण मनःस्थिति में आ जाता है। वह अपने इष्ट देव का स्मरण करने लगता है कि उसे मुकदमे में सफलता मिले। कहने का अभिप्राय यह है कि हम सबके मन तरह-तरह के प्रपञ्चों से भर जाते हैं। इस प्रपञ्चों से भरे स्वरूप को ही हम अपना असली स्वरूप मान बैठे हैं जबकि वास्तविकता यह है कि हमारा वास्तविक स्वरूप वह था जो संस्कारों के उद्बुद्ध होने से पहले था और

निष्प्रपञ्च था। यहां यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि जिसे हम निष्प्रपञ्च कह रहे हैं वह भी वस्तुतः निष्प्रपञ्च है नहीं क्योंकि संस्कारों का अस्तित्व अभी हमें बना हुआ है भले ही पूर्ण रूप से अभिव्यक्त न हुआ हो किंतु सुप्त स्थिति में संस्कार हैं अवश्य। अतः वे हमारे वास्तविक स्वरूप को तो प्रतीति में नहीं आने देते। फिर भी उनके जाग्रत होने तक के कुछ क्षणों में हमें अपने निष्प्रपञ्च शुद्ध स्वरूप की एक फीकी सी झलक मिल सकती है।

अपना सत्य स्वयं खोजें

प्रायः प्रपञ्चों से भरा हमारा मन ही हमारा मार्गदर्शन करता रहता है। ये प्रपञ्च ही हमें अनुकूलता-प्रतिकूलता का बोध कराते हैं। इन्हीं प्रपञ्चों के कारण हम राग-द्वेष से ऊपर नहीं उठ पाते। ये प्रपञ्च अनादि काल से संस्कारों के रूप में हमारे साथ लगे हैं। राग-द्वेष की पृष्ठभूमि से हमारे समस्त विचार उद्भूत होते हैं। हम इस अंधविश्वास में जी रहे हैं कि हम विचारों के माध्यम से सत्य को जान लेंगे। एक ही तथ्य अलग-अलग व्यक्ति को अलग-अलग नजर आता है। यह विचार-भेद की करामात है। विचार के द्वारा सत्य को जानने का प्रयत्न जिन्होंने किया उन्होंने सत्य को सदा भिन्न-भिन्न रूप में ही जाना। अतः सत्य विवाद का कारण बन गया। वेद में एक शब्द आया “मम सत्यम्” अर्थात् “मेरा सत्य”। इस शब्द का टीकाकारों ने अर्थ किया—युद्ध। “मेरा सत्य” यह युद्ध कैसे बन गया? टीकाकार ठीक कह रहे हैं। संघर्ष का मूल है सत्य के साथ ममत्व का संबंध जोड़ देना। यदि सत्य मेरा है तो दूसरा उसे क्यों स्वीकार करने लगा? यदि हम दूसरे का सत्य स्वीकार कर भी लें तो वह सत्य मृत होगा। सत्य एक जीवित घटना है, उसे मेरे अन्दर से उपजना चाहिए, सत्य दूसरे से उधार नहीं लिया जा सकता। अपना सत्य स्वयं खोजें—अप्यणा सच्चमेसेज्जा। पर दूसरे के सत्य से टकराये नहीं, सबके प्रति मैत्री भाव रखें—मिति भूयेसु कप्पए।

तत्का तत्थ न विज्जइ

अपना सत्य खोजें, पर विचार के द्वारा नहीं, निर्विचारता के द्वारा विचार उत्पन्न होते हैं और विलीन हो जाते हैं। हम उस उद्गम तक जायें जहाँ से विचार उत्पन्न हो रहे हैं और जहाँ विलीन हो रहे हैं। विचार जहाँ से उत्पन्न होते हैं, वहाँ विचार नहीं है, निर्विचारता है। विचार जहाँ लीन हो जाते हैं वहाँ भी निर्विचारता ही है। शब्द जहाँ से आ रहे हैं, वहाँ शब्द नहीं है, मौन है। हम शब्दों पर न जायें, उस नीरवता तक जायें जहाँ से शब्द आ रहे हैं। परम तत्त्व वह नहीं है जहाँ पर विचार जाता है, परम तत्त्व वह है जहाँ से विचार आता है।

यन्मनसा न मुनते, येनाहुर्मनो मतं।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते।

हम शब्दों में उलझ रहे हैं। शब्द इतना उलझाते हैं कि वेदान्तियों ने तो रूप के साथ-साथ नाम को भी माया ही घोषित कर दिया। जैनों ने शब्द को आकाश का गुण नहीं माना, उन्होंने शब्द को स्वयं एक पुद्गल अर्थात् जड़ मान लिया। जो जड़ में फंसा है वह चेतन को क्या पायेगा? हाँ, जड़ भी चेतन को पाने का साधन बन सकता है। हम शब्द पर न अटक कर वहाँ तक पहुंचें जहाँ से शब्द उत्पन्न होता है, जहाँ से शब्द का स्फोट होता है तो हम शब्द ब्रह्म तक पहुंच सकते हैं। जहाँ से शब्द आ रहे हैं, वहाँ शब्द नहीं है, वहाँ मौन है—

यद्वाचा न वदति येन वागभ्युद्यते ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।

एक शिष्य को शब्दों का बहुत शौक था। गुरु से पूछा—आत्मा का स्वरूप क्या है—कोड्यमात्मा? गुरु मौन रहे। शिष्य ने फिर पूछा। गुरु फिर मौन रहे। शिष्य ने फिर पूछा। गुरु ने कहा कि “मैं तो आत्मा का स्वरूप बता रहा हूँ पर तुम समझ नहीं पा रहे हो—यह आत्मा मौन है”।—

अहं तु ब्रवीमि, त्वं तु न वेत्सि, उपशान्तोऽयमात्मा।

आत्मा कहें, ब्रह्म कहें, द्रष्टा कहें—एक ही बात है। द्रष्टा बोलता नहीं है, वह मौन रहता है। जैनों के दिगम्बर सम्प्रदायानुसार तीर्थड़कर चुप रहते हैं। द्रष्टा साक्षिभाव से देखता है तो दृश्य भी बदल जाता है। तीर्थड़कर साक्षिभाव में रहते हैं, बोलते नहीं हैं तो दृश्यमान् में से एक ध्वनि विखरने लगती है—दिव्य-ध्वनि। उसी दिव्य-ध्वनि को सब अपनी-अपनी वैखरी वाक् में समझ लेते हैं।

साक्षी केवल देखता ही नहीं बदलता भी है

द्रष्टा का साक्षिभाव से देखना दृश्य को भी बदल देता है। कार्लमार्क्स ने कहा था कि अन्य दार्शनिक दुनिया को जानने की कोशिश करते हैं, मैं दुनिया को बदलने की कोशिश करता हूँ। कार्लमार्क्स ने ज्ञान की महिमा को समझा नहीं। जब हम किसी को बदलने का प्रयत्न करते हैं तो वह ऊपर से तो बदल सकता है, पर अन्दर से वह वही रहता है, बदलता नहीं क्योंकि हम किसी के अन्दर बैठकर उसे नहीं बदल सकते। किंतु जब हम किसी को जानते हैं तो हम उसके अन्दर पैठ जाते हैं, और वह अन्दर से बदल जाता है। अन्दर से बदल जाना ही बदल जाना है। ऊपर से बदलने वाले तो बहुरूपिया हुआ करते हैं।

जब हम शरीर को जानते हैं तो शरीर अन्दर से बदलना प्रारम्भ हो जाता है, जब हम शरीर को औषधियों से बदलना चाहते हैं तो वह अन्दर से तो बदलता नहीं, ऊपर से बदलता है किंतु शरीर इस बल-प्रयोग का बदला लेता है। औषधि से एक रोग दूर होता है तो दूसरा रोग उभर आता है। जिसने एक बार औषधि ली वह भविष्य के लिए औषधि का गुलाम हो गया। ध्यान औषधि नहीं है, वह शरीर को जानने का उपक्रम है। जब हम शरीर के यथार्थ स्वरूप को जानते हैं, तो शरीर के प्रति हमारा दृष्टिकोण बदल जाता है। हम शरीर को साक्षिभाव से देखकर शरीर के वास्तविक स्वरूप को जानते ही नहीं हैं, शरीर की आन्तरिक प्रक्रिया को बदल भी देते हैं।

शरीर भी संस्कारों का वाहक है

एक घटना को लें। हम समझते हैं कि शरीर का कोई अंग कटकर हमसे अलग हो गया तो अब वह अंग एक मांस का लोथड़ा है, उसमें ऐसा कुछ नहीं रहा जिसे हम अपना विचार या भावना कह सकें। किंतु प्रमाण इसके विरुद्ध है। एक अत्यंत अमीर व्यक्ति की दायें हाथ की अंगुलियां दुर्घटना में कट गयी। उसी समय एक दूसरा व्यक्ति दुर्घटनाग्रस्त होकर मर गया। शल्य चिकित्सकों ने उस व्यक्ति की जो अभी-अभी मरा था हाथ की अंगुलियां काटकर उस अमीर व्यक्ति के हाथ में प्रत्यारोपित कर दी। अमीर व्यक्ति के हाथ में उंगलियां जुड़ गयी और वह उन अंगुलियों से सभी सामान्य कार्य करने लगा। एक दिन उस व्यक्ति को पकड़कर पुलिस ने न्यायालय में पेश किया। आरोप यह था कि उसने कुछ लोगों की जेब से पैसे निकाल लिये थे। यह व्यक्ति साधारण अमीर नहीं था, अरबपति था। उसने दूसरों की जेबों से दस-पांच रुपये ही निकाले थे। पहली बहुत रोचक थी कि एक अरबपति व्यक्ति दूसरों की जेबों से दस-पांच रुपये निकालने का काम करता फिरे—यह बात समझ में आने लायक नहीं थी। खोज की गयी तो यह बात सामने आयी कि इस अरबपति के हाथों में जिस व्यक्ति की अंगुलियां प्रत्यारोपित की गयी थीं वह व्यक्ति पेशेवर जेबकरता था। उसने अपनी उन अंगुलियों से न जाने कितने लोगों की जेब से पैसा निकाला था। जिन अंगुलियों को शल्यचिकित्सकों ने अब उस अरबपति के हाथ में प्रत्यारोपित कर दिया था, उन अंगुलियों में संस्कार था दूसरे की जेब से पैसे निकालने का। वे अंगुलियां अरबपति के हाथ में एक जड़ मांस खण्ड की तरह नहीं आयी अपितु उस जेबकरते के जेब से पैसे निकालने का संस्कार साथ लेकर आयी। अरबपति को मालूम भी नहीं कि उसकी अंगुलियां क्या कर रही हैं किंतु वे जेबों से पैसा निकालने का काम कर रही थीं।

शरीर के मरने पर विचार नहीं मरता

यह घटना कोई आकस्मिक घटना नहीं है, उसके पीछे एक गहरा तथ्य है। जब हम कुछ सोचते हैं तो हमारी वह सोच हमारे शरीर की प्रत्येक कोशिका पर अंकित हो जाती है। यदि वह कोशिका हमसे कटकर अलग भी हो जाये तो भी हमारे उस चिन्तन के संस्कार को अपने साथ ले जाती है। हमारा चिन्तन इस प्रकार हमारे शरीर का रूपान्तर करता रहता है। इस प्रकार हमारा विचार हवा में नहीं खो जाता, शरीर में सुरक्षित रह जाता है। जैन आगमों में भगवती-सूत्र का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसमें बहुत से वैज्ञानिक तथ्यों का संकलन है। भगवती सूत्र कहता है कि यदि एक व्यक्ति मर जाये और श्मशान में पड़ी उसकी हड्डी को शस्त्र रूप में इस्तेमाल करके कोई व्यक्ति किसी प्राणी की हत्या कर दे तो उस हत्या की जिम्मेदारी उस व्यक्ति की मानी जायेगी जिसकी वह हड्डी है। देखने में बात बिलकुल गलत लगती है लेकिन विश्व के नियम बहुत विचित्र हैं। हमारी हड्डी भी हमारे संस्कारों से संस्कारित हुये बिना नहीं रहती। हम हिंसक विचारों को पालते रहते हैं तो वे हिंसक विचार हमारे कण-कण में व्याप्त हो जाते हैं। जिस हड्डी से किसी अन्य व्यक्ति ने किसी को मारा, वह हड्डी किसी अहिंसक व्यक्ति की नहीं हो सकती। जिस व्यक्ति की वह हड्डी है आज वह हड्डी उस व्यक्ति से भले ही जुड़ी हुई नहीं है किंतु वह व्यक्ति अपनी उस हिंसा मनोवृत्ति की जिम्मेदारी से बच नहीं सकता जिसे हिंसा मनोवृत्ति ने उस हड्डी में वे हिंसा तरंगें—(वेव)—पैदा कर दी, जिनसे प्रभावित होकर किसी व्यक्ति को यह सूझा कि वह उस हड्डी को हथियार रूप में इस्तेमाल करके किसी की हत्या कर दे। सूक्ष्म जगत् के नियम बिलकुल अलग भी हैं, बहुत चौंकाने वाले भी हैं।

सूक्ष्म से स्थूल की ओर

वैज्ञानिक जैसे-जैसे सूक्ष्म जगत् में प्रवेश कर रहे हैं, उनके सामने स्पष्ट हो रहा है कि सूक्ष्म स्थूल को कैसे प्रभावित करता है; भाव कैसे हमारे सूक्ष्म शरीर को और सूक्ष्म शरीर कैसे हमारे स्थूल शरीर को प्रभावित करता है। हमारा गहरा दुःख तो एक सूक्ष्म वस्तु है उसका न कोई आकार है न कोई ऐसा चिन्ह जिसे हम देख सकें या छू सकें, दुःख का केवल हम अनुभव कर सकते हैं किंतु वही दुःख तत्काल साकार बनकर आंखों से आंसुओं के रूप में छलक पड़ता है। यह सूक्ष्म द्वारा स्थूल के प्रभावित होने का प्रत्यक्ष प्रमाण है। मजेदार बात यह है कि बिना दुःख के यदि हम आंखों में आंसू लाना चाहे तो आंसू आयेंगे ही नहीं। कुशल अभिनेताओं को भी जब नाटक आदि में रोना

पड़ता है तो कृत्रिम उपायों से ही आंसू लाने पड़ते हैं, स्वाभाविक खुशी के मौके पर भी आंसू आ जाते हैं किंतु दुःख के आंसुओं का और सुख के आंसुओं का रसायनिक विश्लेषण भिन्न होता है।

दर्शन और विज्ञान दोनों कारण-कार्य की शृंखला पर विचार करते समय एक निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कार्य रथूल होता है, कारण सूक्ष्म होता है। एक छोटे से बीज से इतना बड़ा वट वृक्ष उत्पन्न हो जाता है। जब हम अपने कारण की खोज में निकलते हैं तो शरीर का कारण प्राण प्रतीत होता है। जब प्राण के भी कारण की खोज करते हैं तो पता चलता है कि प्राण से सूक्ष्म मन है। जहां मन जाता है वर्ही प्राण जाता है—यह हम पहले ही बता चुके हैं। जब मन की प्रवृत्तियों की भी खोज करते हैं तो पता चलता है कि विचार मन को घुमाते रहते हैं। जब विचारों के मूल की खोज करते हैं तो हम भाव तक पहुंचते हैं। भाव का भी मूल है—चेतना। चेतना से परे कुछ नहीं है—सा काष्ठा सा परागति। यह चेतना पांच कोशों में बंद है—भाव में विचार, विचार में मन, मन में प्राण तथा प्राण में शरीर सन्निहित है। चेतना भाव से भी परे है—भावातीत है। शरीर को अन्नमय, प्राण को प्राणमय, मन को मनोमय, विचार को विज्ञानमय तथा भाव को आनन्दमय कोश कहा जा सकता है। चेतना रुख-दुःख, अनुकूल-प्रतिकूल से परे द्वन्द्वातीत है। उसी चेतना को हमने ऊपर द्रष्टा साक्षी कहा है। हम द्वन्द्व में जीते हैं तो चेतना हमसे चूक जाती है। हम द्वन्द्वातीत साक्षिभाव में जायें तो चेतना के शुद्ध रूप का साक्षात्कार हो, पर सामान्यतः यह यात्रा क्रमशः की जाती है। शरीर से प्राण, प्राण से मन, मन से विचार तथा विचार से भाव तक की यात्रा करनी होती है। तब भावातीत तक पहुंचा जाता है। इस सारी यात्रा में साक्षिभाव ही मुख्य है। शरीर, प्राण, मन, विचार तथा भाव सबको देखें, पर साक्षिभाव से। यही प्रेक्षाध्यान है।

साक्षी द्रष्टा है। दृश्य बदलता है, द्रष्टा वही रहता है। पांच वर्ष की अवस्था में भी मैं अपने को और दूसरों को देख रहा था, आज ६२ वर्ष की अवस्था में भी मैं अपने को और दूसरों को देख रहा हूं। दृश्य बदल गये हैं किंतु द्रष्टा देखने वाला वही है। जिसने पांच वर्ष की अवस्था में देखा था और जो ६२ वर्ष की अवस्था में देख रहा है—वे दोनों एक ही हैं। यह द्रष्टा ही आत्मा है। यह द्रष्टा जब अपने को दृश्य से एकाकार कर लेता है तो लगता है कि द्रष्टा बदल रहा है, क्योंकि द्रष्टा और दृश्य में भेद न कर पाने के कारण दृश्य का बदलना द्रष्टा का ही बदलना समझ लिया जाता है। जब हम द्रष्टा और दृश्य में भेद करते हैं तो पता चलता है कि द्रष्टा नहीं बदला। यही जैन का भेद-विज्ञान है और यही सांख्य की विवेक-ख्याति है; द्रष्टा जब साक्षिभाव

में अपने को दृश्य से अलग करके देखता है तो पता चलता है कि दृश्य आते हैं और जाते हैं किंतु द्रष्टा बना रहता है। यही आत्मा का अजरत्व है और यही अमरत्व है।

वार्धक्य जरा नहीं है

बुद्धापा आता है तो आत्मा बूढ़ी नहीं होती, शरीर बूढ़ा होता है। जो शरीर को ही आत्मा समझ लेते हैं वे बूढ़े होने पर अपने को भी बूढ़ा मान लेते हैं—उनका मनोबल गिर जाता है। जो द्रष्टा को दृश्य से अलग करके देख सकते हैं वे शरीर के बूढ़ा हो जाने पर भी अपने को बूढ़ा नहीं मान बैठते—उनका उत्साह पूर्ववत् ही बना रहता है। बुद्धापे को बतलाने के लिए संस्कृत में दो शब्द हैं—जरा और वृद्धता। शरीर के अवयव एक कालावधि के बाद जीर्ण होना प्रारम्भ होते हैं—उनका यह स्वभाव है। यह जरा है—यह शरीर का धर्म है। किंतु कालावधि के साथ ज्ञान की वृद्धि होती है, यह वृद्धता है—यह आत्मा का धर्म है।

महाकवि कालिदास ने जरा और वृद्धता के बीच भेद किया है। उन्होंने लिखा कि राजा दिलीप का युवावस्था में भी धर्म के प्रति प्रेम था अतः वे जरा के बिना भी वृद्ध हो गये थे—

तस्य धर्मरतेरासीद् वृद्धत्वं जरसा विना ।

दिलीप की अवस्था कम थी अतः उनका शरीर जीर्ण नहीं हुआ था किंतु उनकी बुद्धि में परिपक्वता आ गयी थी कि वे विषयों के प्रति आकृष्ट न होकर धर्म के प्रति ही आकृष्ट होते थे—यही उनकी वृद्धता थी।

मनु ने भी जरा और वृद्धता के बीच भेद किया है। बालों का सफेद होना जरा का लक्षण है किंतु बालों का सफेद होना वृद्धता का सूचक हो यह आवश्यक नहीं। लोग जीर्ण हो जाते हैं किंतु उनमें परिपक्वता नहीं आती तो ऐसे लोगों को हम जरा ग्रस्त तो कहेंगे किंतु वृद्ध नहीं कहेंगे।

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।

यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥

अभिप्राय यह है कि जरा देह की स्थिति है, वृद्धता ज्ञान की स्थिति है।

जरा और वृद्धता में यह भेद होने पर भी दोनों का कोई संबंध न हो—ऐसा नहीं है। मन और शरीर का जो संबंध है उसके कारण जो वृद्धि करते रहते हैं उनका शरीर भी युवा बना रहता है। जिनका वृद्धि करना बंद हो जाता है उनका शरीर भी जीर्ण हो जाता है। जिनके जीवन में कोई प्रयोजन रहता है, उनका जीवन उत्साह से भरा रहता है। जो अपने जीवन को निरर्थक

समझ लेते हैं, वे जल्दी ही जीर्ण होने लगते हैं।

वेद ने एक आज्ञा दी है कि मनुष्य सौ वर्ष तक कर्म करते हुए जीने की इच्छा करे, निकम्मा होकर न बैठ जाये—

कुर्वन्नेवेह कर्मणि जिजीविषेच्छतं समाः ।

हम जिस अंग से काम लेना बंद कर देते हैं, वह अंग जीर्ण होने लगता है। योगासनों से हम शरीर के उन भागों को भी सक्रिय बनाते हैं जो भाग सामान्यतः निष्क्रिय रहते हैं। आज के युग में मशीनों के कारण शरीर से बहुत से काम नहीं करने पड़ते। अतः योगासन और व्यायाम और भी अधिक आवश्यक हो गये हैं। पहले पैदल चलना, कुएं से पानी खींचना, हाथ की चक्की से आटा पीसना आदि व्यायाम स्वयं ही हो जाते थे। आज ये सब व्यायाम प्रायः नहीं हो पाते हैं अतः व्यायाम और योगासन अनिवार्य हो गये हैं।

अभिमान विकास को रोकता है

एक बात और ध्यान में देने की है। परिवर्तन प्रकृति का नियम है। जैन कहते हैं कि उत्पाद, व्यय और ध्रुवता सत् का लक्षण है। बौद्ध तो एक कदम और भी आगे हैं, वे कहते हैं कि सत् क्षणभंगुर है—प्रत्येक क्षण परिवर्तनशील है, उसमें स्थिरता है ही नहीं। परिवर्तन दोनों ही दिशाओं में हो सकता है हम विकास की ओर भी बढ़ सकते हैं, हास की ओर भी जा सकते हैं। यदि हम विकास की ओर गति नहीं करेंगे, तो प्रकृति हमे हास की ओर धकेल देगी। जो अपने को पूर्ण मानने का भ्रम पाल लेते हैं, वे विकास की दिशा में बढ़ने का पुरुषार्थ छोड़ बैठते हैं। यहीं उनके पतन का प्रारम्भ बिन्दु बन जाता है। अभिमान कहें, गौरव कहें, प्रतिष्ठा कहें—ये सब मनुष्य को दुःख की स्थिति में धकेल देते हैं—

अभिमानं सुरापानं
गौरवं घोररौरवं
प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा
त्रीणि त्यक्त्वा सुखी भवेत् ।

मनु ने मनुष्य को सम्मान से सावधान करते हुए सम्मान को मीठा जहर बताया है—

सम्मानादुद्विजेन्नित्यं विषादिव ब्राह्मणः ।

इसके आगे मनु कहते हैं कि अपमान का अमृत के समान स्वागत करना चाहिए—

अपमानस्य चाकाङ्क्षेदमृतस्येव सर्वदा

तपसा निर्जरा

हम सामान्यतः चाहते हैं कि हमें सम्मान मिले किंतु वस्तुतः सम्मान हमारी प्रगति को रोकता है। सम्मान से हम अपने को बहुत बड़ा मानकर पुरुषार्थ करना बंद कर देते हैं। अपमान हमें जगाता है। सामान्यतः मनुष्य अपमान नहीं चाहता किंतु विधायक दृष्टिकोण की बात ही और है। विधायक दृष्टिकोण वाला व्यक्ति उन परिस्थितियों में अनुकूलता ढूँढ़ लेता है जिन परिस्थितियों को सामान्य व्यक्ति प्रतिकूल मानते हैं। यही तप है। हमने ऊपर संस्कारों की चर्चा की है। तप संस्कारों को तोड़ने का एक सशक्त उपाय है। हमारा संस्कार है कि भोजन खाने से शरीर पुष्ट होता है। अतः हम भोजन किए जाते हैं। भूख न लगी हो तो पाचक चूर्ण खाकर कृत्रिम रूप से भूख लगाते हैं कि भोजन न किया तो शरीर निर्बल हो जाएगा? वस्तुतः यह मान्यता एक पक्षीय है। दूसरा पक्ष यह भी है कि बिना भूख के या भूख से अधिक भोजन किया तो शरीर बीमार हो जायेगा, पर प्रायः हमें सत्य का एक ही पक्ष दिखा करता है, दूसरा पक्ष आँखों से ओझल रहता है। यदि मैं घर वालों से यह कहूँ कि मैं आज भोजन नहीं करूँगा तो सब कहेंगे थोड़ा-सा तो खा ही लो नहीं तो शरीर कैसे चलेगा। एक मनुहार नाम की प्रथा है जिसके अन्तर्गत किसी आत्मीय जन को उसके मना करते रहने पर भी बलपूर्वक भोजन की अधिक सामग्री दे देना आत्मीयता का सूचक माना जाता है।

भोजन के प्रति हमारी आसक्ति शरीर के प्रति हमारी आसक्ति की सूचक है। शरीर की प्रथम आवश्यकता भोजन है। भोजन के बिना शरीर नहीं टिक सकता। अतः हम मान लेते हैं कि भोजन न मिला तो शरीर नहीं रहेगा। यह मान्यता झूठ भी नहीं है। झूठी मान्यता यह है कि यदि शरीर न रहा तो हम भी नहीं रहेंगे। हम सदा भोजन करते रहें तो भी शरीर सदा नहीं रहने वाला है। यदि शरीर के मरने का भय ही हमें भयभीत करता रहा तो उस भय से मुक्ति का कोई उपाय नहीं है। मृत्यु के भय से मुक्ति पाने का एक ही उपाय है कि शरीर की मृत्यु को हम अपनी मृत्यु न मानें। यह तब ही संभव है कि हम द्रष्टा को दृश्य से अलग करके देख सकें। उपवास में हम द्रष्टा के उप (निकट) वास करके दृश्य से अपने को भिन्न करने का अभ्यास करते हैं। उससे देहाध्यास का संस्कार दूटता है।

अनुकूलता ढूँढ़ने का और प्रतिकूलता से बचने का संस्कार छोटे से बड़े तक सभी प्राणियों में है। हम सब अनुस्रोतगामी हैं। दुःख से बचने की और सुख

की खोज में हम आजीवन भटकते रहते हैं—नानाविध कष्ट भी सहते हैं। किंतु प्रतिस्रोतगामी सुखों को छोड़कर दुःखों के बीच प्रफुल्लित रहना सीखता है। इस प्रकार वह अपने उन संस्कारों को तोड़ता है जो हमें परिस्थिति का गुलाम बनाते हैं। यही तप का फल है—तपसा निर्जरा च। तप से निर्जरा होती है। निर्जरा का शब्दार्थ तो झाड़ देना है—तप से संस्कार दूर हो जाते हैं। किंतु निर्जरा का दूसरा अर्थ भी संभव है—जरा-हीनता। संस्कारों की गुलामी हमें जरायुक्त कर देती है—कमज़ोर बना देती है। तप द्वारा हम संस्कारों की गुलामी से मुक्त हो जाते हैं तो जरा (निर्बलता) से भी मुक्त हो जाते हैं—यही निर्जरा है। आत्मा पर कर्ममल चढ़ा है जो चेतना को प्रस्फूटित होने से रोक रहा है, तप से वह कर्ममल दग्ध हुआ तो आत्मा का बल (निर्जरस्त्व) प्रकट हो गया।

अपने को दुःख देने में सुख मानना एक मनोरोग माना जाता है किंतु तप अपने को दुःख देना नहीं है, अपने मनोबल को सुदृढ़ बनाना है। एक पहलवान व्यायाम करके अपने को दुःख नहीं देता अपितु अपने शरीर का बल बढ़ाता है। बैठक निकालना कष्टप्रद भी हो सकता है—यदि किसी को सजा के रूप में बैठक निकालने को कह दिया जाये, किंतु बैठक निकालना यदि स्वेच्छा से किया जाये तो वह व्यायाम है। तप में हमें ऊपर से दिखायी देने वाली क्रिया कष्टप्रद प्रतीत होती है किंतु तप करने वाले का आन्तरिक अभिप्राय आत्मबल की वृद्धि करना होता है। यदि ऐसा नहीं है तो वह तप बाल तप है—अज्ञानी का तप है, ज्ञानी का तप नहीं।

प्रवृत्ति में निवृत्ति

शरीर यात्रा के लिए कर्म आवश्यक है। साधु के भी कर्म छूटते नहीं हैं, गृहस्थ की तो बात ही क्या है। सभी कर्म किसी कामना से प्रेरित होकर किये जाते हैं। कामना तो बंधन का कारण है। अतः कर्म—मात्र बंधन का कारण है—एक अपेक्षा से यह बात सच है। किंतु क्या हम कर्म को अकस्मात् छोड़ सकते हैं? ऐसी स्थिति में शास्त्रकारों ने एक मार्ग निकाला कि कर्म करो किंतु साक्षिभाव को भुलाओ मत। कर्म करना—यह प्रवृत्ति है; साक्षिभाव की स्मृति—यह निवृत्ति है। प्रवृत्ति से लोकयात्रा चलेगी, निवृत्ति से हमें अपने अस्तित्व का बोध बना रहेगा। यह साधनामय जीवन शैली का सूत्र है। जब तक सिद्धि प्राप्त नहीं होती तब तक हमें प्रवृत्ति-निवृत्ति के दोनों पंखों पर उड़ान भरनी होगी। प्रवृत्ति के साथ साक्षिभाव बना रहे, अप्रमाद का भाव बना रहे तो प्रवृत्ति निरवद्य है।

पाप वहां है जहां प्रमाद है। जहां प्रमाद नहीं है वहां भय की आवश्यकता नहीं है—अप्यमत्तस्स णत्थि भयं।

अखण्ड है काल और कालातीत है समता

साक्षीचेता आत्मा की महिमा विचित्र है। ज्ञान उसका स्वभाव है। उसके ज्ञान की कोई सीमा नहीं है। उसके जानने में काल बाधक नहीं है। हम भूत और भविष्य को इसलिए नहीं जान पाते हैं कि वे हमारे सामने नहीं हैं। हमारे सामने केवल वर्तमान है किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि वर्तमान में भूत और भविष्य का अस्तित्व ही नहीं है। एक श्रृंखला की कड़ी जो अभिव्यक्त है, वह वर्तमान है। जो कड़ी कभी व्यक्त थी किंतु वर्तमान में अव्यक्त हो गई, वह अतीत है और जो वर्तमान में अव्यक्त है, किंतु भविष्य में व्यक्त हो जायेगी, वह भविष्य है। हमें केवल वर्तमान दिखता है क्योंकि वह व्यक्त है। यदि हमें अव्यक्त को भी जानने की शक्ति प्राप्त हो जाये तो कोई कारण नहीं कि भूत और भविष्य भी न दिखने लगे। ऐसी स्थिति में काल का भूत, भविष्य, वर्तमान के रूप में विभाजन नहीं हो पाता। तब काल एक अखण्ड धारा के रूप में दिखता है जिसमें न भूत है, न भविष्य, न वर्तमान। उस समय काल का अर्थ बदल जाता है। हमारी अल्पज्ञता के कारण हमें भूत, भविष्य और वर्तमान के रूप में काल खण्डित नजर आता है—यह व्यावहारिक काल है। जब काल अखण्ड हो जाता है तो काल का विभाजन नहीं हो पाता—वह पारमार्थिक काल है। हमारा शुद्ध साक्षिरूप कालातीत है—वहां व्यावहारिक काल नहीं है।

व्यावहारिक काल की दृष्टि से कोई परिवर्तन सुखप्रद है, कोई दुःखप्रद है। लाभ सुखप्रद है, हानि दुःखप्रद। जब हमें लाभ दृष्टिगोचर होता है तब हानि नहीं दिखती; जब हानि दिखती है तब लाभ नहीं दिखता। अतः हम कभी सुखी होते हैं, कभी दुःखी। यदि हमें लाभ हानि एक साथ दिखने लगे तो सुख दुःख एक दूसरे को काट देंगे—न्यूट्रोलाईज कर देंगे। उस स्थिति में न हमें सुख होगा न दुःख। यही समता है, यही धर्म का प्रारम्भ बिंदु है और यही धर्म का चरम बिंदु है—समया धर्ममुदाहरे मुणी। समता की स्थिति में हमें परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है किंतु उस परिवर्तन के साथ अनुकूलता या प्रतिकूलता का भाव नहीं जुड़ता। तब द्रष्टा दृश्य से विचलित नहीं होता। हम अल्पज्ञ हैं अतः हमें हानि लाभ एक साथ नहीं दिख सकते किंतु अपने अनुभव से हम यह जान तो सकते ही हैं कि न हानि हमेशा रहने वाली है न लाभ। यहां सब कुछ अनित्य है।

काल चक्र का आवर्तन

काल की एक अवधारणा रेखाकार है। उसमें सदा आगे की ओर ही गति होती है। काल की दूसरी अवधारणा वर्तुलाकार है। उसमें गति आगे भी होती है और पीछे भी; हम शिशु से युवा तथा युवा से बूढ़े हो जाते हैं यह आगे की ओर गति है किंतु जब मरने के बाद अगले जन्म में हम पुनः शिशु बन जाते हैं तो यह काल में पीछे की ओर गति करने का उदाहरण हुआ। ऐसा इसलिए होता है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त काल की वर्तुलाकार गति वाले सिद्धान्त पर आधृत है। सतयुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग के अनन्तर पुनः सतयुग आ जाता है—यह काल में पुनरावर्तन हुआ, जो पहले था वही पुनः आ गया। जैन अवधारणा में उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी के रूप में काल की अवधारणा में भी यही होता है। काल लौटता है तो काल के साथ जुड़ी घटनाओं की भी पुनरावृत्ति हो जाती है। प्रत्येक काल चक्र में चौबीस ही तीर्थकर होते हैं। यह इतिहास की पुनरावृत्ति है। वेद में एक रोचक प्रश्न उपस्थित हुआ। वेद में कुछ इतिहास की बातें आ गई हैं। प्रश्न हुआ कि वेद तो अनादि हैं, फिर उनमें इतिहास कहां से आ गया? उत्तर मिला कि वेद में जिस इतिहास का वर्णन है, यह इतिहास भी अनादि है—प्रत्येक युग में उस इतिहास की पुनरावृत्ति अनादिकाल से हो रही है। इस संसार में नया कुछ भी नहीं है—ऐसा कुछ भी नहीं है जो पहले न हो चुका हो—न हि कदाचिदनीदृशं जगत्।

अजरता अमरता का सूत्र

आज विज्ञान ऐसी बातें करने लगा है कि जो पुराणों में वर्णित घटनाओं से भी अधिक अविश्वसनीय हैं। आईस्टीन का कहना था कि दो जुड़वा शिशुओं में से एक पृथ्यी पर ही रहे और दूसरा प्रकाश की गति से अन्तरिक्ष में यात्रा करने लगे तो कुछ वर्षों के बाद उन दोनों की अवस्था एक जैसी नहीं रहेगी। पृथ्यी वाला बच्चा हमारे वर्षों के हिसाब से बड़ा हो जायेगा किंतु प्रकाश की गति से गति करने वाला शिशु शिशु ही रह जायेगा। यह काल की सापेक्षता सिद्ध करता है। कर्म के क्षेत्र में काल गति करता है, ज्ञान के क्षेत्र में काल स्थिर है। हम शरीर से प्रवृत्ति करते हैं तो शरीर बूढ़ा हो जाता है—काल उस पर अपना प्रभाव दिखा सकता है किंतु हम आत्मा से जानते हैं तो आत्मा बूढ़ी नहीं होती, काल उस पर अपना प्रभाव नहीं दिखाता। जो आत्मा में रमण करते हैं—राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर—उनकी मूँछ, दाढ़ी नहीं दिखायी जाती। ये सभी महापुरुष लम्बी आयु वाले थे। युवा होने पर तो इनकी मूँछ, दाढ़ी भी आयी

होगी और बूढ़ा होने पर सफेद भी हुई होगी। किंतु मूर्तिकार तथा चित्रकार ने इन्हें सदा कुमार दिखाना ही पसन्द किया क्योंकि ये आत्माराम थे, शरीर में इनकी आत्म बुद्धि थी ही नहीं फिर इनके शरीर के बुढ़ापे को दिखाना इनके प्रति न्याय न होता, अतः इन्हें सदा कुमार ही दिखाया गया। देहाध्यास से मुक्त रहना अजरत्व का सूत्र है और कालक्रम में घटने वाली घटनाओं को अपने में घटने वाली घटनायें न मान लेना अमरत्व का सूत्र है। क्योंकि जब तक हम कालचक्र में घूमने के साथ अपना तादात्प्य संबंध मानते रहेंगे तब संसार चक्र से नहीं निकल पायेंगे और “पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्” का नियम हम पर लागू होता रहेगा। इस नियम के ऊपर उठ जाना ही अमरत्व है। वही मोक्ष है।

महाप्रज्ञ उवाच

एक दृष्टि से शरीर आत्मा है। जब तक उसमें प्राण शक्ति का संचार है, तब तक हम शरीर को अनात्मा नहीं कह सकते। अंगुली इसलिए हिलती है कि वह आत्मा है। क्या शरीर का कोई ऐसा प्रदेश है, जहां आत्मा न हो? क्या शरीर का एक भी ऐसा परमाणु है जो आत्मा से भावित न हो? आत्मा है, इसलिए आदमी खा रहा है, बोल रहा है, श्वास का स्पंदन हो रहा है। आत्मा के चले जाने पर आदमी न खा सकता है, न बोल सकता है, और न श्वास ले सकता है। श्वास आत्मा है, भाषा आत्मा है, आहार आत्मा है और शरीर आत्मा है। आहार एक पर्याप्ति भी है और प्राण-शक्ति भी है। शरीर एक पर्याप्ति भी है और प्राण-शक्ति भी है। भाषा एक पर्याप्ति है, तो एक प्राण-शक्ति भी है। मन एक पौद्गलिक शक्ति है, तो वह एक प्राण-शक्ति भी है। हम शरीर और आत्मा को बांट नहीं सकते।

श्वास बांए नथुने से आता है, दांए नथुने से आता है, दोनों नथुनों से आता है, क्यों आता है और क्या परिणाम होते हैं, कोई डाक्टर नहीं बता सकता। परिणाम निश्चित है कि बांए से आप श्वास लें, शरीर में ठंडक व्याप्त हो जाती है, दांए से श्वास लें, शरीर में गर्मी व्याप्त हो जाएगी। दोनों से श्वास लें, सुषुम्ना चले, आपका चित्त शांत हो जाएगा, विकल्प शांत हो जायेंगे। क्यों होता है ऐसा, कोई भी शल्य-चिकित्सक या फिजिशियन इसकी व्याख्या नहीं दे सकता। अध्यात्म का मर्मज्ञ इसकी व्याख्या दे सकता है।

हृदय में प्राण का एक प्रकार का प्रवाह है, नासाग्र में प्राण का एक प्रकार का प्रवाह है, नाभि में प्राण का एक प्रकार का प्रवाह है, गुदामूल में प्राण का एक प्रकार का प्रवाह है और हमारी समूची त्वचा में प्राण का एक प्रकार का प्रवाह है। प्राण में कई प्रवाह हैं। कोई भी डाक्टर नहीं जानता कि ये प्राण के

प्रवाह क्यों हैं ? हैं या नहीं हैं ? अभी यह विज्ञान का विषय ही नहीं बना है ।

जब जब रसायन बदलते हैं, जब जब विद्युत् की धारा का संतुलन विगड़ता है, तब तब शरीर में परिवर्तन आ जाता है। एक आदमी को चौबीस घंटों एक जैसा नहीं पाया जा सकता, न मानसिक दृष्टि से, न शारीरिक दृष्टि से ।

शरीर में अनगिनत रसायन हैं। अनेक वैज्ञानिकों ने खोजने के बाद बताया कि व्यक्ति जो सोचता है, चिन्तन करता है, उसके रसायन सारे शरीर में जमा हो जाते हैं। हमारे एक बाल में सैकड़ों प्रकार के रसायन हैं। सिर के एक बाल में वे सारे रसायन हैं, जो व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति देते हैं। सारा शरीर रसायनों से भरा पड़ा है। दस, बीस या पचास दिन की शरीर प्रेक्षा से उन सब रसायनों को नहीं जाना जा सकता। निरन्तर प्रेक्षा करने से ही उनसे परिचित हो सकते हैं।

सारा जीवन है नाड़ी संस्थान या तंत्रिका तंत्र में। सारा जीवन है ग्रंथि में। हमें मेरुदण्ड, मस्तिष्क और ग्रंथि तंत्र इन तीनों पर नियंत्रण पाना है। मस्तिष्क पर नियंत्रण होगा, तो संवेदनों पर अपने आप नियंत्रण हो जाएगा। मेरुदण्ड पर नियंत्रण होगा, तो संवेग या कषाय पर नियंत्रण हो जाएगा। कषाय पर नियंत्रण करने वाला मस्तिष्क नहीं है।

पृष्ठरज्जू के निचले सिरे से मस्तिष्क तक का स्थान चैतन्य का मूल केन्द्र है। आत्मा की अभिव्यक्ति का यही स्थान है। यही चित्त का स्थान है। यही मन का और इन्द्रियों का स्थान है। संवेदन, प्रतिसंवेदन, ज्ञान सारे यहीं से प्रसारित होते हैं, शक्ति का यही स्थान है। ज्ञानवाही और क्रियावाही तंतुओं का यही केन्द्र-स्थान है।

ऊर्जा के नीचे जाने से पौदगलिक सुख की अनुभूति होती है। ऊर्जा के ऊपर जाने से अध्यात्म सुख की अनुभूति होती है।

नाड़ी-संस्थान जितना मनुष्य का शक्तिशाली है, उतना किसी भी प्राणी का शक्तिशाली नहीं है। जितने प्राणी हैं, उनमें सबसे अधिक शक्तिशाली नाड़ी-संस्थान मनुष्य को मिला है। पशु का नाड़ी-संस्थान उतना कार्यक्षम नहीं है, शक्तिशाली नहीं है। कहा जाता है, देवता भी मनुष्य होना चाहते हैं। मनुष्य होकर साधना करना चाहते हैं। मनुष्य के नाड़ी-संस्थान में दोनों विशेष प्रकार की शक्तियां हैं। ज्ञान की भी शक्ति है और कार्य की भी शक्ति है। उसके ज्ञानवाही तंतु इतने शक्तिशाली हैं कि वह बड़ा ज्ञान उपलब्ध कर सकता है।

हमारा ज्ञान बहुत छोटा ज्ञान है। हम मानते हैं कि आज का युग वैज्ञानिक युग है और इसमें ज्ञान का बहुत विकास हुआ है, किंतु हमारे नाड़ी संस्थान में ज्ञान के अवतरण की जितनी क्षमता है, उसके अनुपात में कुछ अवतरित नहीं हुआ है। आज भी मनुष्य बहुत छोटे ज्ञान तक ही पहुंचा है। इन्द्रियों से परे जो अतीन्द्रिय चेतना है, वह अतीन्द्रिय चेतना जगाई जा सकती है। मनुष्य अतीन्द्रिय चेतना को जगा सकता है और इन्द्रियों की सीमाओं को लांघ कर उन सूक्ष्म शक्तियों को देख सकता है जिन्हें इन्द्रियां कभी भी नहीं देख पातीं। वह इन्द्रियां मन और बुद्धि इन सारी सीमाओं को लांघ कर शक्ति का साक्षात्कार कर सकता है।

साधना के द्वारा यदि आंख की शक्ति का विकास किया जाए, तो हम बहुत-बहुत दूरी तक रिस्त विकास को भी साक्षात् देख सकते हैं। इससे दूरदर्शन संभव हो सकता है। व्यवधान होने पर भी देखा जा सकता है। स्थूल को भी देखा जा सकता है और सूक्ष्म को भी देखा जा सकता है।

सुख-दुख क्या है? इसे समझना होगा। स्पंदनों के साथ मन का योग सुख है और स्पंदनों के साथ मन का योग दुख है। स्पंदनों के साथ यदि मन का योग नहीं होता है तो न सुख का अनुभव होता है और न दुख का अनुभव होता है। प्रिय स्पंदनों के साथ मन का योग होता है तो सुख और अप्रिय स्पंदनों के साथ मन का योग होता है तो दुख। सुख-दुख की जो कल्पना है वह योग के साथ होती है। मन को न जोड़ें, स्पन्दन होते रहें, कोई बात नहीं है, न सुख होगा न दुख।

वर्तमान शरीर में क्या-क्या हो रहा है, उसे देखें, कौन-सा पर्याय चल रहा है? कौन-सा पर्याय नष्ट हो रहा है? कौन-सा पर्याय उत्पन्न हो रहा है? क्या-क्या जैविक और रासायनिक परिवर्तन घटित हो रहा है? हृदय का संचालन कैसे हो रहा है? शरीर के रसायन और विद्युत-प्रवाह किस प्रकार के हो रहे हैं? इन सारी घटनाओं को देखना, वर्तमान को देखना है। शरीर-प्रेक्षा का अभ्यास वर्तमान को देखने का अभ्यास है—न अतीत में जीना और न भविष्य में जीना—केवल वर्तमान में जीना।

प्रयत्न है जीवन की यात्रा को चलाने के लिए। अप्रयत्न है जीवन की सच्चाई को पाने के लिए। प्रवृत्ति है जीवन की यात्रा के लिए और निवृत्ति है जीवन के सत्य को पाने के लिए। जो लोग कर्म करते हैं, किंतु जीवन की सच्चाई को उपलब्ध नहीं कर सकते। जो व्यक्ति जीवन की सच्चाई को पाने के लिए अपनी यात्रा शुरू करता है, वह जीवन की यात्रा को चलाने के लिए

कर्म भी करता है। प्रवृत्ति हमारी जीवन यात्रा का साधन है, साध्य नहीं है। ध्यान करने वाला व्यक्ति प्रवृत्ति को साधन मानता है।

ध्यान से स्नायविक तनाव, मानसिक तनाव और भावनात्मक तनाव कम होते हैं, स्वास्थ्य सुधरता है, रक्तचाप में अंतर आता है, किंतु यदि ध्यान का केवल यही उद्देश्य हो तो उसकी उपयोगिता सीमित हो जाएगी। किंतु हमने ध्यान का जो उपक्रम प्रारम्भ किया है, वह कुछ विशिष्ट उद्देश्य से किया गया है। उसमें शारीरिक स्वास्थ्य भी एक है। शारीरिक स्वास्थ्य भी कम मूल्यवान् नहीं है, किंतु सबसे अधिक मूल्यवान् है अपने अस्तित्व का बोध। दुःखों को समाप्त करने का एक मात्र साधन है—अस्तित्व की उपलब्धि।

अस्तित्व के बोध का अर्थ है स्वयं का अनुभव, चेतना के संवेदनों का अनुभव, निर्मलीकरण और ऊर्ध्वीकरण। आज धार्मिक लोग आत्मा के प्रश्न को शास्त्रों के माध्यम से हल करना चाहते हैं, तर्क के द्वारा समाधान देना चाहते हैं, आत्मा को वाचिक प्रयत्नों के द्वारा, वाङ्मय द्वारा जानना चाहते हैं, यह विचित्र स्थिति है। एक ओर यह कहा जाता है कि आत्मा तर्कातीत, पदातीत और शब्दातीत सत्य है, दूसरी ओर हम उसे तर्क के द्वारा, पद के द्वारा, शब्द के द्वारा पाना चाहते हैं। यह कितना विरोधाभास है। आत्मा को हम स्वयं खोजें। जब तक हम स्वयं नहीं खोजेंगे, तब तक पता नहीं चलेगा। ध्यान का प्रयोग किया, अपनी अन्तर्श्चेतना को जगाया, साक्षात्कार किया और जाना कि आत्मा है, तब वह अपनी सच्चाई बन जाती है, अनुभव की सच्चाई बन जाती है।

हमने हजारों प्रकार के भय पाल रखे हैं। भय इसलिए पल रहे हैं कि उनकी पृष्ठभूमि में ममत्व की भावना है। हम इतना घबरा रहे हैं कि जो प्रिय है वह छूट न जाए।

विषयों के संरक्षण का ध्यान, पदार्थों को प्राप्त करने का ध्यान तथा उसकी सुरक्षा का ध्यान—यह ध्यान निरन्तर चल रहा है, दिन-रात चल रहा है। यह ध्यान सोते भी चलता है और जागते भी चलता है। प्रेक्षा-ध्यान केवल जागृत अवस्था में ही चलता है, सोते नहीं चलता। आर्त और रौद्र ध्यान निरन्तर चलने वाले ध्यान हैं। आप इस प्रकार के ध्यान के अभ्यस्त हैं। शरीर-प्रेक्षा द्वारा अनुराग की दिशा जो व्यक्ति के साथ, पदार्थ के साथ जुड़ रही है उसको बदलकर अपने अस्तित्व के साथ जोड़ देना है। हमारा सारा आकर्षण, हमारी सारी श्रद्धा पदार्थ के प्रति है, दूसरे के प्रति है, अपने प्रति नहीं।

क्या जो आर्त और रौद्र ध्यान से हटकर धर्म ध्यान में प्रवेश करता है—वह पदार्थ से विमुख हो जाता है? ऐसा नहीं होता। क्या ध्यान करने वाला व्यक्ति गृहस्थी को नहीं निभाएगा? रोटी नहीं खाएगा? पानी नहीं पिएगा? कपड़े नहीं पहनेगा? मकान नहीं बनाएगा? परिवार का भरण-पोषण नहीं करेगा? पदार्थ को नहीं छोड़ा जा सकता, उसके प्रति रहे मिथ्या दृष्टिकोण को छोड़ा जा सकता है। हम जो दिशा-परिवर्तन ध्यान द्वारा चाहते हैं, वह है—पदार्थ-पदार्थ रहे, व्यक्ति व्यक्ति रहे। पदार्थ और व्यक्ति के बीच संबंध स्थापित हो, परस्पर घनिष्ठता न हो। हमारी सम्यग् दृष्टि जागे। हम पदार्थ को पदार्थ की ही दृष्टि से देखें, उसकी उपयोगिता को समझें, उसका उपयोग मात्र करें, किंतु उसके साथ ममत्व नहीं करें, एकता की अनुभूति न करें। पदार्थ नहीं मिटेगा। न पदार्थ को मिटाना है और न सम्पत्ति को मिटाना है। किंतु पदार्थ और संपत्ति के साथ जो हमारा अनुबंध है, उसे तोड़ना है।

मन स्वतंत्र नहीं है। शरीर मन को पैदा करता है। वचन स्वतंत्र नहीं है। शरीर वचन को पैदा करता है। हमारा स्वर तंत्र वाणी को पैदा करता है। हमारा श्वास तंत्र श्वास के क्रम को चलाता है। श्वास स्वतंत्र नहीं है। शरीर श्वास को उत्पन्न करता है। हमारा मरितिष्क मन को पैदा करता है। इन सबको पैदा करने की पूरी की पूरी व्यवस्था हमारे शरीर में है। शरीर इन सब को पैदा करता है। यह शरीर शास्त्रीय दृष्टिकोण है। अध्यात्म का शास्त्रीय दृष्टिकोण दूसरा है। जैन आगमों के अनुसार जितने परमाणु, जितने पुदगल बाहर से लिये जाते हैं, उनको लेने का एकमात्र माध्यम है—हमारा शरीर। वास्तव में चंचलता का एकमात्र सूत्र है—शरीर। शरीर वचन के परमाणु लेता है। वचन के परमाणुओं को भाषा के रूप में बदलता है। जब वचन के परमाणुओं का विसर्जन होता है, विस्फोट होता है, तब भाषा शब्द में सुनाई देती है। उस क्षण का नाम “वचन” है। शेष सारा काम शरीर को ही करना पड़ता है। सारी की सारी वचन की प्रक्रिया शरीर निभाता है, पूरा उत्तरदायित्व शरीर का है। इसलिए वचन को शरीर से सर्वथा पृथक् नहीं किया जा सकता। शरीर का एक भाग है मन। मन के परमाणुओं को शरीर ग्रहण करता है। मन के परमाणुओं को चिन्तन के रूप में शरीर बदलता है। केवल मानसिक परमाणुओं का विसर्जन होता है, उस क्षण का नाम है—मन, और सारा दायित्व यह शरीर निभाता है। सारा चिन्तन का भार, यह शरीर निभाता है। वास्तव में एक ही तत्त्व है—शरीर। श्वास, मन, वचन—ये सारे शरीर के ही एक भाग मात्र हैं। इनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। ऐसा नहीं हो सकता कि शरीर के बिना

कोई चिंतन करे। अशरीरी चिंतन, अशरीरी वाणी और अशरीरी श्वास कभी भी उपलब्ध नहीं होगा। यह सब शरीर के द्वारा ही घटित हो रहा है। इस परम सत्य को जान लेने के बाद उस उत्तर के लिए जिज्ञासा शेष नहीं रहेगी कि चिंत की शुद्धि के लिए शरीर की स्थिरता क्यों जरूरी है? जब शरीर चंचल होता है तो मन की चेतना बाहर जाती है। शरीर जैसे ही स्थिर हुआ, निश्चल हुआ, शांत वातावरण, इन्द्रिय चेतना लौट आती है, मानसिक चेतना भी लौट आती है। प्रतिक्रमण शुरू हो जाता है। चेतना का बाहर जाना अतिक्रमण है, चेतना का फिर अपने भीतर आ जाना प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण अपने आप शुरू हो जाता है।

हम जब प्रतिक्रमण की स्थिति में होते हैं, चेतना तब भीतर लौटती है और बाहर से चेतना का सम्पर्क टूटता है। चिंत जब भीतर ही देखने लगता है, अपनी सारी शक्ति का नियोजन भीतर होता है, उस समय सबसे पहले श्वास का दर्शन होता है, सहज भाव से श्वासप्रेक्षा हो जाती है। जरूरत नहीं सुझाव की। कुछ कहने की जरूरत नहीं, चेतना भीतर लौटी, पहला कार्य होगा श्वास दर्शन। अपने आप पता चलेगा कि इस शरीर के भीतर एक घटना घट रही है। पहली घटना—शरीर स्थिर, शांत किंतु श्वास चल रहा है, बहुत मंद गति से चल रहा है। दीर्घश्वास अपने आप हो जाएगा। दीर्घश्वास, मंदश्वास—यह सहज नियम है शरीर का। जब शरीर की चंचलता होगी, श्वास छोटा होगा। शरीर की स्थिरता होगी श्वास लम्बा हो जाएगा, दीर्घ हो जाएगा। श्वास की स्थिरता शरीर की स्थिरता पर निर्भर है। शरीर जितना चंचल होता है, श्वास की गति बढ़ती जाती है, संख्या बढ़ती जाती है, श्वास छोटा होता चला जाता है। एक मिनट में १७ श्वास लेने वाला व्यक्ति जब शरीर की चंचलता को बढ़ाता है, तो श्वास की संख्या भी २०, २४, ३० से आगे बढ़ती चली जाती है। ६०, ७० तक भी चली जाती है। शरीर शांत हुआ, श्वास की संख्या कम होने लग जाएगी, लम्बाई बढ़ जायेगी, श्वास अपने आप मंद हो जाएगा। यह श्वास की मंदता का नियम स्थिरता के साथ जुड़ा हुआ है।

शरीर प्रेक्षा की बात सुनकर आपको अटपटा सा लगता होगा। आए थे ध्यान सीखने और हमें सिखाया जा रहा है शरीर को देखना। ललाट और भौंहों को देखो, आंख और कान•देखो। यह सब एक कांच में देखा जा सकता है। दर्पण में शरीर को देखने वाले चमड़ी को देखते हैं, रंगरूप को देखते हैं, आकृति को देखते हैं, बस इतना ही देख पाते हैं। क्या कभी आपने चमड़ी के भीतर क्या है, देखा है? क्या प्राण के प्रवाह से होने वाले प्रकम्पनों और स्पंदनों

को पकड़ा है? नहीं, इन्हें जानने का प्रयत्न कौन करे? प्राण के नीचे जो चेतना की सक्रियता है, चेतना का प्रवाह है, आदमी कभी उस ओर ध्यान नहीं देता। शरीर प्रेक्षा इसलिए नहीं की जाती कि रंगरूप को देखा जाए, पर इसलिए की जाती है कि इस मांस और चमड़ी के पुतले के भीतर जो प्राण और चेतना का प्रवाह है, उससे सम्पर्क स्थापित हो। उसका साक्षात् अनुभव करने का एक उपाय है—शरीर प्रेक्षा। यह समाधि तक पहुंचने का उपाय है। हम इस उपाय का आलम्बन कर लें।

चेतना के बाह्यतम स्तर से प्रारम्भ कर, हम क्रमशः भीतर से भीतर गहरे में उतरें। अर्थात् हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलें। पहले शरीर के स्थूल कम्पनों का साक्षात्कार करें। फिर शरीर के भीतर होने वाले सूक्ष्म परिणामों का साक्षात्कार करें, रसायनों का साक्षात्कार करें। शरीर को संचालित करने वाली विद्युत् का साक्षात्कार करें, फिर उन सबको संचालित करने वाली प्राण-धारा का साक्षात्कार करें। जब इन सबका साक्षात्कार करते हैं, तो सूक्ष्म शरीर का साक्षात्कार होने लग जाता है। उसके पश्चात् अतिसूक्ष्म-शरीर में होने वाले प्रकम्पनों का भी साक्षात्कार होने लगता है; कर्म-संस्कारों का साक्षात्कार होने लग जाता है। अन्ततोगत्वा चैतन्य का साक्षात्कार होता है, आत्मा का दर्शन होता है।

शरीर को तब देख सकते हैं जब शरीर-प्रेक्षा का अभ्यास करें। जो व्यक्ति शरीर-प्रेक्षा का अभ्यास नहीं करता, वह शरीर को नहीं देख सकता। एक-एक अवयव पर चित्त को ले जायें। बाहर और भीतर चित्त को टिकायें, एकाग्र करें। शरीर के भीतर जो प्राण के प्रकम्पन हैं उनकी प्रेक्षा करें, उनको देखें।

शरीर का जितना आयतन है, उतना ही आत्मा का आयतन है। जितना आत्मा का आयतन है उतना ही चेतना का आयतन है। इसका तात्पर्य यह है कि शरीर के कण-कण में चैतन्य व्याप्त है। इसलिए शरीर के प्रत्येक कण में संवेदन होता है। संवेदन से चित्त अपने स्वरूप को देखता है, अपने अस्तित्व को जानता है, और अपने स्वभाव का अनुभव करता है। शरीर में होने वाले संवेदन को देखना, चैतन्य को देखना है। उसके माध्यम से आत्मा को देखना है।

शरीर के स्थूल और सूक्ष्म स्पंदनों को देखते हैं, शरीर के भीतर जो कुछ है उसे देखने का प्रयत्न करते हैं। हमारी कोश-स्तरीय चेतना, जो हर कोश के पास है, उसे हम प्रेक्षा के द्वारा जागृत करते हैं। चेतना के जो कोश सोए हुए

हैं, कुण्ठित हैं, उन्हें जागृत करते हैं। शरीर का प्रत्येक कण चित्त के निर्देश को स्वीकार करने के लिए तत्पर है कि वह जाग जाए और मन के साथ उसका संबंध सूत्र जुड़ जाए। किंतु जब जागने का प्रयत्न नहीं होता तब वह मूर्च्छा में रह जाते हैं और ऐसी स्थिति में चित्त का निर्देश पहुंच नहीं पाता, वे निष्क्रिय ही बने रह जाते हैं। स्थूल शरीर के भीतर तैजस और कर्म ये दो सूक्ष्म शरीर हैं, उनके भीतर आत्मा है। स्थूल शरीर की क्रियाओं और संवेदनों को देखने का अभ्यास करने वाला क्रमशः तैजस और कर्म शरीर को देखने लग जाता है। शरीर प्रेक्षा के दृढ़ अभ्यास और मन के सुशिक्षित होने पर शरीर में प्रवाहित होने वाली चैतन्य की धारा का साक्षात्कार होने लग जाता है। जैसे-जैसे साधक स्थूल से सूक्ष्म दर्शन की ओर आगे बढ़ता है वैसे-वैसे उसका अप्रमाद बढ़ता जाता है।

शरीर प्रेक्षा का अभ्यास इसलिए करते हैं कि कोई ऐसी घटना घटित हो जाए जिससे शरीर के भिन्न अपने चैतन्य का बोध हो जाए, उसकी झलक मिल जाए। शरीर को देखते-देखते प्राण का प्रवाह पकड़ में आ जाए। प्राण के प्रवाह को देखते-देखते सूक्ष्म शरीर के प्रकम्पन पकड़ में आ जाए और उसके आगे सूक्ष्मतम् कर्म शरीर के प्रकम्पन अनुभव में आने लग जाए। चैतन्य के स्पंदन भी अज्ञात न रहें। जब आनन्द का वह महास्रोत हमारे पकड़ में आ जाता है तब बाहर का जगत् फीका लगने लग जाता है। हमारी समस्याएं इसलिए उभरती हैं कि हम बाह्य जगत् में अधिक जीते हैं, आंतरिक जगत् में जीने का प्रयास नहीं करते। जब तक भीतर के दरवाजे नहीं खुलते तब तक हमारी अपार संपदा का भान नहीं होता। भीतर के शब्द इतने सुखद हैं, भीतर की गंध इतनी मीठी है, भीतर का रूप इतना मोहक है, इनका हमें तब तक अनुभव नहीं होता, जब तक हम भीतरी दरवाजों और खिड़कियों को खोल नहीं देते। जब तक भीतर के शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श और आनन्द का अनुभव नहीं होता, तब तक आदमी कितना ही पढ़े, ज्ञान करे, सुने, उसका आकर्षण बाह्य जगत् में ही होगा। इस आकर्षण को तोड़ा नहीं जा सकता। धर्म का कितना ही उपदेश सुने, धर्म के क्रियाकाण्डों की उपासना करे, किंतु जब तक भीतर का जागरण घटित नहीं होगा, भीतर की झलक नहीं मिलेगी, तब तक आकर्षण बाहर ही जाएगा, भीतर नहीं। कान की बात कान तक पहुंच कर रह जाएगी, और मस्तिष्क के तंतुओं को झंकृत कर समाप्त हो जाएगी। वह भीतर तक नहीं पहुंच सकेगी। भीतर का साम्राज्य अनोखा है, उसका अपना सिद्धान्त है, नियम है, अनुभव है, उसकी व्याख्या और परिभाषा दूसरी है।

शरीर तंत्र चल रहा है। मानव की कोई विशालतम फैकट्री चल रही हो। शरीर में हजारों-हजारों परिणाम घटित हो रहे हैं, हजारों घटनाएं घटित हो रही हैं। फिर भी मनुष्य को कुछ भी पता नहीं है। वह जान ही नहीं पाता कि कुछ हो रहा है। इसका कारण है कि संवेदन को पकड़ नहीं पाता। बहुत गहरा ध्यान देने पर ही पता लगता है कि शरीर के भीतर कितनी सक्रियता है। नाड़ी चल रही है। रक्त का संचरण हो रहा है, हृदय धड़क रहा है, मन के सूक्ष्म हुए बिना इन सबका पता ही नहीं चलता। हमारा मन भी इतना स्थूल हो गया है कि वह स्थूल को ही पकड़ पाता। सूक्ष्म को पकड़ने के लिए मन को सूक्ष्म बनाना पड़ता है। साधना का क्रम मन को सूक्ष्म बनाने का क्रम है। मन की यात्रा जैसे-जैसे आगे बढ़ती जाएगी, मन सूक्ष्म होता जाएगा। और फिर हम सूक्ष्म को पकड़ने में सक्षम हो जाएंगे। जब सूक्ष्म की पकड़ होगी तो स्थूल की पकड़ छूटेगी, तब स्थूल संवेदन छूटते जाएंगे और सूक्ष्म संवेदन हस्तगत होते जाएंगे।

हमारा शरीर तो इतना छोटा, पतला और संकरा है कि वहां तो गहराई जैसी कोई बात नहीं है। यदि हम चर्मचक्षु से देखेंगे, तो गहराई की बात समझ में नहीं आएगी। किंतु जब हम चेतना की परतों को देखते हैं, सूक्ष्म जगत् में प्रवेश करते हैं तो हमें पता चलता है कि इस शरीर के भीतर कितनी गहराइयां हैं, जितनी दुनिया में किसी वस्तु की नहीं है। इन सारी गहराइयों को पार करने के लिए पूरा प्रयत्न करना होगा, अनायास कुछ भी उपलब्ध नहीं होगा।

शरीर प्रेक्षा केवल दर्शन का अभ्यास है। केवल देखना हो, उसके साथ कोई प्रियता का या अप्रियता का संवेदन न हो, रागद्वेष की कोई ऊर्मि या तरंग न हो। शरीर प्रेक्षा निस्तरंग दर्शन है चेतना का। सामान्यतः व्यक्ति कि दृष्टि केवल प्रियता और अप्रियता के साथ जुड़ी हुई है, उसके परे की बात वह सोच ही नहीं सकता। इस द्वन्द्व-प्रियता-अप्रियता-से परे गए बिना परिवर्तन घटित नहीं होता। इस द्वन्द्व से परे दृष्टि का निर्माण शरीर प्रेक्षा से होता है।

आंखों से देखना देखना नहीं है। जब हमारी चित्त की प्रवृत्ति होती है, चित्त सक्रिय होता है, किंतु उसके साथ कोई विकल्प नहीं होता, कोई शब्द नहीं होता, कोई कल्पना नहीं होती, कोई विचार नहीं होता, कोई चिंतन नहीं होता, कोई मनन नहीं होता, कोई स्वप्न नहीं होता, कोई स्मृति नहीं होती। उस चित्त की सक्रियता का नाम है देखना। देखने में केवल देखना होता है। कोरा अनुभव होता है। चित्त को शरीर के एक-एक अवयव पर ले जाकर वहां पर होने वाले परिणमन, स्पंदन और प्रकंपन आदि को द्रष्टा भाव से देखना है।

आदमी बीमार क्यों होता है। एक डाक्टर कहेगा कि जर्म्स (कीटाणुओं) के कारण होता है। रोग-निरोधक शक्ति कम हो जाती है, इसलिए बीमार होता है। एक आयुर्वेदिक चिकित्सक कहेगा कि वात, पित्त और कफ की गड़बड़ी से बीमार होता है। किंतु अध्यात्म की साधना करने वाला व्यक्ति इन दोनों बातों को स्वीकार नहीं करेगा। उसका उत्तर होगा कि प्राण शक्ति में असंतुलन होता है इसलिए मनुष्य बीमार होता है। यदि प्राण शक्ति का संतुलन बना रहे, तो आदमी बीमार नहीं हो सकता। असंतुलन ही मनुष्य को बीमार बना रहा है। कहीं प्राण अधिक हो गया है कहीं कम हो गया है। संतुलन बिगड़ गया। पूरे शरीर में प्राण-धारा का एक संतुलन होना चाहिए। शरीर में चित्त का प्रवाह संतुलित रहना चाहिए। वह संतुलन बिगड़ा और आदमी बीमार बन गया। दर्द होता है, शरीर निकम्मा हो जाता है, काम करने की शक्ति किसी अवयव की कम हो जाती है, पीड़ा होती है, वेदना होती है। प्रेक्षा करने वाला पूरे शरीर को देखता है। सिर से पैर तक देखता है। देखने का मतलब है जहाँ चित्त जाता है वहाँ प्राण जाता है। चित्त और प्राण दोनों साथ-साथ जाते हैं। चित्त जहाँ केन्द्रित होता है, प्राण को उसके साथ जाना ही होगा। प्राण चित्त का अनुचारी है, अनुगमी है। पूरे शरीर में प्राण की यात्रा होती है। जो संतुलन बिगड़ गया होता है वह संतुलन फिर ठीक हो जाता है। पूरा शरीर प्राण से भर जाता है। शरीर-प्रेक्षा का पहला उद्देश्य है—प्राण का संतुलन। उसकी निष्पत्ति है—प्राण का संतुलन। प्राण बिलकुल संतुलित हो जाता है। शरीर प्रेक्षा के द्वारा पूरे शरीर में व्याप्त चैतन्य को संतुलित किया जा सकता है। ज्ञान तंतुओं एवं कर्म तंतुओं की क्षमता बढ़ाई जा सकती है। परिणाम स्वरूप जहाँ चेतना पर आया हुआ आवरण दूर होता है वहाँ साथ ही प्राण शक्ति, ज्ञान-तंतुओं एवं कर्म-तंतुओं के पर्याप्त उपयोग, माँसपेशियों एवं रक्त संचार (blood circulation) की क्षमता में संतुलन के माध्यम से अभीष्ट मानसिक व शारीरिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

जिस व्यक्ति की प्रतिरोधात्मक शक्ति प्रबल होती है, वह बीमार नहीं होता। जिस व्यक्ति की रोग-प्रतिरोधात्मक शक्ति मजबूत है, उसे कीटाणु सताने का प्रयत्न करते हैं, पर सता नहीं पाते क्योंकि शरीर की प्रतिरक्षात्मक प्रणालियां सक्रिय हो जाती हैं। शरीर में सफेद रक्त कणिकाएं, और अन्य रक्षात्मक पदार्थ उत्पन्न करने की शक्ति बढ़ जाती है। हम शरीर-प्रेक्षा के द्वारा रोग-प्रतिरोधक शक्ति को सक्षम बनाते हैं, उसकी एक मजबूत दीवार खड़ी करते हैं जिससे कि कोई आक्रमण सफल न हो पाये।

हम शरीर-प्रेक्षा के द्वारा नाड़ी-संस्थान को जागृत कर लेते हैं। यह जागरण बहुत महत्त्वपूर्ण है। नाड़ी-संस्थान जितना मजबूत होता है उतना ही मजबूत वह व्यक्ति होता है। मांस और हड्डियाँ ये तो नाड़ी-संस्थान की रक्षा करने वाले साधन हैं। महत्त्वपूर्ण है नाड़ी-संस्थान। ज्ञानवाही और क्रियावाही नाड़ियों का ही सारा कर्तृत्व है। हम शरीर-प्रेक्षा के द्वारा स्नायुओं को इतना जागृत कर लें कि वे हमारे सभी निर्देशों का अवश्य पालन करें और वे भीतर से आने वाले प्रवाह को बाहर न आने दें, प्रकट न होने दें। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य शरीर-प्रेक्षा की अच्छी निष्पत्ति है।

शरीर-विज्ञान के अनुसार शरीर की सामान्य स्वरथ दशा (होमियोस्टासिस) का आधार है—शरीरस्थ स्वायत्त नाड़ी-तंत्र की दो धाराओं—अनुकम्पी (सिम्पैथेटिक) और परानुकम्पी (पैरासिम्पैथेटिक) संस्थान के बीच संतुलन बनाए रखना। यह संस्थान शरीर की समस्त स्वतःचालित क्रियाओं का नियमन करता है। जैसे—फुफ्फुस, आमाशय और पाचन तंत्रीय अवयव, हृदय-गति, रक्त-चाप, रक्त में शर्करा की मात्रा आदि। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो शरीर के सारे आन्तरिक क्रिया-कलापों को यह संचालित करता है। अब जिस समय शरीर-प्रेक्षा के दौरान चित्त किसी अवयव-विशेष या हिस्से पर ज्योंही केन्द्रित होता है, चित्त की संकल्प-शक्ति का नियंत्रण स्वायत्त (अवचेतन) क्रिया पर हो जाता है। अब चित्त स्वयं उसका संचालक बन जाता है। उदाहरणार्थ, श्वास-प्रेक्षा में चित्त का नियंत्रण श्वास-नियमन केन्द्र (जो मस्तिष्क के आयताकार अन्तःस्था नामक हिस्से में—मस्तिष्क के पीछे के हिस्से में—सुषुम्नाशीर्ष में है) पर होने लगता है। शरीर-प्रेक्षा में चित्त हृदय की गति पर ज्योंही केन्द्रित होता है, प्राणदा नाड़ी (वेगस नर्व) जो हृदय का नियंत्रण करती है, को चित्त की जागरूकता से प्रभावित किया जा सकता है। प्रारम्भिक अभ्यास-दशा में यद्यपि अवबोध या अनुभूति उतनी तीव्र या शक्तिशाली नहीं होती जिससे कि नियंत्रण सध सके। फिर भी चित्त (ध्यान) को शरीर के विभिन्न अंगोपांगों पर केन्द्रित करना बहुत ही आवश्यक है, जिससे कि हम चित्त (चेतन मन) को हमारी चेतना के उन अन्य अंगों के साथ जोड़ सकें, जो अवचेतन रूप में हमारे शरीर के तापमान आदि को सामान्य बनाए रखते हैं या पाचन आदि क्रियाओं का नियमन करते हैं। केवल यही रास्ता है चेतन और अवचेतन मन के बीच एक सामृज्यस्य पैदा करने का जिससे शरीर के तनाव आदि दूर होकर उसकी स्वरथ दशा का निर्माण होता है।

व्याधि हमारी शारीरिक बीमारी है, आधि हमारी मानसिक बीमारी है और उपाधि हमारी भावनात्मक बीमारी है। प्रश्न होता है कि व्याधि कैसे मिटे? क्या शरीर-प्रेक्षा व्याधि को मिटाने की पद्धति है? हां, यह व्याधि को मिटाने की प्रक्रिया है, किंतु है परोक्ष प्रक्रिया। डॉक्टर व्याधि की दवा देता है, शरीर-प्रेक्षा में व्याधि की दवा नहीं दी जाती, उपाधि को मिटाने की दवा दी जाती है। उपाधि के उपचार से आधि मिटती है, इसलिए व्याधि मिटती है।

शरीर-प्रेक्षा की एक और निष्पत्ति है—प्रतिस्रोतगमिता। निरन्तर दूसरों को देखने के कारण हमारी दृष्टि ऐसी बन गई कि हम अपने आपको देखना भूल गए। हम भूल गए कि अपने आपको भी देखना चाहिए। शरीर-प्रेक्षा अपने आप को देखने की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया प्रतिस्रोत की चेतना का निर्माण करती है जिससे यह फलित होता है कि दूसरों को देखना बंद करें और स्वयं को देखें। ध्यान के प्रारम्भ में हम संकल्प-सूत्र द्वारा दोहराते हैं—“स्वयं को देखें। अपने आप को देखने के लिए ही प्रेक्षा-ध्यान का अभ्यास करें।” यह सूत्र इसलिए बार-बार दोहराते हैं कि हमारे भीतर प्रतिस्रोत-चेतना का निर्माण हो।

शरीर-प्रेक्षा का मूल्य इसलिए है कि वह वर्तमान में लाभ का अनुभव कराता है। इससे हमारी चेतना का जागरण होता है, निर्मलता बढ़ती है, आनंद का स्रोत फूटता है और निर्मलता का—हल्केपन का अनुभव होता है।

सबसे सरल क्या है जो बिना किए होता है? वह है बुढ़ापा। इसे कोई चाहता नहीं और इसके लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। यह बिना प्रयत्न किए अपने आप उतरता है। इंद्रियों की शक्ति का नाम है यौवन और इनकी शक्तियों का क्षीण होना है बुढ़ापा। बुढ़ापे का पहला लक्षण है—अकड़ना, धमनियों का अकड़ना, हड्डियों का अकड़ना, रीढ़ की हड्डी का अकड़ना। अकड़न का नाम है बुढ़ापा। बुढ़ापे का दूसरा कारण है पाचक रसों की कमी। जैसे-जैसे अवस्था बीतती है, पाचक रस कम होने लग जाते हैं। न तो लीवर उतना पाचक रस छोड़ता है, न पेन्क्रियाज ठीक काम करते हैं, न आमाशय, न पक्वाशय और न आंतें उतना ठीक काम करती हैं। वे घिस जाती हैं, क्षीण हो जाती हैं। उस अवस्था में पाचक रस तो कम बनते हैं और खाना और भारी हो जाता है। खाने की चीजें भारी हो गई तो बुढ़ापा और जल्दी आएगा और आएगा वह भी दुःख देने वाला आएगा।

बुढ़ापे का तीसरा कारण है आवेश। क्रोध का आवेश, भय का आवेश और काम का आवेश—ये आवेश जितने तीव्र होते हैं, उतना ही बुढ़ापा दुःखदायी बनता है। चिंताएं भी बहुत रहती हैं। नियंत्रण की शक्ति कमजोर

होने से बार-बार गुस्सा करता है और उत्तेजना में आ जाता है। जो आदमी बार-बार क्रोध करेगा, उसका पाचक रस बिगड़ जाएगा, हृदय की गति बिगड़ जाएगी और फेफड़ा कमजोर हो जाएगा।

वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि ध्यान, व्यायाम और आहार का संतुलन—ये तीन ऐसे उपाय हैं, जिनसे बुढ़ापे को रोका जा सकता है। अगर आसन और प्राणायाम का नियमित प्रयोग चलता रहे, तो शायद आने वाले अनेक बीमारियों और बुढ़ापे के कष्टों से आदमी बच सकता है।

शरीर-प्रेक्षा और श्वास-प्रेक्षा की जाए तो इस प्रकार की चेतना का निर्माण हो सकता है कि बहुत सारे मानसिक आघातों से आदमी बच सकता है। यदि कायोत्सर्ग के प्रयोग निरन्तर चलें, तो भावनात्मक समस्याओं से बच सकता है और काफी समस्याओं से अपने आपको बचा सकता है।

शरीर-प्रेक्षा की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण निष्पत्ति है—चेतना के साथ जुड़ी हुई आस्था का निर्माण। उस आस्था के आधार पर संचालित होने वाली नई आदतों का निर्माण।

शरीर-प्रेक्षा के द्वारा हम विषों और मलों को दूर कर चेतना का परिष्कार करें। शरीर में जब मल जमा हो जाते हैं, तो सारा शरीर मलमय बन जाता है। जब हमारा उत्सर्जन तंत्र अवरुद्ध हो जाता है, तब शरीर में विष जमा होते हैं। जब मल-निष्कासन का मार्ग साफ रहता है, तब जीवन की यात्रा निर्बाध रूप से चलती रहती है। शरीर-प्रेक्षा उत्सर्जन-तंत्र को सक्रिय एवं सक्षम बनाए रखने में सहायक होती है, जिससे कि शरीर का विष विसर्जित हो जाए।

जो घटनाएं घटित होने वाली हैं, वे अवश्य घटेंगी, उनका हमें बोध भी होगा, किंतु उनके साथ न सुख आएगा, न दुःख। शरीर-प्रेक्षा के साधक केवल जानते रहेंगे, कर्तव्य का पालन करते रहेंगे, चिंतन करेंगे किंतु चिंतित नहीं बनेंगे। संताप को इकट्ठा नहीं करेंगे, संतप्त नहीं बनेंगे।

व्यवहार खण्ड

समाज

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

सामाजिक-आर्थिक तंत्र के चार मॉडल

विश्व में तीन संस्कृतियों की चर्चा प्रासंगिक है। व्यक्ति को केन्द्र में रखने वाली संस्कृति भारतीय संस्कृति है। परिवार को इकाई मानकर चलने वाली संस्कृति चीन की है और समाज को मुख्य मानकर चलने वाली संस्कृति यूनान की है। भारतीय संस्कृति में उपनिषद्, पाली त्रिपिटक और जैन आगम व्यक्तिनिष्ठ संस्कृति के प्रतिनिधि ग्रंथ हैं। वेद, स्मृति और पुराण समाजनिष्ठ संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं।

सामाजिक दृष्टि का उद्देश्य

आधुनिक भारत का जब पश्चिम से सम्पर्क हुआ तो यहां भी समाज की चिंता प्रारम्भ हुई। अंग्रेजों के सम्पर्क में आने के बाद जिन सम्प्रदायों का उदय हुआ उन सबमें समाज की अवधारणा बलवती रही। यह इस बात से स्पष्ट होता है कि अंग्रेज के सम्पर्क में आने से पहले इस देश में सम्प्रदाय, धर्म, पंथ इत्यादि शब्दों का प्रयोग होता था, किंतु अंग्रेजों के आने के बाद जो सम्प्रदाय अस्तित्व में आये उन सबके नामकरण में समाज शब्द आ गया यथा आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, देवसमाज, प्रार्थनासमाज इत्यादि। पुराने सम्प्रदायों ने भी समाज शब्द का प्रयोग प्रारम्भ किया—हिन्दु समाज, जैन समाज इत्यादि।

व्यक्ति और समाज

व्यक्तिपरक दृष्टि का अर्थ यह है कि मूल इकाई व्यक्ति है। सुधरता या बिगड़ता व्यक्ति है। समाज तो व्यक्तियों का समूह है। “सुधरे व्यक्ति, समाज व्यक्ति से राष्ट्र स्वयं सुधरेगा” यह प्रश्न दर्शन की उस समस्या से जुड़ा है जिसके अन्तर्गत इस बात पर विचार किया जाता है कि अवयवी अवयव से भिन्न है या अवयवों के समूह मात्र का नाम अवयवी है। नैयायिक अवयवी की

स्वतंत्र सत्ता मानता है। बौद्ध अवयवी को केवल कल्पना मानता है। वह अवयव को ही सत्य मानता है।

समाज की अवधारणा इस भित्ती पर टिकी है कि अवयवी अवयव से भिन्न है। उदाहरणतः सब व्यक्ति अपना-अपना घर साफ कर दें तो नगर साफ नहीं हो जाता, क्योंकि नगर केवल घरों का समूह नहीं है। नगर में गलियां और सड़कें भी हैं, जो किसी एक व्यक्ति की नहीं है, अपितु सार्वजनिक हैं। केवल व्यक्ति पर बल देने का यह फल होगा कि अन्दर से घर तो सबके साफ रहेंगे, लेकिन घर के बाहर सड़क पर कूड़े के ढेर पड़े मिलेंगे, क्योंकि सड़क की सफाई करना किसी एक व्यक्ति का दायित्व नहीं है। इसलिए हमें नगरपालिका बनानी पड़ती है। नगरपालिका एक सामाजिक संस्था है, वह व्यक्तिगत नहीं है।

मनःस्थिति और परिस्थिति

सामाजिकता का एक दूसरा परिप्रेक्ष्य भी है जो बहुत महत्वपूर्ण है। व्यक्ति अपनी मनःस्थिति का निर्माण करता है, किंतु उसकी परिस्थिति का निर्माण दूसरे लोग करते हैं। एक व्यक्ति अहिंसक हो सकता है, किंतु इससे चोर, लुटेरे या हत्यारे समाप्त नहीं हो जाते। वे उस अहिंसक व्यक्ति की हत्या भी कर सकते हैं, उसे लूट भी सकते हैं। ऐसे में केवल व्यक्तिगत नैतिकता पर्याप्त सिद्ध नहीं होती। न्याय और सुरक्षा की व्यवस्था करनी पड़ती है। न्याय और सुरक्षा की व्यवस्था भी सामाजिक है, व्यक्तिगत नहीं।

न्याय व्यवस्था

सामाजिकता का एक तीसरा आयाम है कि व्यवस्थाओं में ऐसा परिवर्तन कर दिया जाये कि किसी के साथ अन्याय होने की संभावना ही न रहे। राजतंत्र में राजा अत्याचार करते थे, यद्यपि यह उपदेश भी सदा दिया जाता था कि राजा को अन्याय नहीं करना चाहिए। किंतु फिर भी यदि राजा अन्याय करे ही तो जनता के पास राजद्रोह करने के अतिरिक्त राजा के अत्याचार का प्रतिकार करने का कोई उपाय नहीं था। तब हम राजतंत्र की जगह लोकतंत्र की व्यवस्था लाये, जहां हम बिना हिंसा के संवैधानिक ढंग से किसी आततायी शासक को मतदान के द्वारा बदल सकते हैं। यह परिवर्तन व्यक्ति का परिवर्तन नहीं है, व्यवस्था का परिवर्तन है। सामाजिक चिन्तन का यह बल रहा कि हमें व्यवस्थाओं को यथासंभव निर्दोष बनाना चाहिए। व्यक्ति तो सदा से ही स्वार्थी रहा है। वह ठीक काम करेगा—यह आशा न करके ऐसी व्यवस्थायें स्थापित

करनी चाहिए कि जिससे व्यक्ति के गलत काम करने की संभावनाएं कम से कम हो जायें। इसी मान्यता के आधार पर शोषण की बुराई के विरुद्ध साम्यवादी व्यवस्था की कल्पना की गई और उसे व्यवहार में भी लाया गया।

व्यक्तिवादी दृष्टिकोण

व्यक्तिपरक चिन्तन के पक्षपातियों का कहना है कि व्यवस्था कोई भी क्यों न लाई जाये, उस व्यवस्था को चलाने वाले तो व्यक्ति ही होते हैं। यदि व्यक्ति नहीं सुधारेंगे तो वे जिस व्यवस्था को चलायेंगे उसे दूषित कर देंगे। इसलिए मूल समस्या व्यक्ति के रूपान्तरण की ही है।

व्यक्ति और समाज की सापेक्षता

निष्पक्ष दृष्टि से देखें तो उपर्युक्त दोनों ही दृष्टिकोणों में सच्चाई का अंश है। इन दोनों में परस्पर कोई विरोध भी नहीं है। व्यक्ति को सुधारा जाये—यह उद्देश्य व्यवस्था को सुधारने में कहीं बाधक नहीं है और न ही व्यवस्था को सुधारने का उद्देश्य व्यक्ति को सुधारने में बाधक है। इसका यह अर्थ होता है कि हमें दोनों पक्षों पर विचार करना चाहिए। व्यक्ति को सुधारने की प्रक्रिया साधना की प्रक्रिया है, जिसका विवरण हम आगे चलकर परमार्थ खंड में देंगे। व्यवस्था को बदलने का प्रश्न सामाजिक है उसके लिए हमें अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र जैसे समाजविज्ञान की शाखाओं पर विचार करना होगा।

अध्यात्म और समाज

व्यक्ति के रूपान्तरण की प्रक्रिया अर्थात् साधना सार्वभौम तथा सार्वकालिक होने के कारण आगम केन्द्रित है। वह समय के साथ बदलती नहीं है, लेकिन समाज व्यवस्था समाज के साथ बदलती है इसलिए वह शाश्वत नहीं है। किंतु समाज व्यवस्था के मानदंड स्थिर करते समय हम इस बात का ध्यान तो सदा ही रख सकते हैं कि कोई भी सामाजिक व्यवस्था क्यों न हो—उसका उद्देश्य व्यक्ति का विकास है। समय के साथ-साथ कुछ मानवीय मूल्य निर्धारित हो गये हैं। उदाहरणतः यह सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया है कि जाति, सम्प्रदाय, प्रान्त, भाषा, रंग अथवा लिंग जैसे तत्त्वों के कारण एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति के बीच भेदभाव नहीं बरता जाना चाहिए। किसी भी मजहबी राज्य में सम्प्रदाय के आधार पर किसी सम्प्रदाय विशेष के व्यक्तियों को विशेष अधिकार मिल जाते हैं। स्पष्ट है कि ऐसी व्यवस्था

समानता के मूल्य का हनन करती है और वांछनीय नहीं है। छुआछूत जाति के आधार पर व्यक्ति और व्यक्ति में भेद करती है, इसलिए यह भी वांछनीय नहीं है। आज मानवाधिकारों पर बल दिया जाता है और कोई भी ऐसी व्यवस्था जो मानवाधिकारों के विरुद्ध हो, अवांछनीय मानी जाती है।

विधायक मूल्य

ये तो सामाजिक व्यवस्था में कुछ अवांछित तत्त्वों की चर्चा हुई, किंतु सामाजिक परिप्रेक्ष्य कुछ विधायक गुणों की भी अपेक्षा रखता है। मनुष्य अकेला नहीं है। समूह में रहता है। दूसरों के साथ उसका कैसा संबंध हो—यह एक सामाजिक मूल्य है। देखा जाये तो जितने व्यक्तिनिष्ठ मूल्य हैं—उन सबका एक सामाजिक पक्ष भी है। उदाहरणतः अहिंसा को लें। वीतरागता अहिंसा का व्यक्तिगत पक्ष है, किंतु सबके प्रति सद्भाव अहिंसा का सामाजिक पक्ष है। सत्य का तो सामाजिक पक्ष ही मुख्य है, क्योंकि असत्य के द्वारा हम दूसरों को ही धोखा देते हैं। असत्य भी मुख्यतः सामाजिक है। ब्रह्मचर्य आत्मसंयम के रूप में व्यक्तिगत है किंतु व्यभिचार के विरोध में होने के कारण सामाजिक भी है। अपरिग्रह का, मूर्च्छा के अभाव का पक्ष व्यक्तिगत है, किंतु शोषण के निषेध का पक्ष सामाजिक है। इस प्रकार हम व्यक्तिगत मूल्यों के सामाजिक पक्ष को भी नजरअंदाज नहीं कर सकते।

शिक्षा और समाज

आचार्य महाप्रज्ञ ने समाज निर्माण के लिए शिक्षा के महत्त्व को सर्वोपरि माना और शिक्षा का एक नया आयाम “जीवन विज्ञान” विकसित किया। विद्या की इस विधा में उन्होंने यह माना कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का सर्वांगीण विकास है। सर्वांगीण विकास का अर्थ है कि व्यक्ति केवल व्यक्ति ही नहीं है, वह समाज का एक भाग भी है। इसलिए उसके लिए केवल आध्यात्मिक या नैतिक मूल्य ही पर्याप्त नहीं है, सामाजिक मूल्य भी आवश्यक है। इस दृष्टि से मूल्यों को पांच भागों में बांटकर कुल सोलह मूल्यों का वर्गीकरण एक नये प्रकार से किया गया—

१. सामाजिक मूल्य—कर्तव्यनिष्ठा, स्वावलम्बन।
२. बौद्धिक मूल्य—सत्य, समन्वय, सम्प्रदाय-निरपेक्षता, मानवीय एकता।
३. नैतिक मूल्य—प्रामाणिकता, करुणा, सह-अस्तित्व।
४. मानसिक मूल्य—मानसिक संतुलन, धैर्य।
५. आध्यात्मिक मूल्य—अनासक्ति, सहिष्णुता, मृदुता, अभय, आत्मानुशासन।

समाज के बिना व्यक्ति का विकास असंभव

समाज के महत्त्व को अंकित करते हुए आचार्य महाप्रज्ञ ने एक महत्त्वपूर्ण वाक्य लिखा—“समाज के संदर्भ से कटा हुआ व्यक्ति रामू भेड़िया तो बन सकता है, दार्शनिक और वैज्ञानिक नहीं बन सकता।” वस्तुतः रामू दार्शनिक और वैज्ञानिक नहीं बन सकता, बात इतनी ही नहीं है; वह दो टांगों पर खड़ा होकर चलना भी नहीं सीख सकता। भाषा का प्रयोग कर सकने की तो बात ही नहीं उठती। अर्थात् समाज के संदर्भ से कटा हुआ व्यक्ति शक्ति से भले मनुष्य लगे पर वस्तुतः पशु ही होता है। शक्ति उसे माता-पिता से गर्भ में ही प्राप्त होती है, लेकिन उत्पन्न होने के बाद ज्ञान वह अपने वातावरण से अर्जित करता है। उसे अनुकूल वातावरण न मिले तो केवल पिछले जन्म के कर्म भी उसके विकास में निमित्त नहीं बन पाते। हालांकि यह भी सत्य है कि कर्म-संस्कार के अभाव में अनुकूल परिस्थिति भी कार्यकारी नहीं होती। कर्म-संस्कार का कार्य अध्यात्म करता है। उसकी चर्चा हम साधना की चर्चा करते समय परमार्थ खण्ड में करेंगे। किंतु परिस्थिति का निर्माण सामाजिक संस्थायें करती है। इस प्रकार कर्म-संस्कार के लिए जहां अध्यात्म का अध्ययन आवश्यक है, वहां परिस्थिति निर्माण के लिए समाज विज्ञान और भौतिक विज्ञान को भी पढ़ना आवश्यक है। अध्यात्म और विज्ञान की युति का नाम ही जीवन विज्ञान है।

अध्यात्म और विज्ञान की युति का एक और भी फल है। समाज शास्त्र जो कि एक विज्ञान है, हमें हमारे सामाजिक दायत्ति का बोध करा सकता है किंतु वह ऐसा रूपान्तरण नहीं कर पाता कि व्यक्ति अपने व्यवहार में भी उस कर्तव्य बोध को उतार सके। इस रूपान्तरण के लिए हमें अध्यात्म का सहारा लेना होगा। अध्यात्म का तो एकमात्र उद्देश्य व्यक्ति का रूपान्तरण ही रहा है, इसलिए अध्यात्म के क्षेत्र में रूपान्तरण की ऐसी अनेक प्रक्रियाओं का विकास हुआ है जो समय की कसौटी पर खरी उतरी है। यह मुख्यतः पूर्व की देन है। दूसरी ओर पश्चिम में सामाजिक चिन्तन का खूब विकास हुआ है। सुखद संयोग यह है कि जहां पश्चिम के विचारक अब यह समझने लगे हैं कि किसी भी विकास के लिए व्यक्ति के रूपान्तरण को केन्द्र में रखना होगा और इसलिए वे योग, ध्यान, अपरिग्रह और अहिंसा की ओर उन्मुख हो रहे हैं, वहां पूर्व के आचार्य महाप्रज्ञ जैसे अध्यात्म पुरुष समाज व्यवस्था के सूत्र देकर स्वरथ समाज रचना का संकल्प अभिव्यक्त कर रहे हैं। इस प्रकार दो ध्रुव एक-दूसरे के निकट आना चाहते हैं। जीवन विज्ञान की कल्पना उसी निकटता को बनाने की दिशा में एक कदम है।

अध्यात्म का कार्य : शिक्षा

प्रश्न होता है कि क्या एक अध्यात्म पुरुष कोई समाज व्यवस्था दे सकता है। प्रश्न का उत्तर दोनों प्रकार से दिया जा सकता है। समाज व्यवस्था को बनाये रखने के लिए हमारे पास दो साधन हैं—शिक्षा और दंड व्यवस्था। शिक्षा मनुष्य को अपराध से बचाती है, दण्ड व्यवस्था अपराधी को दण्डित करती है। समाज के लिए दोनों आवश्यक है। अध्यात्म पुरुष इन दोनों में से शिक्षा की व्यवस्था दे सकता है। दण्ड व्यवस्था देना उसके क्षेत्र से बाहर की बात है।

अध्यात्मपुरुष बुराइयों को रोकता है, यह निवृत्ति धर्म का स्वरूप है। किंतु वह उन प्रवृत्तियों का उपदेश नहीं दे पाता जो समाज के लिए आवश्यक है। इस दृष्टि से भी अध्यात्म पुरुष समाज व्यवस्था में सहायक तो होता है, किंतु वह समाजशास्त्री नहीं होता। अध्यात्म के सिद्धान्त शाश्वत हैं—समाज के सिद्धान्त परिवर्तनशील हैं। समाज के सिद्धान्त बदलते हैं और बदलने चाहिए, लेकिन उन पर अध्यात्म का अंकुश रहना चाहिए। अन्यथा वे शाश्वत से हटकर आपाततः लाभकारी होते हुए भी अन्ततोगत्वा आत्मघाती सिद्ध हो सकते हैं। अध्यात्म पुरुष दूरदर्शी होते हैं और अपनी इस दूरदृष्टि के कारण वे समाज को तदर्थवाद (adhocism) से बचाते हैं।

समाज व्यवस्था : जैन परम्परा के परिप्रेक्ष्य में

ऊपर हमने चर्चा की कि समाज व्यवस्था समय के साथ बदलती है। भगवान् ऋषभ जैन परम्परा के तो आदि तीर्थकर हैं ही, वैदिक परम्परा के अवतार पुरुष भी हैं। उन्होंने संन्यास ग्रहण किया किंतु उससे पूर्व वे राजा भी रहे। राजा को व्यवस्थायें भी देनी पड़ती हैं। वस्तुतः व्यवस्था देने का काम पहले भी राज्य का था। आज भी राज्य का ही है। वैदिक परम्परा में ऐसी व्यवस्था देने वालों में मनु प्रमुख हैं—जो कि इक्ष्वाकु वंश के प्रथम राजा थे। संयोग की बात है कि इक्ष्वाकु वंश का नामकरण जैन परम्परा के अनुसार ऋषभदेव के जीवन की उस घटना से जुड़ा है—जब उन्हें संन्यास लेने के बाद प्रथम भिक्षा के रूप में अक्षय तृतीया के दिन इक्षुरस दिया गया था।

ऋषभदेव ने असि, मसि और कृषि का आविष्कार किया, जो आविष्कार सभ्य समाज की स्थापना का आधार बना। कृषि हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन है। मसि वितरण प्रणाली का संचालन करती है और असि अन्याय और अपराध का दमन करती है। एक प्रकार से ये तीनों आज भी हैं लेकिन अपने परिवर्तित रूप में। असि का स्थान आणविक अस्त्रों ने ले लिया है, मसि

के स्थान पर संगणक आ गये हैं और कृषि आज का मुख्य उद्योग नहीं रह गया। कल-कारखानों ने मुख्यतः उत्पादन उद्योग का स्थान ले लिया है, और ये तीनों मिलकर समाज का संचालन कर रहे हैं। उत्पादन, वितरण और रक्षा ये तीनों मिलकर ही राष्ट्र को सम्पन्न और स्थिर बनाते हैं।

पूंजीवाद

एक समय था कि समाज व्यवस्था का आधार भावना थी। आज समाज व्यवस्था का आधार धन हो गया है। भावना का संबंध चेतन से था और धन का संबंध जड़ पदार्थ से है। जब चेतन केन्द्र में था तो अर्थ साधन था किंतु जब अर्थ केन्द्र में आ गया तब चेतन साधन बन गया। जब अर्थ साध्य बना तो दो वादों का जन्म हुआ—पूंजीवाद और समाजवाद। इन दोनों वादों में मूल्य अर्थ को दिया गया। मतभेद केवल इतना रहा कि पूंजीवाद में व्यक्ति को यह स्वतंत्रता मिली कि वह धन को जितना चाहे इकट्ठा कर सकता है; संग्रह की कोई सीमा नहीं है। साथ ही उसे यह भी सुविधा मिली कि वह धन को जैसे चाहे वैसे खर्च करे। ऐसे विवाह देखने में आये हैं, जिन विवाहों के निमंत्रण पत्र शुद्ध चांदी की पतरी पर छपे हैं। बारात के एक भोजन में एक-एक व्यक्ति पर तीन-तीन हजार रुपये का व्यय और बारात में आने वाले हर व्यक्ति को उपहार में नई कार। यह सब पूंजीवादी व्यवस्था का चित्र है। इस व्यवस्था में यह माना जा रहा है कि सम्पत्ति पर व्यक्ति का निजी अधिकार है, वह उसे जैसे चाहे बरते। अट्टालिका के बराबर झुग्गी झोंपड़ी में रहने वालों के बच्चे दूध के लिए तरसा करें और औषधि के अभाव में मर जायें। अट्टालिका में रहने वालों का इससे कोई सरोकार नहीं। धन उसने अपने पुरुषार्थ से अर्जित किया है। इसमें वह किसी दूसरे को हिस्सेदार कर्यों बनाये। जिनके पास पैसा नहीं है, उन्हें पूरी स्वतंत्रता है कि मेहनत करें और पैसा कमायें। उन्हें अमीर होने से किसी ने रोका नहीं है। इस व्यवस्था को बनाये रखने में धर्म ने यह कहकर सहयोग दिया कि अमीरी पुण्य का फल है और गरीबी पाप का फल है। जो गरीब हैं वे अपने पाप का फल भोग रहे हैं, हम इसके बीच हस्तक्षेप करने वाले कौन हैं। धर्म ने जले पर नमक छिड़कने का एक काम और किया। सादगी और अपरिग्रह के नाम पर दरिद्रता और मुफलिसी को महिमा मंडित कर दिया। कहा गया कि जो भोग-विलास में लिप्त हैं वे मरने के बाद नरक में जायेंगे और श्रमनिष्ठ तथा ईमानदार होने के बावजूद जो गरीबी में जी रहे हैं वे मरने के बाद स्वर्ग में जायेंगे। यह कहकर धर्म ने गरीबों को मरने से पहले ही नरक में धकेल दिया।

पूंजीवाद बनाम श्रम

एक और मुख्य बात यह रही कि पूंजीवादी व्यवस्था में धनी वर्ग न केवल विलासिता में फँसा अपितु श्रम करना भी छोड़ बैठा। श्रम करने को एक छोटा काम समझ लिया गया। श्रम एक मूल्य नहीं रहा, बल्कि एक पदार्थ बन गया जिसे पैसे से खरीदा जा सकता हो। तो फिर जिसके पास पैसा है, वह श्रम को पैसे से क्यों न खरीदे और स्वयं श्रम क्यों करे?

अर्थशास्त्रियों के अनुसार पदार्थ तीन भागों में बांटे जाते हैं—

१. आवश्यकता की पूर्ति करने वाले पदार्थ
२. आराम देने वाले पदार्थ।
३. विलासिता में साधन बनने वाले पदार्थ।

आवश्यक पदार्थ न मिले तो जीवन दुष्कर हो जाता है। आरामदायक पदार्थ मिलते रहें तो जीवन में सुविधा मिलती है, लेकिन विलासिता के साधनभूत पदार्थ जीवन को ऊपर नहीं ले जाते अपितु नीचे की ओर धकेलते हैं। किंतु पूंजीवादी व्यवस्था में विलासिता के उपकरणों का कोई निषेध नहीं है।

यों पूंजीवादी व्यवस्था बहुत पुरानी है, लेकिन औद्योगिक क्रांति ने पूंजीवाद को एक दूसरा ही रूप दे दिया। कृषि प्रधान व्यवस्था में मनुष्य श्रम से संपन्न बन सकता था। औद्योगिक प्रक्रिया श्रम से सम्पन्न बनने की नहीं है, वह पैसे से पैसा खींचने की प्रक्रिया है। इसलिए उसमें पैसा ही साध्य हो गया। उद्योग में जितने श्रम की आवश्यकता है, वह श्रम उद्योगपति स्वयं नहीं करता, अपितु पैसे से खरीदता है। ऐसी स्थिति में श्रमिक मनुष्य नहीं रहता, कारखाने का एक पुर्जा बनकर रह जाता है। कारखाने के यंत्रों की चिंता फिर भी मालिक करता है क्योंकि यंत्र यदि खराब हो जाये या टूट जाये, तो दूसरा यंत्र मंगवाने में पैसा लगता है। लेकिन एक श्रमिक यदि बीमार हो जाये या मर जाये तो दूसरे दस श्रमिक बाजार में उतने ही वेतन पर या उससे भी कम वेतन पर काम करने के लिए तैयार हैं। अतः मजदूर के सार संभाल की भी कोई आवश्यकता उद्योगपति को अनुभव नहीं होती।

अर्थ का केन्द्र में आना ही अनर्थ की जड़

चूंकि उद्योगों का प्रयोजन अर्थोपार्जन है, आवश्यकता की पूर्ति नहीं, अतः उद्योगपति उन पदार्थों का भी उत्पादन करता रहता है जिसकी वस्तुतः आवश्यकता नहीं है, किंतु जिनमें लाभ का अंश अधिक है और ऐसे माल को

खपाने के लिए वह बाजार में विज्ञापनों के द्वारा उस माल की कृत्रिम आवश्यकता उत्पन्न कर देता है। अखबार और दूरदर्शन जैसे साधन मुख्यतः ऐसे विज्ञापनों के आधार पर चल रहे हैं। इन विज्ञापनों के पीछे मानसिकता यह रहती है कि एक झूठ को सौ बार दोहराने से झूठ सच बन जाता है। विज्ञापन की एजेंसियां माल का विज्ञापन करने में ऐसे उपाय बरत रही हैं जिनसे मनुष्य की हिंस्र वृत्ति, क्रूरता और वासना जागे और संवेदनशीलता कुंठित हो जाये। इस प्रकार विज्ञापन केवल माल ही नहीं बेच रहे, कुत्सितता भी बेच रहे हैं।

विज्ञापनों पर जो व्यय होता है वह उपभोक्ता से ही वसूल किया जाता है और क्योंकि विश्वास यह है कि पदार्थ गुणवत्ता के कारण नहीं अपितु विज्ञापन के कारण बिकता है, इसलिए सुधार पदार्थ में नहीं किया जाता बल्कि बल इस बात पर रहता है कि विज्ञापन को अधिक से अधिक प्रभावी कैसे बनाया जाये।

मजेदार बात यह है कि विज्ञापन के आधार पर केवल पदार्थ ही नहीं बिकते, विद्या और धर्म भी बिकता है। विश्व स्तर पर जो धर्मान्तरण हो रहे हैं, उसमें धर्म की तर्कसंगता और आन्तरिक क्षमता के योगदान की अपेक्षा प्रदर्शन का योगदान कहीं अधिक है। विद्या चेतना का स्फुरण नहीं रह गई है। अधिकांश लेखक पुस्तक की गुणवत्ता को सुधारने की जगह इसके लिए अधिक चिन्तित रहते हैं कि पुस्तक के संबंध में बड़े-बड़े लोगों की अनुकूल सम्मतियां कैसे प्राप्त कर ली जाये। यदि कोई सामान्य पाठक सहजभाव से उस पुस्तक में प्रकट किये गये विचारों के संबंध में अंगुली उठाता है तो उसका कथन इसलिए अर्थहीन हो जाता है कि बड़े-बड़े विद्वानों की सम्मति उस पुस्तक के संबंध में पहले से ही अंकित रहती है। मन ही मन सब इस बात को जानने और मानने लगे हैं कि ये सम्मतियां एक टकसाली भाषा में लिखी जाती हैं, जिसके शब्दों का कोई अर्थ नहीं। ऐसी स्थिति में यह संदिग्ध हो चला है कि “सत्यमेव जयते नानुतं” का उदघोष कहीं मन को बहलाने के लिए एक अच्छा रथ्याल तो नहीं।

उपभोक्तृवाद की विकृतियां

उपभोक्तृ-संस्कृति पूंजीवाद की देन है। इस संस्कृति का फल है गुणवत्ता के स्थान पर परिमाण पर बल। देशी बाजरा अधिक गुणकारी है, किंतु परिमाण में संकर बाजरा अधिक उत्पन्न होता है। इसलिए बाजार में संकर बाजरा मिलेगा, देसी बाजरा नहीं मिलेगा। शिक्षा के क्षेत्र में एक अध्यापक का

मूल्यांकन इस आधार पर नहीं होगा कि उसके पढ़ाए हुए छात्र कितने बड़े विद्वान् बने, बल्कि इस आधार पर होगा कि उसने कितनी बड़ी संख्या में छात्रों को पढ़ाया। उपभोक्तृ-संस्कृति का दुष्परिणाम यह हुआ कि गुणवत्ता गौण हो गई। स्पष्ट है कि इसका उपभोक्ता पर दुष्प्रभाव पड़ा।

लोकतंत्र की समस्याएं

राजनैतिक दृष्टि से पूंजीवाद प्रजातंत्र का हमजोली है। प्रजातंत्र में संख्या सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होती है, उसमें उचित अनुचित का निर्णय संख्या के आधार पर होता है, तर्क के आधार पर नहीं। प्रजातंत्र केवल सरकारी स्तर पर ही नहीं आया, सामाजिक, धार्मिक और शैक्षणिक संस्थाओं के स्तर पर भी निर्णय प्रजातांत्रिक ढंग से लेने की बात चली तो गुटबंदी को बढ़ावा मिलने लगा। किसी भी संस्था का सबसे बड़ा गुट जिसके साथ हो जाता है, वह पद हथिया लेता है। बहुमत को अपने साथ लेने के लिए सत्य उतना मददगार सिद्ध नहीं होता, जितना मददगार राग-द्वेष को भड़काकर लोगों को एकजूट कर लेना होता है। फलतः राजनीति में सम्प्रदाय, जाति, प्रान्त और भाषा जैसे तत्त्व महत्त्वपूर्ण हो गये। सत्य और लोककल्याण गौण हो गया। तात्कालिक हितों के सामने दूरगामी परिणाम निर्बल सिद्ध हुए। फलतः ऐलोपैथी की दवाई की तरह तात्कालिक समस्या का समाधान हो जाता है, किंतु कुल मिलाकर लम्बी अवधि में अनेक नई समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं और अन्तांगत्वा सौदा घाटे का ही सिद्ध होता है। उदाहरणतः आरक्षण की नीति को ले सकते हैं। प्रारम्भ में आरक्षण का आशय समाज के उस वर्ग को ऊपर उठाना था, जो ऐतिहासिक कारणों से सदियों से दबा हुआ था। उसका आशय मूलतः वोट बटोरना नहीं था। किंतु आज स्थिति यह है कि और तो और ब्राह्मणों तक में आरक्षण की मांग को लेकर विधिवत् मंच गठित हो चुके हैं। अब आरक्षण का आधार कल्याण की भावना न रहकर वोट बैंक बनाना हो गया। जो भी समूह राजनैतिक दलों को वोट न देने की धमकी देकर आतंकित कर सकता है, वह आरक्षण का लाभ प्राप्त कर सकता है।

समाजवाद

पूंजीवादी व्यवस्था और प्रजातांत्रिक व्यवस्था के ये दोष इतने स्पष्ट थे कि इसका विरोध होना अवश्यंभावी था। यह विरोध भी सामान्य रूप से नहीं हुआ बल्कि एक सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि पर टिककर किया गया। यह विरोध समाजवाद की ओर से आया। समाजवाद और पूंजीवाद में यद्यपि एक बात

समान है कि ये दोनों ही धन को सर्वेसर्वा मानकर चल रहे हैं तथापि इतना अन्तर है कि पूँजीवाद धन पर व्यक्ति का अधिकार मानता है, समाजवाद धन पर राज्य का अधिकार मानता है। कल्पना यह है कि व्यक्ति व्यक्ति के प्रति अन्याय कर सकता है, किंतु राज्य किसी के प्रति अन्याय नहीं कर सकता। इसलिए यदि धन पर राज्य का अधिकार होगा तो व्यक्ति व्यक्ति का शोषण नहीं कर सकेगा और राज्य सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा और सबको न्याय देगा। इस विचारधारा ने बहुत अच्छे विचारकों को प्रभावित किया। यह बात बहुत आकर्षक दृष्टिगोचर हुई कि श्रमिक वर्ग सदियों से चले आने वाले शोषण से मुक्त हो जायेगा। यह माना गया कि यह उद्देश्य इतना पवित्र है कि यदि समृद्ध वर्ग समझाने से न समझे और इस उद्देश्य की प्राप्ति में बाधक बने तो उस वर्ग के विरुद्ध हिंसा का प्रयोग करना भी पाप नहीं है; इतना ही नहीं है, बल्कि पुण्य है। अन्याय के विरुद्ध शस्त्र उठाने को पुण्य मानने की परम्परा बहुत पुरानी है जिसे धर्मयुद्ध या जिहाद नाम से जाना जाता है। समाजवाद धर्मयुद्ध का नवीन संस्करण बनकर हमारे सामने आया। एक बार लगा कि दुनिया का नक्शा बदल जायेगा। समाजवादियों की समझ में क्योंकि धर्म भी यथास्थिति बनाये रखकर शोषण का पोषण कर रहा था अतः समाजवाद ने धर्म को गरीबों के लिए अफीम मानकर नकार दिया। तत्कालिक सोवियत संघ और चीन जैसे बड़े राष्ट्रों में समाजवाद व्यावहारिक रूप में आया।

समाजवाद की समीक्षा

समाजवाद से जिन परिणामों की अपेक्षा की जा रही थी वे परिणाम सामने नहीं आये बल्कि लोहावरण के टूटते ही यह तथ्य उजागर हुआ कि समाजवादी देश पूँजीवादी देशों की अपेक्षा आर्थिक दृष्टि से पिछड़ गया है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन हुआ सो अलग। व्यक्ति में जो सहज ही मतभेद रहा करते हैं उन मतभेदों को दबाने का समाजवादी प्रयत्न सफल नहीं हो सका। सोवियत संघ तो बिखर ही गया। चीन भी मिश्रित अर्थव्यवस्था की ओर बढ़ने लगा है। कारण स्पष्ट है—सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार समाप्त होते ही व्यक्ति में प्रतिस्पर्द्धा की भावना से उत्पन्न होने वाली ऊर्जा सूख जाती है। पब्लिक सेक्टर में मालिक कोई नहीं होता, सब नौकर होते हैं और इसलिए प्रतिस्पर्द्धा में टिक सकने वाली उत्पादन व्यवस्था नहीं बन पाती। पूँजीवादी व्यवस्था में भले श्रमिकों की रुचि उत्पादन में न हो, किंतु उद्योगपति की रुचि उत्पादन बढ़ाने में अवश्य रहती है। समाजवादी व्यवस्था में यह रुचि किसी की नहीं रहती। अतः अर्थ को केन्द्र में रखने वाली समाजवादी व्यवस्था अर्थ की

दौड़ में ही पिछड़ गई। धर्म को तो पहले ही नकार दिया गया था। धर्म कहीं शोषण का भी पोषण करता रहा हो, किंतु प्रतिकूल परिस्थिति में मनुष्य को संबल भी प्रदान करता रहा है। इसके अतिरिक्त आज भले ही हम नैतिकता को धर्म से अलग करके स्वतंत्र रूप में देख रहे हैं, किंतु हजारों साल से नैतिकता किसी न किसी रूप में धर्म के साथ जुड़कर ही कार्य करती रही है। धर्म के खिसकने के साथ नैतिकता का ऐतिहासिक आधार भी खिसक गया। धर्मविहीन इहलौकिकता तथा नैतिकता यह नहीं समझा पाई कि यदि कोई ऐसा सुरक्षित उपाय हो सके कि व्यक्ति राज्य की पकड़ में आये बिना धन संग्रह के लिए अनुचित उपाय बरत सके, तो उसे ऐसा क्यों नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार अर्थ पुरुषार्थ और धर्म पुरुषार्थ के मोर्चे पर तो समाजवाद मार खा ही गया, काम पुरुषार्थ की सिद्धि में भी वह इसलिए सफल नहीं हो सका कि उसने व्यक्ति को राजतंत्र का एक निर्जीव पुर्जा बनाकर रख दिया। व्यक्ति की स्वतंत्र इच्छा का कोई महत्त्व नहीं रहा। न उसे कोई चुनाव करने की स्वतंत्रता रही। जैसे मदारी बंदर को जिस तरह नचाना चाहे उसे नाचाना पड़ता है, राजतंत्र के हाथ में व्यक्ति की यही दशा हो गई। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में काम पुरुषार्थ का भी कोई स्थान नहीं रह गया। विलासिता तो समाजवादी व्यवस्था में वैसे ही निषिद्ध थी।

उपयोगितावाद की दृष्टि के कारण समाजवादी व्यवस्था में जीवन के उन तत्त्वों का स्थान नगण्य हो गया जो तत्त्व हमारी सूक्ष्म आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। उदाहरणतः दर्शन, काव्य, ललितकला आदि। इस प्रकार की विद्याओं को कल्पना की उड़ान न होने देकर समाजवाद और सत्ता की चापलूसी में नियोजित कर दिया गया। मनुष्य के अंदर की प्यास अतृप्त ही रह गई। कहने को श्रम को महत्त्व दिया गया लेकिन वस्तुतः श्रम का कोई अपना आन्तरिक मूल्य स्थापित नहीं हुआ अपितु श्रम को इसीलिए महत्त्वपूर्ण मान लिया गया कि उससे सम्पदा उत्पन्न होती है। श्रमिक को पैसा तो मिला, लेकिन सर्जन का आनंद नहीं मिला। इससे प्रतिभायें कुंठित हुई, श्रम के क्षेत्र में भी और सर्जन के क्षेत्र में भी। चिन्तन की परतंत्रता ने ज्ञान का विकास अवरुद्ध कर दिया। एक प्रकार से जैसे धर्म अन्तिम सत्य जान लेने का दावा करता रहा था, समाजवाद ने कुछ उसी तरह का दावा करना चालू कर दिया। व्यक्ति के सामने एक ही विकल्प रह गया कि या तो वह हाँ में हाँ मिलाये और नहीं तो मिट जाने के लिए तैयार रहे। समाजवाद में प्रजातांत्रिक प्रणाली एक

प्रहसन बनकर रह गई है। चुनाव में एक उम्मीदवार खड़ा होता है, आपको उसे ही वोट देना है, लेकिन वोट देने का नाटक पूरा खेला जाएगा। राष्ट्र के हित का बहाना बनाकर समाजवादी व्यवस्था में जो निर्णय लिये जाते हैं वे पारदर्शी भी नहीं हैं। स्वतंत्रता का मूल्य चुकाकर समाजवाद से व्यक्ति जो पाना चाहता था वह उसे नहीं मिल पाया और इसलिए वह व्यवस्था भी कारगर सिद्ध नहीं हो सकी। व्यवहार में समाजवादी सिद्धान्त लागू किए जाने पर हमारे सम्मुख यह परिणाम आया कि व्यक्ति की स्वतंत्रता तो समाप्त हो गई, जिसके कारण उसमें असंतोष उत्पन्न हुआ; दूसरी ओर प्रतिस्पर्द्धा का भाव न रहने से उत्पादन भी घटा। तीसरी ओर मधुर और ललित भाव न रहने से जीवन की सरसता सूख गई और इतनी कीमत चुकाने के बाद भी शोषण समाप्त करके मनुष्य को सुखी बना देने का लक्ष्य पूरा होता दिखाई नहीं दिया।

वर्णाश्रम व्यवस्था

ऊपर हमने पूँजीवाद और समाजवाद की चर्चा की। ये दोनों व्यवस्थाएं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की हैं। इनके सामानान्तर दो व्यवस्थाएं ऐसी भी हैं—जो भारत तक ही सीमित हैं। इनमें एक व्यवस्था वर्णाश्रम की है, जिसका मूल वैदिक धारा है और दूसरी व्यवस्था चतुर्विध संघ की है, जिसका आधार श्रमण-परम्परा है। इनमें से पहले वर्णाश्रम व्यवस्था को लें। इस व्यवस्था का आधार यह है कि मनुष्य के चार घटक हैं—शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा, जिन्हें क्रमशः अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष चाहिए। अर्थ का उत्पादन मूलतः शारीरिक श्रम का फल है। यह श्रमिक वर्ग जो अर्थ का उत्पादन करता है प्राचीन भाषा में शूद्र कहलाया। मन की कामनाओं की पूर्ति के लिए जो वर्ग पदार्थों का वितरण करता है वह वैश्य कहलाया। धर्म की स्थापना करने का कार्य क्षत्रिय का है और मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करने वाला ब्राह्मण है। समाज के ये चार विभाजन समाज पुरुष के चार अंगों के समान हैं। पाँव शूद्र है। जिस प्रकार पाँव पर ही सारा शरीर खड़ा होता है, उसी प्रकार श्रमिक पर ही सारा समाज टिका है। यदि श्रमिक श्रम न करे तो न हमारे पैर में न जूता हो, न तन पर कपड़ा और न सिर पर छत। वैश्य उदर के समान है, जो कुछ भी हम पेट में डालते हैं—पेट उसे अपने पास रखता नहीं, सारे शरीर में आवश्यकतानुसार वितरित कर देता है। वैश्य भी समाज के लिए यही कार्य करता है। क्षत्रिय भुजा है। भुजायें शरीर की रक्षा करती हैं, क्षत्रिय भी समाज की रक्षा करता है। ब्राह्मण मुख है। वाणी ही ज्ञान की अभिव्यक्ति का साधन है। ब्राह्मण ज्ञान का प्रसार करता है। वह ज्ञान ही मोक्ष देने वाला बन जाता है।

सिद्धान्त और व्यवहार का भेद

आज यह वर्ण व्यवस्था जाति प्रथा में बदल गई है। अपने मूल रूप में भी इस व्यवस्था में अनेक कमियां रही हैं। सबसे बड़ी कमी है—ऊंच-नीच का भेदभाव। यह इस व्यवस्था का अंग बना रहा है। सिद्धान्ततः चारों वर्ण एक ही समाज—पुरुष के चार अंग हैं और इसलिए चारों का समान महत्त्व है किंतु व्यवहार में शूद्र के प्रति द्विज वर्णों का दृष्टिकोण ठीक नहीं रहा। वर्ण व्यवस्था में शूद्र के प्रति अनादर का भाव देखने को मिलता है। ऋग्वेद में कहा है कि शूद्र परम पुरुष के पाँव से उत्पन्न हुआ है। इस आधार पर शूद्र को नीचा मान लिया गया। यद्यपि यह व्याख्या युक्तिसंगत नहीं थी। परम पुरुष के चरण पवित्र होते हैं, उससे उत्पन्न होने वाले को अछूत मानना युक्तिसंगत नहीं था। ऋग्वेद में शूद्र की उत्पत्ति पाँव से मानी गई है। यदि पाँव से उत्पन्न होने के कारण ही शूद्र अपवित्र होता तो उसी कारण भूमि को भी अपवित्र माना जाना चाहिए था, किंतु भूमि को माँ माना गया है। इतना ही नहीं, यजुर्वेद में बढ़ई, रथकार, कुम्भकार और लोहारों को नमस्कार किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि शूद्र का संबंध पूषा देवता से है और यह पूषा देवता ही सबका पोषण करता है। यह सब होने पर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इतिहास में शूद्र के साथ दुर्व्यवहार की स्थिति बनी रही है। आज के संदर्भ में वर्ण व्यवस्था के साथ एक यह सीमा भी है कि उस व्यवस्था का जन्म राजतंत्र में हुआ और आज हम प्रजातंत्र में जी रहे हैं। प्रजातंत्र में इस बात का कोई अर्थ नहीं रह जाता कि शासन का अधिकार या कर्तव्य क्षत्रिय का है। न ही आज इस बात का कोई अर्थ है कि युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म है।

वर्णाश्रम व्यवस्था का सामाजिक-आर्थिक तंत्र

वस्तुस्थिति यह है कि वर्ण व्यवस्था का आधार मुख्यतः अर्थोपार्जन के लिए अपनाये जाने वाले व्यवसाय रहे। ये व्यवसाय वंश परम्परागत थे और बहुत जटिल नहीं थे। पुत्र पिता से ही अपने परम्परागत व्यवसाय की शिक्षा प्राप्त कर लेता था और पिता के साथ कंधे से कंधा मिलाकर उसका व्यवसाय संभाल लेता था। व्यवसायिक शिक्षा प्राप्त करने की, नौकरी ढूँढ़ने की या नया व्यवसाय खड़ा करने की चिंता उसे नहीं करनी पड़ती थी। सम्मिलित परिवार की छाया में वह निश्चन्त भाव से पैतृक कार्य में सबका हाथ बंटाता और बदले में उसके जीवन की सब आवश्यकतायें पूरी होती थी। बेरोजगारी का प्रश्न नहीं था। आज यह संभव नहीं है। सम्मिलित कुटुम्ब टूट गये हैं। नये-नये व्यवसाय

खड़े हो रहे हैं और व्यक्ति अब एक ही स्थान से बंधकर भी नहीं रह रहा है। एक बात ध्यान देने की यह है कि जहां समाजवादी व्यवस्था और पूंजीवादी व्यवस्था अर्थ को केंद्र में रखकर चलती है वहां वर्ण व्यवस्था कर्तव्य को केन्द्र में रखकर चलती है। इस कारण वर्ण व्यवस्था में उपभोक्तृ-संस्कृति के दोष नहीं हैं। वहां ऊंच-नीच का आधार पैसा नहीं है। उदाहरणतः ब्राह्मण का वर्ण सर्वोच्च है, किंतु उसके पास पैसा सबसे अधिक नहीं होता। इसके विपरीत वैश्य के पास सबसे अधिक पैसा है, किंतु उसका स्थान ब्राह्मण से ऊपर नहीं है। इसका अर्थ यह होता है कि वर्ण व्यवस्था में व्यक्ति का मूल्यांकन पैसे के आधार पर नहीं किया गया। उद्योगीकरण के पूर्व तक यह व्यवस्था मानवीयता को केंद्र में रखकर चलती थी, धन को नहीं। कोई व्यक्ति अपंग है अथवा कोई महिला विधवा हो जाती है या कोई बच्चा अनाथ हो जाता है तो भी वे सब सम्मिलित कुटुम्ब की रसोई से सम्मान भोजन पाने के अधिकारी थे। वृद्धावस्था या रोग की अवस्था में न तो उन्हें अकेलेपन का अनुभव होता था और न असहायता का।

मुद्रा का प्रचलन और काले धन की समस्या

बहुत समय तक वर्ण आश्रित समाज वस्तु विनिमय के आधार पर ही ग्रामीण अर्थ व्यवस्था में जीता रहा। नोटों का प्रचलन पिछले डेढ़ सौ वर्ष पूर्व ही हुआ। इन्हीं डेढ़ सौ वर्षों में काले धन की समस्या भी उत्पन्न हुई है। पहले अमीर वर्ग तो आवश्यकता से अधिक संग्रह करता था किंतु अब मध्यम वर्ग भी भिन्न-भिन्न योजनाओं के अन्तर्गत ऐसे धन के संग्रह में जुट गया जिस धन के उसके द्वारा भोगे जाने की संभावना बहुत कम रहती है। इस दृष्टि का अर्थ है धन के लिए धन, न कि आवश्यकता के लिए धन। यही है काले धन के विस्तार का रहस्य।

गृहस्थ आश्रम का महत्त्व

आर्थिक दृष्टि से आश्रम व्यवस्था भी विचारणीय है। चार आश्रमों में तीन आश्रम भिक्षावृत्ति पर रहते हैं। धनोपार्जन और धन का संग्रह केवल गृहस्थ ही करता है और गृहस्थ ही बाकी तीन आश्रमों की योगक्षेम की व्यवस्था भी करता है। बाकी तीन आश्रम ज्ञान और धर्म की चिंता करते हैं, धन की नहीं। यद्यपि वर्णाश्रम व्यवस्था व्यवहार में पूरी तरह कभी लागू नहीं हो सकी, इसके बावजूद वर्णाश्रम व्यवस्था ने मनुष्य की उच्छृंखल वृत्ति पर, उसकी अर्थलिप्सा और कामलिप्सा पर जो अंकुश लगाया, वह न पूंजीवादी व्यवस्था लगा सकी और

न समाजवादी व्यवस्था । मनु ने कहा कि विषय के भोगने से इच्छा शांत नहीं होती बल्कि उसी प्रकार बढ़ती है जिस प्रकार धी से आग भड़कती है, बुझती नहीं है ।

**न जातु कामः कामानामुपभोगेन शास्यति ।
हविषा कृष्णवत्सेव भूय एवाभिवर्धते ॥**

यह अकुश न पूँजीवादी व्यवस्था लगाती है न समाजवादी । उपभोक्तु जीवन शैली में उपभोग के निषेध का अथवा नियन्त्रित करने का प्रश्न ही नहीं होता । वहां केवल उपभोग की सामग्री जुटाने और बढ़ाने का ही एक मात्र लक्ष्य रहता है ।

अर्थ पुरुषार्थ के संबंध में मनु ने जो आदर्श रखा वह सभी व्यवस्थाओं में प्रासंगिक बनता है । मनु का कहना है कि आजीविका के लिए लोक सामान्य की तरह अप्रामाणिकता का सहारा नहीं लेना चाहिए अपितु समझदार आदमी की तरह आजीविका के साधन ऐसे उपायों से जुटाने चाहिए जो कुटिल न हो, जिनमें शठता न हो और जो प्रामाणिक हो—

**न लोकवृत्तं वर्तेत् वृत्तिहेतोः कथञ्चन ।
अजिह्वाम् शुद्धां जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम् ॥**

मनु ने कहा कि किसी भी समझदार व्यक्ति को अधिक से अधिक बारह दिन उपयोग में आ सके उतनी ही सामग्री का संग्रह करना चाहिए । ज्यादा अच्छा होगा कि उपयोग में आ सके उतनी ही सामग्री का संग्रह करे, किंतु किसी भी स्थिति में बारह दिन से अधिक की सामग्री का संग्रह उसे नहीं करना चाहिए ।

**कुसूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा ।
त्र्यहैहिको वाऽपि भवेदश्वस्तनिक एव वा ॥**

ऐसी सब घोषणाओं के संबंध में कार्लमार्क्स का कहना है कि यह आदर्शवादी समाजवाद है । केवल इस प्रकार के उपदेश दिये गये, उन्हें व्यवहार में कभी नहीं लाया गया । यह आरोप अंशतः ठीक भी है । वैसे भारत की अपरिग्रही वृत्ति समाजवाद के बहुत निकट आती है और वैदिक तथा श्रमण दोनों ही परम्पराओं में त्याग-तपस्या और अपरिग्रह पर बहुत बल है ।

आश्रम व्यवस्था

यद्यपि वर्ण व्यवस्था का मूल वैदिक परम्परा में है तथापि श्रमण परम्परा ने भी उसे बदले हुए रूप में अपना लिया और उसी प्रकार संन्यास का मूल

श्रमण परम्परा में है फिर भी वैदिक परम्परा ने भी उसे परिवर्तित रूप में अपनाया। वैदिक आश्रम व्यवस्था में गृहस्थ और संन्यास के अतिरिक्त विद्यार्जन का एक आश्रम ब्रह्मचर्य और संन्यास की तैयारी के लिए एक आश्रम वानप्रस्थ बनाया। इस प्रकार श्रमण परम्परा के श्रावक और साधु ये दो विभाजन वैदिक परम्परा में चार भागों में विभक्त होकर चार आश्रमों के रूप में व्यवस्थित हुए। इन चार आश्रमों की अवधारणा के पीछे चार पुरुषार्थों के बीच संतुलन स्थापित करने की भावना रही है। अर्थ पुरुषार्थ की साधना केवल गृहस्थ जीवन में की जाती है। इसीलिए गृहस्थ का अपना महत्त्व है। वह तीनों आश्रमों को अन्न भी देता है और ज्ञान भी देता है, इसलिए वह सभी आश्रमों में बड़ा है—

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।

गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥

गृहस्थ की इस श्रेष्ठता के फलस्वरूप नारी को भी बहुत सम्मानजनक स्थान मिला। मनु ने माता को पिता की अपेक्षा शतगुणा अधिक पूजनीय माना और यह घोषणा कर दी कि जहां नारी का सम्मान नहीं होता, वहां सारे कर्म निष्फल हो जाते हैं—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥

वर्णाश्रम व्यवस्था का एक अंश भारतीय समाज में परिस्थिति बदल जाने के बावजूद जातियों के रूप में बहुत कुछ इस अर्थ में बचा हुआ है कि अनेक जातियों में पुत्र पैतृक व्यवसाय या हुनर को अपनाकर ही अपनी आजीविका अर्जित करते हैं। छुआछूत संविधान द्वारा कानूनी अपराध घोषित कर दिया गया है, किन्तु धन केन्द्रित अर्थव्यवस्था ने वर्णाश्रम व्यवस्था के मूलरूप को तो बदल ही दिया है। आज ब्राह्मण वर्ग भी विद्याप्रेम को छोड़कर अर्थलोलुपता की ओर अग्रसर हो रहा है। ब्रह्मचर्य आश्रम का स्थान आधुनिक शिक्षा प्रणाली ने ले लिया है। वानप्रस्थ के स्थान पर कुछ समाजसेवी संस्थाएं खड़ी हो गई हैं। संन्यास में कुछ विरक्त और ज्ञानी पुरुष आज भी हैं, लेकिन कुछ मठ जैसी दीर्घे स्थापित करके सम्पत्ति के स्वामी भी बन बैठे हैं। व्यवहार की जो स्थिति हो, भारत का बहुसंख्यक वैदिक समाज फिर भी सिद्धान्ततः वर्णाश्रम व्यवस्था को ही अपना आदर्श मानता है।

ब्रती समाज

जैन परम्परा ब्रत केन्द्रित है। ब्रत के दो रूप हैं—महाब्रत और अणुब्रत। महाब्रत साधु के लिए हैं और उसका समाज व्यवस्था से लगभग कोई संबंध

नहीं जुड़ता। अणुव्रत गृहस्थ के लिए है। गृहस्थ को आध्यात्मिक जीवन के साथ सामाजिक जीवन भी जीना होता है इसलिए उसके आचार में, जिसे श्रावकाचार कहा जाता है, अनेक ऐसे बिंदु आ जाते हैं जो सामाजिक पक्ष का भी स्पर्श करते हैं। जैसाकि हम पहले ही कह चुके हैं, श्रावक के पांच मुख्य व्रत सामाजिक संदर्भ से जुड़े हैं।

अहिंसा

जैन परम्परा में अहिंसा की अवधारणा का सूक्ष्म विश्लेषण हुआ जिसके अन्तर्गत हिंसा के बाह्य पक्ष को द्रव्य हिंसा और आन्तरिक पक्ष को भावहिंसा कहा गया। हिंसा का संबंध केवल मारने से न लेकर यह लिया गया कि पांच इन्द्रियों, मन, वाणी और शरीर, आयु तथा श्वास-प्रश्वास में किसी भी प्रकार की बाधा डालना हिंसा है। हिंसा की यह व्यापकतम परिभाषा है जिसके अन्तर्गत हम विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को भी मान्यता देंते हैं। जितना बुरा हिंसा करना है उतना ही बुरा हिंसा करवाना या हिंसा का अनुमोदन करना है। पूर्ण रूप से हिंसा से केवल साधु ही बच सकता है। गृहस्थ को अपनी आजीविका के लिए जो व्यवसाय अपनाना पड़ता है उसमें होने वाली हिंसा उद्यमी हिंसा कहलाती है। भोजन पकाने आदि में होने वाली हिंसा आरंभी हिंसा और आत्मरक्षा के लिए की जाने वाली हिंसा विरोधी हिंसा कहलाती है। गृहस्थ इन तीन प्रकार की हिंसाओं को कम से कम करने का प्रयत्न कर सकता है, किंतु उन्हें सर्वथा नहीं छोड़ सकता। सर्वथा वह केवल संकल्पी हिंसा को छोड़ सकता है, जिसका अभिप्राय है पीड़ा देने के भाव से निरपराध प्राणी को निष्प्रयोजन पीड़ित करना। अर्थात् वह अनर्थ या व्यर्थ की हिंसा से बचता है, जिसे अनर्थ दण्ड विरमण व्रत कहा जाता है।

अहिंसा का व्यावहारिक रूप अहिंसा व्रत के अतिचारों से स्पष्ट होता है। अहिंसा व्रत के पांचों अतिचारों का संबंध पशुओं के प्रति मानवीय व्यवहार से है। अहिंसा अणुव्रत का संक्षिप्त रूप इस प्रकार है—

- मैं स्थूल प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता हूँ/करती हूँ।
- मैं आजीवन निरपराध त्रस प्राणी की संकल्पपूर्वक हत्या न स्वयं करूँगा, न दूसरों से कराऊँगा, मन से, वचन से, काया से।
- मैं विशेष रूप से मनुष्य को बलात् अनुशासित करने, आक्रमण करने, उसे पराधीन बनाने, अस्पृश्य मानने, शोषित और विस्थापित करने का परित्याग करता हूँ।

मैं इस अहिंसा अणुव्रत की सुरक्षा के लिए वध, बंधन, अंग-भंग, अतिभार आरोपण, खाद्य-पेय-विच्छेद और आगजनी जैसे क्रूर कर्म से बचता रहूँगा।

हिंसा दो प्रकार की होती है—१. आरम्भजा, २. संकल्पजा। अहिंसा अणुव्रत में केवल संकल्पजा हिंसा का त्याग किया जाता है। इसलिए यह स्थूल प्राणातिपात का प्रत्याख्यान है।

अहिंसा को ही दृष्टि में रखकर जैन परम्परा ने ऐसे व्यवसायों का भी निषेध किया जो प्राचीन काल में प्रचलित थे किंतु जिनका करना जैन दृष्टि से एक गृहस्थ के लिए उचित नहीं था। यह व्यवसाय कर्मदान कहलाते हैं और इनका विवरण इस प्रकार है:—

१. अंगारकर्म—अग्निकाय के महाआरंभ वाला कार्य।
२. वनकर्म—जंगल को काटने का व्यवसाय।
३. शाकटकर्म—वाहन चलाने का व्यवसाय।
४. भाटकर्म—किराये का व्यवसाय।
५. स्फोटकर्म—खदान, पत्थर आदि फोड़ने का व्यापार।
६. लाक्षावाणिज्य—लाख, मोम आदि का व्यापार।
७. रसवाणिज्य—घी, दूध, दही तथा मद्य, मांस आदि का व्यापार।
८. विषवाणिज्य—कच्ची धातु, संखिया, अफीम आदि विषैली वस्तु तथा अस्त्र-शस्त्र आदि का व्यापार।
९. केशवाणिज्य—चमरी, गाय, घोड़ा, हाथी तथा ऊन एवं रेशम आदि का व्यापार।
१०. यंत्रपीलन कर्म—ईख, तिल आदि को कोल्हू में पीलने का धंधा।
११. निर्लाघन कर्म—बैल आदि को नपुंसक करने का धंधा।
१२. दावानलकर्म—खेत या भूमि को साफ करने के लिए आग लगाना तथा जंगलों में आग लगाना।
१३. सरद्रहतड़ागशोषण—झील, नदी, तालाब आदि को सुखाना।
१४. असतीजनपोषण—दास, दासी, पशु, पक्षी आदि का व्यापारार्थ पोषण करना।
१५. दन्तवाणिज्य—हाथी दांत, मोती, सींग, चर्म, अरिथ आदि का व्यापार।

वस्तुतः जैन परम्परा ने अहिंसा की इतनी व्यापक व्याख्या की कि उसके अन्तर्गत उन न करने योग्य गतिविधियों का भी समावेश हो गया जिन्हें सामान्यतः हम हिंसा के अन्तर्गत नहीं मानते। ऐसी गतिविधियों का उल्लेख

अनर्थदण्ड विरमण के अन्तर्गत किया है। जिसके चार प्रकार हैं—

१. अपध्यानाचरित—आर्त, रौद्र ध्यान की वृद्धि करने वाला आचरण।
२. प्रमादाचरित—प्रमाद की वृद्धि करने वाला आचरण।
३. हिंसप्रदान—हिंसाकारी अस्त्र-शस्त्र देना।
४. पापकर्मोपदेश—हत्या, चोरी, डाका, घूत आदि का प्रशिक्षण देना।

इन अनर्थदण्ड विरमण व्रत की सुरक्षा के लिए निम्नलिखित अतिक्रमणों से बचना होता है—

१. कन्दर्प—कामोदीपक क्रियाएं।
२. कौतकुच्य—कायिक चपलता।
३. मौखर्य—वाचालता।
४. संयुक्ताधिकरण—अस्त्र-शस्त्रों की सज्जा।
५. उपभोग परिभोगातिरेक—उपभोग-परिभोग की वस्तुओं का आवश्यकता से अधिक संग्रह।

ब्रतों के अतिचार

सत्य, अचौर्य एवं ब्रह्मचर्य के संबंध में तो जैन परम्परा ने कोई विशेषता तो प्रदर्शित नहीं की, किंतु इन ब्रतों के अतिचारों का वर्णन करते समय अपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया और एक गृहस्थ को पूरी तरह से इस तरह बांधा कि वह किसी भी प्रकार का असामाजिक कार्य न कर सके। इन अणुब्रतों का स्वरूप इस प्रकार है—

सत्य अणुब्रत

- मैं स्थूल मृषावाद का प्रत्याख्यान करता हूँ।
- वैवाहिक संबंध, पशु-विक्रय, भूमि विक्रय, धरोहर और साक्षी जैसे व्यवहारों में असत्य न स्वयं बोलूँगा, न दूसरों से बुलवाऊँगा, मन से, वचन से, काया से।
- मैं इस सत्य की सुरक्षा के लिए किसी पर दोषारोपण, षड्यंत्र का आरोप, मर्म का प्रकाशन, गलत पथ-दर्शन और कूटलेख जैसे छलनापूर्ण व्यवहारों से बचता रहूँगा।

अचौर्य अणुब्रत

- मैं स्थूल अदत्तादान (चोरी) का प्रत्याख्यान करता हूँ।
- मैं आजीवन ताला तोड़ने, जेब कतरने, सेंध मारने, डाका डालने, राहजनी करने और दूसरे के स्वामित्व का अपहरण करने जैसे क्रूर व्यवहार न

स्वयं करुंगा, न दूसरों से कराऊंगा, मन से, वचन से, काया से।

- मैं इस अचौर्य अणुव्रत की सुरक्षा के लिए चोरी की वस्तु लेने, राजनिषिद्ध वस्तु का आयात-निर्यात करने, असली के बदले नकली माल बेचने, मिलावट करने, कूट तोल-माप करने और रिश्वत लेने जैसे वंचनापूर्ण व्यवहारों से बचता रहूंगा।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत

- मैं स्थूल मैथुन का प्रत्याख्यान करता हूं।
- मैं आजीवन अपनी पत्नी/पति के अतिरिक्त शेष सब स्त्रियों-पुरुषों के साथ संभोग नहीं करूंगा/करूंगी।
- मैं इस ब्रह्मचर्य अणुव्रत की सुरक्षा के लिए परस्त्री और वेश्यागमन, अप्राकृतिक मैथुन, तीव्र कामुकता और अनमेल विवाह जैसे आचरणों से बचता रहूंगा/रहूंगी।

अपरिग्रह अणुव्रत

- मैं स्थूल परिग्रह का प्रत्याख्यान करता हूं—इच्छा का परिमाण करता हूं।
- मेरे स्वामित्व में जो परिग्रह है और आगे होगा, उसकी सीमा निम्नांकित प्रकार से करता हूं उससे अधिक परिग्रह का आजीवन परित्याग करता हूं।
 - क्षेत्र, वास्तु (घर) का परिमाण।
 - सोना, चांदी, रत्न आदि का परिमाण।
 - धन, धान्य का परिमाण।
 - पशु, पक्षी आदि का परिमाण।
 - कुप्यप्रमाण— तांबा, पीतल धातु तथा अन्य गृहसामग्री, यान, वाहन आदि का परिमाण।
- मैं संतान की सगाई, विवाह के उपलक्ष्य में रूपये आदि लेने का ठहराव नहीं करूंगा।
- मैं अपनी परिशुद्ध (नेट) आय का कम से कम एक प्रतिशत प्रतिवर्ष विसर्जन करूंगा। यदि मेरी परिशुद्ध (नेट) वार्षिक आय पचास हजार से अधिक होगी तो कम से कम अपनी आय का तीन प्रतिशत विसर्जन करूंगा। विसर्जित राशि पर अपना किसी प्रकार का स्वामित्व नहीं रखूंगा।

- मैं अपरिग्रह अणुव्रत की सुरक्षा के लिए उक्त सीमाओं और नियमों के अतिक्रमण से बचता रहूँगा।

अपरिग्रह पर जैन परम्परा में अहिंसा के समान ही विशेष बल दिया गया है। अपरिग्रह अणुव्रत के अन्तर्गत सभी प्रकार के परिग्रहों की सीमा बांधने का विधान है—जिनमें क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, दासी, दास, धातुएं, शाय्यासन और दूसरे सभी पदार्थ शामिल हैं।

भोगोपभोग-परिमाण व्रत

भोगोपभोग परिमाण व्रत के अन्तर्गत ऐसे सब पदार्थों की एक लम्बी सूची दी गई है जिनका परिमाण गृहस्थ से अपेक्षित माना जाता है। वह सूची इस प्रकार है—

१. उल्लणिया विधि—अंगोछे का परिमाण।
२. दन्तवन विधि—दत्तौन का परिमाण।
३. अभ्यंगण विधि—तेल-मर्दन का परिमाण।
४. फल-विधि—स्नान के लिए काम में लिये जाने वाले आंवले आदि का परिमाण।
५. उद्वर्तन विधि—उबटन (पिण्डी) का परिमाण।
६. मज्जन विधि—स्नान-जल का परिमाण।
७. वस्त्र विधि—वस्त्र का परिमाण।
८. विलेपन विधि—चंदन आदि के विलेपन का परिमाण।
९. पुष्प विधि—पुष्प या पुष्पमाला का परिमाण।
१०. आभरण विधि—आभूषण का परिमाण।
११. धूपन विधि—अगरबत्ती आदि जलाने का परिमाण।
१२. भोजन विधि—खाद्य पदार्थों का परिमाण। जैसे—
 - पेय विधि—पेय द्रव्यों का परिमाण।
 - भक्ष्य विधि—मिठाई एवं नमकीन आदि का परिमाण।
 - ओदन विधि—चावल आदि अन्न का परिमाण।
 - सूप विधि—दालों का परिमाण।
 - घृत विधि—घृत, तेल आदि स्नेह का परिमाण।
 - शाक विधि—पालक आदि शाक का परिमाण।
 - मधुर विधि—आम आदि फलों तथा मेवा का परिमाण।
 - तेमन विधि—दही-बड़े आदि का परिमाण।

- ० पानीय विधि—पेय प्रकारों (भौम, अन्तरिक्ष) का परिमाण।
- ० मुखवास विधि—ताम्बूल आदि का परिमाण।
- १३. वाहन विधि—वाहन का परिमाण।
- १४. शयन विधि—पलंग, बिछौने आदि का परिमाण।
- १५. उपानद् विधि—जूते, चप्पल आदि का परिमाण।
- १६. सचित्त विधि—सजीव द्रव्यों का परिमाण।
- १७. द्रव्य विधि—खाद्य, पेय पदार्थों की संख्या का परिमाण।

भोजन संबंधी उपभोग-परिभोग व्रत की सुरक्षा के लिए मैं इन अतिक्रमणों से बचता रहूँगा।

१. सचित्ताहार—प्रत्याख्यान के उपरान्त सचित्त वस्तु का आहार करना।
२. सचित्त प्रतिबद्धाहार—सचित्त संयुक्त आहार करना।
३. अपक्व धान्य का आहार करना।
४. अर्धपक्व धान्य का आहार करना।
५. असार फल आदि खाना।

इन पांच मुख्य व्रतों के अतिरिक्त एक दिग्व्रत भी महत्त्वपूर्ण है, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति यह सीमा बांधता है कि वह अपना व्यवहार एक विशेष दूरी तक ही सीमित रखेगा।

इन व्रतों के अतिरिक्त तीन शिक्षाव्रत भी हैं—सामायिक व्रत, पौष्टोपवास व्रत और अतिथि संविभाग व्रत। जिनका संबंध मुख्यतः अध्यात्म से है। इनका कोई सीधा सामाजिक आयाम नहीं है। इसलिए उनका विशेष विवरण प्रस्तुत प्रसंग में अनावश्यक है।

पूजीवाद और समाजवाद की व्यवस्था अर्थकेन्द्रित थी। वर्णाश्रम व्यवस्था में अर्थकेन्द्र में तो नहीं था, किंतु फिर भी अर्थ का महत्त्व था। वेदव्यास ने धर्म से अर्थ और काम की सिद्धि मानी—धर्मादर्थश्च कामश्च...। जैन परम्परा को धर्म का यह स्वरूप स्वीकार्य नहीं है, जहां धर्म अर्थ और काम का साधन बनकर रह जाता है। जैन के लिए धर्म केन्द्र में है और धर्म का लक्ष्य मोक्ष है। मोक्ष की ओर अग्रसर होने के लिए अर्थ और काम शनैः शनैः त्याज्य हैं, न कि ग्राह्य। श्रमण संस्कृति के इस प्रवाह में ब्राह्मण परम्परा के दर्शन भी बह चले और पूर्व भीमांसा को छोड़कर शेष सभी दर्शनों ने धर्म का उद्देश्य मोक्ष मान लिया। इस प्रकार सभी दर्शन चाहे श्रमण हो या ब्राह्मण मोक्षोन्मुख होकर निवृत्ति प्रधान हो गये। परिणाम यह हुआ कि पुराण और स्मृति भले ही सामाजिक चिन्तन करती रही हो, किंतु दर्शनों में सामाजिक पक्ष इस अर्थ में

उपेक्षित हो गया कि इन दर्शनों ने हमें यह तो बताया कि क्या नहीं करना चाहिए और यह निषेध की सूची समाज के लिए उपयोगी भी है; किंतु समाज के निर्माण और विकास के लिए क्या करना चाहिए उसकी कोई गंभीर सूची हमें प्राप्त नहीं होती। परिणाम यह हुआ कि विचारकों ने दर्शनों की विशेषकर जैन दर्शन को निवृत्ति मूलक मानकर सामाजिक दृष्टि से विशेष उपयोगी नहीं माना।

इस संदर्भ में जैन चिंतन यह है कि सामाजिक व्यवस्था देश काल के अनुसार बदलती रहती है इसलिए कोई स्थायी सामाजिक व्यवस्था नहीं दी जा सकती। देश-काल के अनुसार वे सभी सामाजिक व्यवस्थायें ग्राह्य हैं जो हमारी धार्मिक मान्यताओं के प्रतिकूल न हो और जिनसे हमारे व्रतों में कोई बाधा न आती हो—

यत्र न सम्यक्त्वहानिर्यत्र न व्रतदूषणम् ।

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः ॥

निवृत्तिपरक धर्म शोधक है। समाज में फैली बुराइयों को दूर करने में उससे बहुत सहायता मिल सकती है, क्योंकि शोधन का कार्य व्यक्ति केन्द्रित है। शुद्धि व्यक्ति की की जाती है, समाज की नहीं। व्यक्ति के शुद्ध हो जाने पर समाज स्वयं शुद्ध हो जाता है।

किंतु शुद्धि ही पर्याप्त नहीं है। पोषण और निर्माण भी चाहिए। आधुनिक भाषा में कहें तो विकास भी करना है। विकास के लिए केवल व्यक्तिगत प्रयत्न पर्याप्त नहीं है, सामूहिक प्रयत्न भी चाहिए और जहां सामूहिक प्रयत्न का प्रश्न आता है वहां व्यवस्था का प्रश्न आता है। श्रमण परम्परा में साधु संघ के लिए भी व्यवस्था के नियम बनाने पड़े, क्योंकि संघ सामूहिक विकास का मंच था। आचार्य का पद, उपाध्याय का पद, गणधर— ये सब व्यवस्था के लिए बनाये गये पद हैं। विस्तृत नियमों का निर्माण किया गया जिनके आधीन साधु संघ का संचालन होना चाहिए। श्रावक संघ के संबंध में ऐसे नियमों का और व्यवस्थाओं का प्रायः अभाव ही दिखता है फिर भी कुछ ऐसे मूल्य एवं मानदण्ड हैं जिनका विस्तार करके हम उन्हें गृहस्थों पर भी लागू कर सकते हैं और वे समाज व्यवस्था का आधार बन सकते हैं। इनमें पांच मूल्य मुख्य हैं—

१. श्रम

२. स्वावलम्बन

३. वैयावृत्य

४. स्थिरीकरण

५. वात्सल्य।

१. श्रम—इस मूल्य का महत्व इतना अधिक है कि जैन परम्परा का प्राचीन नाम ही “श्रमण” है। आज का युग श्रमिक वर्ग के आन्दोलनों का युग है। श्रम के साथ स्वावलम्बन गुण को—जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे—मिला लें तो सर्वहारा और बुजुर्गों का वर्गभेद समाप्त हो जाता है। जैन साधु के जीवन में हम आज भी श्रम की महत्ता पूर्णतः प्रतिष्ठित पाते हैं, किंतु श्रमणोपासक भी श्रम को महत्व दे सकें तो समाज में ऊँच-नीच का भेद मिटाने में बहुत सहायता मिलें। आदिस समाज में श्रम सहज ही प्रतिष्ठित था किंतु उद्योगीकरण तथा यंत्रीकरण ने यह संभव बना दिया कि एक वर्ग के श्रम का फल ऐसा वर्ग भोगे जो बिलकुल श्रम न करे। इससे एक रुग्ण समाज उत्पन्न हो गया।

श्रमण का प्राकृत रूप समण है। इस शब्द का संबंध समता से भी है। श्रम समता रथापित करता है। किंतु यह ध्यान रहे कि जैन आचार पर आधारित श्रम भौतिक समृद्धि के पीछे एक ऐसे पागलपन को जन्म न दे कि मनुष्य भी यन्त्रों के साथ एक यन्त्र ही बन जाये जिसका उद्देश्य केवल उत्पादन हो। समिति—विवेकपूर्ण प्रवृत्ति—के साथ गुप्ति—मन, वचन तथा शरीर का विश्राम—भी आवश्यक है।

२. स्वावलम्बन—भगवान महावीर स्वामी का स्वावलम्बन इस कोटि का था कि उन्होंने भगवान का भी आश्रय लेना उचित न समझकर यह घोषणा कर दी कि हे पुरुष! तू अपना मित्र स्वयं है, बाहर मित्रों की खोज क्यों करता है। आज इस देश में हमारे परावलम्बन की स्थिति यह बन गई है कि हम अपने देश का काम काज भी अपनी भाषा में नहीं चला सकते। हममें हीनता की भवना इस बुरी तरह से घुसी है कि हमारे खान-पान, रहन-सहन, आचार-व्यवहार में जो कुछ भी “देशी” है उसे चुन-चुनकर निकाल फेंक रहे हैं जिससे हम अपनी ही भूमि पर अपनी ही मिट्टी की गंध को त्याज्य मानने लगे हैं। उसके परिणामस्वरूप वह आधुनिक समस्या उत्पन्न हो गयी, जिसे विचारक अलगाव या “एलिनियेशन” की समस्या कहते हैं।

३. वैयावृत्य—समाज में परस्पर सहयोग आवश्यक है। संघ में रहते हुए कोई मुनि भी किसी ग्लानमुनि की सेवा से इन्कार नहीं कर सकता। यह उसका परम कर्तव्य है। हाँ, कोई जिनकल्पी साधु संघ से पृथक् रहकर साधना करे तो वह इस दायित्व से मुक्त हो सकता है।

जैन समाज में सेवाकार्य के प्रति एक चेतना इधर विशेष रूप से जागी है। वस्तुतः सम्राट् अशोक के समय में संसार में सर्वप्रथम पशुओं का अस्पताल खोलने का श्रेय इस देश को प्राप्त है किंतु आधुनिक काल में यह सेवा भाव हमें परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप में ईसाई मिशनरियों से प्राप्त हुआ है। जैन आचार के आधार पर सेवा कार्य के संबंध में कुछ आवश्यक निर्देश नीति-शास्त्री भी प्राप्त कर सकता है।

सेवा में अहंकार का भाव व्यर्थ भी है और हानिकारक भी है। जब कोई पदार्थ हमारा है ही नहीं तो किसी को कुछ देकर हम दान देने का अभिमान करें यह सर्वथा मिथ्याभाव का परिणाम है। दान आसक्ति की निवृत्ति न करके मान—कषाय का पोषण करे तो ऐसा दान गीता के शब्दों में तामसिक दान ही माना जायेगा। जैन परिभाषा में ऐसा दान बंधन का कारण है। दान में दाता ग्रहीता के प्रति अवमानना की भावना रखे यह साक्षात् हिंसा है। दोनों में सर्वोत्तम दान वह है जो ग्रहीता को स्वावलम्बी बनाये परावलम्बी नहीं, श्रमशील बनाये निकम्मा नहीं क्योंकि श्रम और स्वावलम्बन के विरोधी दान नैतिक नहीं कहला सकते। अनुचित उपायों से अर्जित धन के कुछ अंश को दान देकर हम “अशर्फियां लुटें और कोयलों पर मोहर” वाली कहावत ही चरितार्थ करते हैं।

४. स्थिरीकरण—इसके मूल अर्थ के संबंध में हम ऊपर कह चुके हैं। वैयावृत्य सेवा है तो स्थिरीकरण सहयोग। अनैतिक मार्ग पर चलने वालों का पारस्परिक सहयोग प्रसिद्ध है किंतु नैतिकता पर चलने वालों को जिन संकटों का सामना करना पड़ता है वे संकट केवल भौतिक ही नहीं होते, आस्था को भी हिला देते हैं। ऐसे अवसरों पर एक दूसरे की आस्था को सक्रिय सहयोग द्वारा स्थिर न किया जाये तो सम्भवतः कभी नैतिक समाज का निर्माण ही न हो सके।

५. वात्सल्य—नैतिकता का अर्थ नीरसता नहीं है। नैतिकता का आधार यह है कि हम सब एक हैं। एक की हानि दूसरे की हानि है तथा एक का लाभ दूसरे का लाभ है। ऐसी स्थिति जीवन में एक रस उत्पन्न करती है जिसे हम अपनापन कहते हैं। यह अपनापन नैतिक जीवन के भार को सह्य ही नहीं, आनन्दमय बना देता है।

आवश्यकता नई व्यवस्था की

सामूहिक जीवन की विविध प्रणालियों में चार प्रमुख प्रणालियों का संक्षिप्त विवरण हमने दिया और साथ ही उन प्रणालियों के गुण-दोषों पर भी

संक्षेप में प्रकाश डाला। उनमें दो प्रणालियां—पूँजीवाद और समाजवाद—क्रमशः अमेरिका और तत्कालीन सोवियत संघ में मुख्य रूप से अपनाई गई। प्राचीन भारत में मुख्य रूप से राजतंत्र रहा और सामंतवादी या पूँजीवादी व्यवस्था चलती रही। उस राजतंत्र और सामन्तवादी व्यवस्था के अन्तर्गत ही वर्ण व्यवस्था भी चली। मध्य युग में हिंदु राज्य नहीं रहा, पर वर्ण व्यवस्था जातिप्रथा के रूप में बहुसंख्यक जन समुदाय में चलती रही, जिससे भारत में बाहर से आने वाला इस्लाम भी अछूता नहीं रहा। गांधीजी ने भारत की ग्रामीण अर्थ व्यवस्था का समर्थन किया, जो अर्थ व्यवस्था कुटीर उद्योगों पर टिकी थी और विकेन्द्रित थी। किंतु नेहरूजी ने उद्योगीकरण पर बल दिया और स्वतंत्रता के बाद तेजी से भारत का शहरीकरण हो गया। आज जाने अनजाने हम पश्चिम के पूँजीवाद और उपभोक्तृ जीवन शैली के पिछलगू बनकर रह गये हैं। उसका जो भी फल हुआ हो, एक यह फल तो हुआ ही है कि धन केन्द्र में आ गया है, जिससे धर्म तो पिछड़ ही गया, काम पुरुषार्थ भी विकृत रूप में शेष बचा है। धर्म के पिछड़ने का अर्थ है—भ्रष्टाचार। काम के विकृत रूप का अर्थ है—आत्मीयता का अभाव। भ्रष्टाचार ने कार्यालयीय व्यवस्था को लील लिया और आत्मीयता का अभाव परिवार के सुख को निगल गया। दफतरों में जायें तो भ्रष्टाचार के कारण भटकन शेष रह गई है। घर पर आयें तो पता चलता है कि सब रिश्ते नाते स्वार्थ के हैं। जो धर्म-स्थान शांति दे सकते थे वहां ऊपरी मुखौटे और वास्तविक चेहरे के बीच इतना बड़ा अन्तर आ गया है कि वहां जाकर प्रायः ईस्पित प्राप्त नहीं किया जा सकता। जीवन का रस ही साहित्य और कला का प्रेरणास्रोत होता है। जब वह रस नहीं रहा तो साहित्य एवं कला स्वयं ही सूख गये। मनुष्य के जड़ीभूत चित्त को झकझोरने के लिए दूरदर्शन पर बलात्कार और हिंसा के दृश्य शेष रह गये हैं। नवीनतम अन्तरता (इन्टरनेट) का आविष्कार अपने में कई अनर्थों का जाल छिपाये हुए हैं।

यह तो स्पष्ट है कि इन सब प्रतिकूलताओं के विरुद्ध व्यक्ति को ही संघर्ष करना होगा, किंतु वर्तमान में हमारे सामने प्रश्न यह है कि क्या कोई व्यवस्थागत सुझाव भी इस परिस्थिति का मुकाबला करने के लिए जा सकते हैं। यह मानकर चला जा सकता है कि किसी भी व्यवस्था की सफलता उस व्यवस्था को चलाने वाले व्यक्तियों पर निर्भर करती है। किंतु यह नहीं कहा जा सकता है कि व्यवस्था में अभीष्ट परिवर्तन लाने का प्रयत्न करना ही व्यर्थ है। यदि व्यक्ति व्यवस्थाओं को प्रभावित करते हैं तो व्यवस्थायें भी व्यक्ति को प्रभावित करती हैं। इसी दृष्टि से हमें यह चिंतन करना है कि पिछले

अनुभवों से सीखकर हम कौनसी नई व्यवस्था सोच सकते हैं। इतना स्पष्ट है हम इतिहास के प्रवाह को उल्टी दिशा में नहीं मोड़ सकते, किंतु यह भी स्पष्ट है कि कुछ तत्त्व ऐसे हैं जो कालातीत हैं और इसीलिए इतिहास से परे हैं। उन तत्त्वों को यह कहकर नहीं नकारा जा सकता कि वे अतीत काल के हैं।

केन्द्र है मनुष्य

पहला तथ्य यह है कि पदार्थ मनुष्य की आवश्यकता पूरी करने के लिए है। मनुष्य इसलिए नहीं है कि वह पदार्थ उत्पन्न करता रहे और संग्रह करता रहे, भले ही वह उसके काम न आये अथवा इससे भी आगे बढ़कर भले ही वह उसके लिए अहितकर भी सिद्ध क्यों न हो जाये। हेरोइन से मनुष्य का क्या भला होता है, लेकिन फिर भी हेरोइन पैदा की जाती है, क्योंकि वह बाजार में बिक सकती है। महात्मा गांधी ने भारत जैसे गरम देश के लिए शराब को अनावश्यक घोषित किया, लेकिन देखने में यह आ रहा है कि जैसे-जैसे विकास के कदम बढ़ते हैं, शराब के ठेकों की संख्या भी बढ़ जाती है। गांवों में भले ही पीने के स्वच्छ जल न हो, किंतु शराब उपलब्ध है क्योंकि पानी आवश्यक होने पर भी पैसा नहीं दिला पाता। शराब हानिकारक होने पर भी पैसा दिला देती है। किसी भी नई व्यवस्था में हमें केन्द्र में मनुष्य के हित को रखना होगा, पैसे के फायदे को नहीं।

समाजवाद में पैसे को राज्य के हाथ में देकर यह समझ लिया गया कि शोषण समाप्त हो जायेगा पर हम इस बात को भूल गये कि राज्य को भी मनुष्य ही चलाते हैं, और यदि शोषण की मूल मनोवृत्ति समाप्त नहीं होती हो तो व्यक्तिगत रूप से व्यक्ति जितना शोषण कर सकता है, उससे कहीं अधिक शोषण वह राज्य सत्ता पाकर कर सकता है। शोषण के लिए हिसाब-किताबी मस्तिष्क और मनोवृत्ति चाहिए। जब तक उसके साथ हार्दिकता न जुड़े शोषण नहीं रुक सकता। व्यक्ति हिसाब-किताब लाखों करोड़ों में करता था। राज्य के हिसाब-किताब अरबों-खरबों में होते हैं। इतने विपुल धन को संभालने के लिए गगनचुम्बी इमारतें बनती हैं और सचिवालयों के लम्बे चौड़े भूल-भुलैया वाले गलियारे बनते हैं। सामान्य व्यक्ति यदि उसमें घुस जाये तो उसे यह पता ही नहीं लगता कि बाहर किधर से निकले। एक बार तो यह लगता है कि चीजें बहुत वैज्ञानिक तरीके से की जा रही हैं और इन कार्यालयों में दूध का दूध और पानी का पानी हो रहा है। लेकिन थोड़ा-सा कुरेदते ही पता चलता है कि वहाँ भाई भतीजावाद, जातिवाद, प्रान्तवाद और भाषावाद के सभी चक्र एक साथ घूम रहे हैं। सुविधा शुल्क के नाम से रिश्वत मजे से ली दी जा रही है

जिसके लिए जो दलाल नियुक्त हैं वे अपना कार्यालयीय कार्य उतनी मुस्तैदी से नहीं करते हैं, जितनी मुस्तैदी से दलाली का काम करते हैं। व्यवस्थायें बदली जा सकती हैं और जब तब बदली भी जाती हैं। लेकिन कोई भी व्यवस्था रहे उसकी सफलता तो उसे चलाने वाले व्यक्तियों की सुसंस्कारिता पर ही निर्भर करेगी। शिक्षा व्यक्ति को पैसा कमाने का उपाय सिखाये लेकिन संस्कार न दे तो इस स्थिति को नहीं बदला जा सकता।

परिग्रह और सुख की व्याप्ति नहीं है

आज हमारी शिक्षा में इस व्याप्ति के दोष नहीं बताये जाते कि जहां-जहां पदार्थ हैं, वहां-वहां सुख हैं। यह व्याप्ति इस गलत आधार पर बना ली गई है कि पदार्थ के अभाव में दुःख देखने में आता है। यदि यह व्याप्ति बनाई जाये कि जहां आवश्यक पदार्थ नहीं है, वहां दुःख है, तो यह व्याप्ति गलत नहीं है। भूख हो और रोटी न मिले तो दुःख होता ही है, किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि पदार्थ के सदभाव में सुख होता ही है। भूख न हो तो रोटी होने पर भी सुख नहीं दे सकती। यह धारणा भी गलत है कि परिग्रह सदा समृद्धि लाता है। एक व्यक्ति सर्दी में तीन कपड़ों में स्वरथ और प्रसन्न घूम रहा है और दूसरा व्यक्ति पांच कपड़ों में भी न स्वरथ रह पाता है और न सर्दी के भय से मुक्त हो पाता है। दूसरे व्यक्ति के पास पहले की अपेक्षा दो कपड़े अधिक हैं किंतु क्या यह कहा जा सकता है कि वह पहले व्यक्ति की अपेक्षा वह समृद्धि भी अधिक है? एक दूसरा उदाहरण लें—एक व्यक्ति के सम्मुख शुद्ध सात्त्विक सुपाच्य और स्वारथ्यप्रद भोजन आता है। उसे खुलकर भूख लगी है और इसलिए उसे वह सादा भोजन भी अत्यन्त स्वादिष्ट लगता है। दूसरे व्यक्ति को खुलकर भूख लगती ही नहीं और इसलिए जब तक उसे तेज मिर्च मसालों वाला तला हुआ चटपटा भोजन न मिले, तब तक उसका भोजन करने को मन ही नहीं करता। पहले वाले व्यक्ति का सादा भोजन दस रुपये की लागत से बन जाता है और दूसरे प्रकार के भोजन में पच्चीस रुपये की लागत आती है। प्रश्न होता है कि पहली प्रकार का भोजन करने वाला व्यक्ति अधिक सुखी समृद्धि है या दूसरी प्रकार का भोजन करने वाला। स्पष्ट है कि परिग्रह के बढ़ने के साथ हमारी सुख समृद्धि बढ़ जाये, ऐसा कोई नियम नहीं है। आज हमारे संस्कारों में यह बात नहीं डाली जा रही कि परिग्रह का अभाव दुख का कारण है, तो परिग्रह का अतिभाव भी हमारी विपन्नता का सूचक है और दुःख का कारण भी है। यह संस्कार शायद समाजवाद भी नहीं डालता। वह अभाव को मिटाने के लिए अतिभाव पर अंकुश तो लगाता है, लेकिन यह नहीं सिखाता कि अतिभाव की

दुःख के साथ व्याप्ति है। यदि यह समझ लिया जाये तो अतिभाव पर अंकुश नहीं लगाना पड़ेगा, मनुष्य स्वयं ही अतिभाव से बचना चाहेगा।

इसी बात को एक दूसरे परिप्रेक्ष्य में भी देखें। एक व्यक्ति चिन्तित है कि कल बीमारी आ गई या सन्तान निकम्मी निकल गई या बुढ़ापे में शरीर ने काम न किया तो क्या होगा ? और इसीलिए उसके पैसा जोड़ने की इच्छा का कोई अंत नहीं है। दूसरा व्यक्ति सोचता है कि मैं अपनी जीवनचर्या नियमित रखूँ ताकि बीमार न पड़ूँ। अपनी संतान का ठीक पालन पोषण करूँ ताकि वह निकम्मी न निकल जाये। समाज सेवा की कुछ ऐसी योजनायें बनाकर रखूँ कि बुढ़ापे में भी दूसरों के लिए सार्थक बना रह सकूँ। वह इन दिशाओं में भी अपना श्रम और शक्ति लगाता है और जितना आवश्यक है उतना अर्थोपार्जन भी करता है। निश्चित ही वह दूसरा व्यक्ति पहले व्यक्ति की अपेक्षा अधिक संतुलित ढंग से जीवन जी पाता है। परिग्रह की यह सीमा यदि समझ में न आये और जितना परिग्रह उतना सुख यह गलत बात समझ में आ जाये तो फिर भ्रष्टाचार को रोकने का कोई कारगर उपाय भी शेष नहीं रहता क्योंकि सुख तो सभी चाहते हैं और यदि सुख का साधन परिग्रह है, तो परिग्रह अर्जित करने के लिए अपनाया गया कोई भी मार्ग उचित ही ठहरेगा। अपरिग्रह की अर्थात् अल्प परिग्रह की बात अब तक धर्म करता रहा है। आज विज्ञान का युग है। विज्ञान के पाठ्यक्रम में स्वास्थ्य की शिक्षा देते समय और पर्यावरण की समस्या पर विचार करते समय हमें असीमित परिग्रह को लक्ष्य बनाने के दुष्परिणाम स्पष्टतः अंकित करने होंगे।

समाजवाद भी अपरिग्रह नहीं ला पाया

इस दिशा में व्यवरथा के रूप में सबसे अधिक कार्य समाजवाद ने किया। किंतु समाजवाद पर टिके साम्यवादी देश भी शस्त्रों के संग्रह से छुट्टी नहीं पा सके। बल्कि चीन जैसे देश ने तिब्बत को निगलकर अपनी विस्तारवादी नीति का ही परिचय दिया।

विज्ञान भौतिक दूरी को दूर कर रहा है, लेकिन हृदय की दूरियां शायद बढ़ रही हैं। भूमंडलीकरण यदि हमें यह समझा सके कि परमार्थतः मनुष्य जाति एक है, जिसके बीच देश अथवा राष्ट्र के नाम पर खड़ी की गई दीवारें भी पारमार्थिक नहीं हैं तो राष्ट्रों के बीच चल रही होड़ वह कुत्सित रूप लेने से बच सकती है, जहां हर राष्ट्र अपना माल दूसरे राष्ट्र में बेचकर समृद्ध होने का स्वप्न देखता है। यह समझ जगानी होगी कि हम किसी दूसरे को नुकसान पहुँचाकर खुद फायदा नहीं उठा सकते। उस स्थिति में यह न होगा कि जहां

जो माल उत्पन्न होता है, वहां तो उस माल का अभाव पैदा हो जाये और वह माल दूसरी जगह की मंडी में विदेशी मुद्रा कमाने के लिए भरपूर मात्रा में फैला दिया जाये। शासकीय स्तर पर देश का स्तर ऊंचा उठाने के नाम पर ऐसी बेतुकी बातें होती रहती हैं।

स्वदेशी की गरिमा

एक बार यदि हम इस सिद्धान्त को मान लें कि जो पदार्थ जहां उत्पन्न होता है, वही पदार्थ वहां के लोगों के लिए सर्वाधिक उपयोगी है तो भारतवर्ष में हजारों वर्षों तक चलने वाली ग्रामीण अर्थ व्यवस्था कुछ परिवर्तन के साथ सार्थक हो सकती है। गांधीजी ने इस संबंध में लघु कुटीर उद्योग की अवधारणा दी थी। औद्योगीकरण के युग में वह अवधारणा अव्यवहारिक लग सकती है। शायद राज्य की सहायता से चलने वाले कुटीर उद्योग सफल भी नहीं हो सकते। आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा के साथ हम ऐसा प्रशिक्षण भी जोड़ें जो मनुष्य को आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बना सके। यह ठीक है कि शिक्षा के क्षेत्र में बच्चे पर बोझा बढ़ने की शिकायत की जा रही है, किंतु यह स्थिति स्कूलों की है। कॉलेज और विश्वविद्यालय के छात्र वर्ष में दो या तीन महीने पढ़कर प्रथम श्रेणी में परीक्षा उत्तीर्ण कर लेते हैं। शेष समय में वे प्रायः खाली ही रहते हैं। उस समय में उन्हें अर्थोपार्जन में सहायक उद्योगों का प्रशिक्षण सरलता से दिया जा सकता है।

समाजवाद के साथ अध्यात्म जुड़े

समाजवाद ने श्रमिक का महत्व बढ़ाने की बात तो की लेकिन श्रम का मानवीय गौरव वह भी रेखांकित नहीं कर पाया। क्योंकि वह एक भौतिक दर्शन था, जिसमें गौरव जैसी चीज उपेक्षणीय ही रहती है। श्रम के साथ यदि स्वावलम्बन जुड़ जाये तो मनुष्य में एक ऐसा आत्मविश्वास जागता है कि वह श्रम को कभी भी नीचा नहीं समझ सकता। सभी उत्पादन श्रम से होते हैं, किंतु जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि सभी उत्पादन मनुष्य के लिए उपयोगी होने जा रहा है, तो हमें अपने श्रम की एक सार्थकता नजर आने लगती है। ऐसा सारा उत्पादन जो मनुष्य के लिए सीधे रूप में उपयोगी हो वह प्रायः कुटीर उद्योग से उत्पन्न हो सकता है। उसके लिए बड़े कारखानों की जरूरत नहीं है। न ऐसा उत्पादन करने में बहुत पूंजी लगाने की आवश्यकता है और न ऐसे उत्पादन को खरीदने के लिए बहुत पैसा ही चाहिए।

परिग्रह सम्माननीय नहीं है

जिन चीजों को हमने आवश्यक मान लिया है, वे वस्तुतः उतनी

आवश्यक नहीं है। लेकिन जीवन का स्तर उठाने के लिए उन चीजों का होना आवश्यक मान लिया गया है। स्वस्थ, समर्थ, कार्यकुशल और बुद्धिमान् व्यक्ति अत्य परिग्रह में भी जितना सम्मान पा सकता है, उतना सम्मान वह परिग्रह के बढ़ाने से नहीं पा सकता। थोड़ा-सा गहराई में जायें तो पता चलेगा कि पद प्रतिष्ठा और पैसा ऊपरी सम्मान ही दिलवा सकता है। हार्दिक सम्मान तो मनुष्यता को ही मिलता है।

जन प्रतिनिधियों का दायित्व

कहा जा सकता है कि यह सब बातें सैद्धान्तिक हैं, इन्हें व्यवहार में कैसे लाया जाये? उत्तर यह है कि सामान्य लोग बड़े लोगों की नकल किया करते हैं। प्रजातंत्र में जन-प्रतिनिधि ही बड़े माने जाते हैं। वे संख्या में अधिक नहीं होते। यदि वे स्वयं से प्रारम्भ कर सकें तो यह कोई घाटे का सौदा सिद्ध नहीं होगा। आम आदमी में जो यह धारणा बनती जा रही है कि उनके द्वारा चुने गये प्रतिनिधि लूट खसोट में लगे हैं, यह उन जन-प्रतिनिधियों के लिये अच्छी बात नहीं है।

स्वार्थ को परमार्थ में बदलें

माना जाता है कि मनुष्य स्वार्थी है, किंतु इससे भी बड़ा सच यह है कि जो मनुष्य अपने स्वार्थ के दायरे को जितना अधिक विस्तृत कर पाता है, वह उतना ही आगे बढ़ जाता है। जब तक हमारा स्वार्थ परमार्थ में न बदले तब तक वह एक घुटन ही पैदा करता है। हमें उन्मुक्त वातावरण में सांस नहीं लेने देता।

यदि हम परमार्थ को थोड़ा भी विस्तृत कर सकें तो वही पैसा, जो स्पर्द्धा और संघर्ष का कारण बनता है, स्नेह और सहयोग का माध्यम बन सकता है। यह बात युगों से कहीं जा रही है किंतु आज इस बात का अर्थ कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है क्योंकि विज्ञान के कारण हम एक-दूसरे के इतने अधिक निकट आ गये हैं कि अब किसी को पराया मानने की पुरानी पद्धति असंगत बन गई है और इस निकटता के कारण किसी को भी नुकसान पहुंचाने का परिणाम बड़ी त्वरित गति से हमें ही भोगना पड़ जाता है। भगवान् महावीर ने कहा था कि तुम जिसकी हिंसा करना चाहते हो वह तुम स्वयं ही हो। यह बात मुख्यतः आध्यात्मिक स्तर पर की गई थी। आज भौतिक धरातल पर भी यह बात प्रत्यक्ष गोचर हो रही है। जंगलों को कटने से वनस्पतिकाय की हिंसा होती है, लेकिन अनावृष्टि या बाढ़ के रूप में जंगलों के कटने का दुष्परिणाम स्वयं हमें भी भोगना पड़ जाता है। औद्योगीकरण ने जहां शोषण को प्रोत्साहित

किया, वहां तक वह समस्या शोषित वर्ग के प्रतिकूल थी, किंतु शोषक के लिए तो अनुकूल ही थी। अब जब यह तथ्य उजागर हुआ कि उद्योगों से पर्यावरण नष्ट हो रहा है तो यह भी प्रकट हो गया कि उद्योग केवल शोषित के लिए ही प्रतिकूल नहीं है, शोषक के लिए भी घातक सिद्ध हो रहे हैं। क्योंकि पर्यावरण प्रदूषण शोषित और शोषक के बीच भेद नहीं करता। दूषित वायु और जल गरीब-अमीर सबको मारते हैं। अमीर भी उस मार से बच नहीं पाता। आणविक शस्त्रों के आविष्कार के कारण भी यही स्थिति बनी है कि उनके दुष्परिणामों का फल आक्रान्ता को तो भोगना पड़ता है, आक्रामक को भी भोगना पड़ता है। इस सारी बदली हुई परिस्थिति ने हमें वह तथ्य जो पहले आध्यात्मिक स्तर पर ज्ञात थे, अब भौतिक स्तर पर ज्ञात करा दिया है कि किसी को भी नुकसान पहुंचाने में हमारा अपना ही नुकसान अन्तर्निहित रहता है। पहले भी अज्ञानवश मनुष्य हिंसा करता था, तो यह नहीं समझ पाता था कि वह हिंसा करने में अपना ही नुकसान कर रहा है किंतु यदि आज मनुष्य इस बात को नहीं समझ रहा है तो वह प्राचीनकाल के अज्ञानी की अपेक्षा अधिक बड़ा अज्ञानी है, क्योंकि वह हिंसा के रथूल दुष्परिणामों को भी नहीं देख पा रहा है।

निष्कर्ष यह है कि आत्मीयता का आधार पहले भी यही था और आज भी यही है कि दूसरे की बुराई में मेरी बुराई है और दूसरे के हित में मेरा हित है। यही समझ स्वार्थ को परमार्थ में बदल देती है। परमार्थ वह है जहां स्वार्थ परार्थ का विरोधी नहीं होता, अपितु जहां परार्थ स्वार्थ का सहायक होता है अथवा यह कहना अधिक उचित होगा कि परमार्थ में स्वार्थ और परार्थ के बीच की दीवार ही गिर जाती है। अब तक की अर्थ व्यवस्था स्वार्थ और परार्थ की भाषा को लेकर चलती है। समय आ गया है कि अर्थ व्यवस्था को परमार्थ के आधार पर खड़ा किया जाये।

ऐसी अर्थ व्यवस्था में हम जब यह सोचेंगे कि इस प्रक्रिया से अमुक का लाभ हो रहा है तो अमुक की हानि भी हो रही है, तब हमारा आदर्श थोड़ों के लिए बहुतों के हित का बलिदान तो होगा ही नहीं, जैसा कि पूंजीवादी व्यवस्था में होता है, साथ ही बहुतों के हित के लिए थोड़ों के हित का भी हनन नहीं करेंगे, जैसाकि समाजवाद में होता है। अर्थ के परमार्थीकरण का अभिप्राय होगा—“सर्वजनसुखाय सर्वजनहिताय” न कि “बहुजनहिताय बहुजनसुखाय।” यह तब होगा जब न केवल जाति, वर्ण या सम्प्रदाय की दीवारें टूट जायें बल्कि राष्ट्र की दीवारें भी टूटकर पृथ्वी सूक्त का यह उद्घोष साकार हो जाये कि भूमि मेरी मां है और मैं पृथ्वी का पुत्र हूं—

“माता भूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्याः”

इस अर्थव्यवस्था का प्रथम मानदंड यह होगा कि मनुष्य की जो प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं, उनकी पूर्ति के लिए उपभोक्तृवाद आड़े ना आये। इन प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो कुछ पदार्थ चाहिए उन्हें श्रमिक अपने श्रम से पूरा करेगा और उनके उत्पन्न करने के लिए अधिक पैसे वालों के द्वारा ऐसे उद्योग नहीं लगाये जायेंगे जो श्रमिक के हाथ ही काट दें। अर्थात् श्रमिक अपने श्रम से जो माल उत्पन्न करे वह मिल के माल के मुकाबले में बाजार में खड़ा ही न हो सके। इसका यह अर्थ होगा कि श्रमिक का महत्त्व बढ़ेगा और प्राथमिक आवश्यकता की चीजें महंगाई की चपेट में नहीं आयेंगी। महात्मा गांधी का खादी दर्शन इसी आधार पर खड़ा था लेकिन पंडित नेहरू की विकासवाद की पश्चिमी अवधारणा ने उसे चलने नहीं दिया।

आज धन केन्द्र में है

धन का स्थान पहले भी महत्त्वपूर्ण रहा है, पर केवल धन महत्त्वपूर्ण नहीं था। क्षत्रिय आन-बान के पीछे सत्ता को भी दांव पर लगा देता था। कोई शरण में आ गया तो यह जानते हुए भी कि वह उसके लिए मुसीबत का कारण हो सकता है, वह उसकी सुरक्षा के लिए आखिरी दम तक लड़ता था। ब्राह्मण विसर्जन के लिए स्वेच्छापूर्वक विलासी जीवन को ठुकराने में अपना गौरव मानता था। शूद्र सेवा के बदले में प्रतिष्ठा प्राप्त करके संतुष्ट था। वैश्य के केन्द्र में अवश्य धन था किंतु वह भी धन की अपेक्षा अपनी साख को ज्यादा महत्त्व देता था, क्योंकि वह जानता था कि समाज में उसका अस्तित्व उसकी साख पर टिका है न कि उसकी चालबाजियों पर। आज अर्थ पर से समाज का नियन्त्रण हट गया और राज्य का नियन्त्रण हो गया, इसलिए अर्थोपार्जन के लिए साख महत्त्वपूर्ण नहीं रही बल्कि उन तौर-तरीकों का ज्ञान महत्त्वपूर्ण हो गया जिन तौर-तरीकों से सरकारी रूपया खींचा जा सकता है और बेर्इमानी जिन तौर-तरीकों का अभिन्न अंग है। इसी व्यवस्था का दूसरा नाम लाइसेंस परमिट राज है।

अर्थ व्यवस्था का एक रूप है—सरकारी ऋण। सरकार की तरफ से ऐसी योजनायें चल रही हैं कि पांच हजार जेब से लगाइये और पांच लाख ऋण में पाइये। कहा यह जा रहा है कि उस ऋण से व्यक्ति जो काम करेगा, वह कल्याण के होंगे। लेकिन हो यह रहा है कि व्यक्ति कर्जा लेकर अपना घर भर रहा है। जब वह कर्जा राष्ट्रीय स्तर पर लिया दिया जाता है तो कर्जा लेने वाले राष्ट्र को उस कर्जे की कीमत अपनी अस्मिता बेचकर चुकानी पड़ती है। जैसे ही हम किसी देश के कर्जदार होते हैं वह देश हमारी आन्तरिक व्यवस्था

में भी अपनी शर्तें रखने लगता है, जिसका अर्थ यह होता है कि हमारी स्वतंत्रता केवल दिखावे की चीज बनकर रह जाती है। वास्तव में हम परतंत्र हो जाते हैं। पर फिर भी हमें कर्जा इसलिए लेना पड़ता है कि हम अपनी कृत्रिम आवश्यकताओं को प्राथमिक आवश्यकतायें मान बैठे हैं। आवश्यकता इस बात की है कि आवश्यक और अनावश्यक के बीच रेखा खींची जाये। जैसे ही यह रेखा खींचती है, और अनावश्यक का मूल्य समाप्त होता है, वैसे ही केन्द्र से अर्थ हट जायेगा और उसके स्थान पर मानवीय मूल्य स्थापित हो जायेंगे।

विकेन्द्रित अर्थ व्यवस्था और मानवीय संस्पर्श

उद्योगीकरण के दौर की एक प्रकृति है कि लघु उद्योगों का स्थान यंत्रों के आविष्कार के कारण बड़े-बड़े उद्योग लेते जा रहे हैं। इन बड़े उद्योगों में छोटे-छोटे विभाग हैं। केन्द्र इन विभागों पर नियन्त्रण रखना चाहता है और ये विभाग स्वतंत्रता चाहते हैं। मानवीयता के नाते इन दोनों के बीच सामंजस्य स्थापित करने की आवश्यकता है। व्यवस्था के लिए नियन्त्रण आवश्यक है, किंतु सर्जनात्मकता के लिए स्वतंत्रता आवश्यक है। यदि नियन्त्रण में कहीं अभाव आता है तो व्यवस्था गड़बड़ा जाती है और यदि कहीं स्वतंत्रता बाधित होती है तो सर्जनात्मकता की हत्या होती है और कुण्ठा का जन्म होता है। व्यवस्था और स्वतंत्रता के बीच समन्वय के लिए पांच बातों का ख्याल आवश्यक है—

1. जिन कार्यों को कोई छोटा घटक कर सके उस कार्य में केन्द्र हस्तक्षेप न करे। केन्द्र ऐसी स्थिति में छोटे घटकों की सहायता कर सकता है, किंतु वह सहायता भी ऊपर से थोपी नहीं जानी चाहिए। छोटे घटकों को यह अनुभव होना चाहिए कि वे अपने उत्तरदायित्व को समझते हैं न कि उन्हें केन्द्र की ओर से उनका उत्तरदायित्व समझाया जाना है। ऐसा होने पर केन्द्र स्वयं ही पुष्ट हो जायेगा।
2. केन्द्र को यह समझना चाहिए कि उसका कार्य अपने आधीनस्थ घटकों की रक्षा करना है, न कि उन पर आरोप लगाना। व्यवस्था के लिए अनुशासन आवश्यक है, किंतु अनुशासन का अर्थ हर बात में रोक टोक करना नहीं है अपितु उद्देश्य की पूर्ति ही अनुशासन का लक्ष्य है। उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए रुचि वैचित्र्य के कारण यदि छोटे घटक अलग-अलग मार्ग अपना रहे हों तो उन मार्गों में एकरूपता लाना केन्द्र का कार्य नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से व्यक्ति की काम में रुचि समाप्त हो जाती है।
3. यह बहुत सम्भव है कि एक घटक सशक्त हो और दूसरा घटक कमज़ोर

हो। ऐसी स्थिति में केन्द्र का यह दायित्व बनता है कि सशक्त घटक से कमज़ोर घटक को सहायता दिलाए। इसे अपने ही शरीर के स्वरथ अंग द्वारा अस्वरथ अंग के उपचार करने जैसा समझना चाहिए।

८. हर छोटे घटक को यह अधिकार होना चाहिए कि वह अपनी सफलता और असफलताओं का विश्लेषण स्वयं करे। केन्द्र जो कुछ भी कहे वह आदेश या उपदेश के रूप में न होकर सुझाव के रूप में होना चाहिए।
५. केन्द्र का कार्य ऐसा बातावरण बनाना है कि कर्मचारी अपने कर्म में रस ले सके। उसकी दृष्टि कर्मचारी पर होनी चाहिए न कि कार्य पर। यदि कर्मचारी आनन्दित होगा तो उसके द्वारा सम्पन्न कार्य तो स्वयं ही सुचारू हो जायेगा। इसका अर्थ यह है कि हमारा लक्ष्य मनुष्य है न कि कर्म। ज्ञान और उत्साह मनुष्य में रहता है। यदि इन दो तत्त्वों को पुष्ट किया जा सके तो कर्म स्वतः ही पुष्ट हो जायेगा।

उपर्युक्त सुझाव अमरीकी अर्थशास्त्री शूमेखर ने दिये हैं। यहां ये सुझाव इसलिए दिए हैं कि आचार्य महाप्रज्ञ के चिन्तन को यदि विस्तार दिया जाये तो उसमें से भी कुछ ऐसे ही बिंदु फलित होने की आशा की जा सकती है।

उपसंहार

वस्तुस्थिति यह है कि आचार्य महाप्रज्ञ जैसा एक धर्माचार्य विचार दे सकता है, किंतु उसकी क्रियान्विति सामाजिक प्राणियों के पुरुषार्थ पर निर्भर करती है। हृदय परिवर्तन का पक्ष धर्माचार्यों के हाथ में है किंतु व्यवस्था परिवर्तन सत्ताधारी ही कर सकते हैं। कार्लमार्क्स को लेनिन मिल गये थे, किंतु न महात्मा गांधी को लेनिन मिल पाये और न आचार्य महाप्रज्ञ को, जो उनके विचारों को व्यवस्था के स्तर पर साकार रूप दे सके। महात्मा गांधी सत्ता के प्रति उदासीन थे। आचार्य महाप्रज्ञ भी सत्ता के प्रति निःस्पृह हैं। समाजशास्त्रियों के बीच भी अभी ऐसा कोई वर्ग दिखाई नहीं दे रहा है जो आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा दिये गये ढांचे के आधार पर एक सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप दे सके। इस दृष्टि से संभवतः महात्मा गांधी अधिक भाग्यशाली रहे। वस्तुस्थिति यह है कि महात्मा गांधी एक गृहस्थ होने के नाते उन सीमाओं से नहीं बंधे थे जिन सीमाओं से एक तेरापंथी जैन आचार्य होने के नाते आचार्य महाप्रज्ञ बंधे हैं। इन दोनों युगपुरुषों में व्रतों की दृष्टि से बहुत अधिक साम्य है, किंतु जहां एक ओर महात्मा गांधी समाज के लिए आवश्यक उत्पादक शारीरिक श्रम को बहुत महत्त्व देते हैं वहां आचार्य महाप्रज्ञ उसकी ओर केवल इंगित ही कर पाते हैं और दूसरी ओर आचार्य महाप्रज्ञ आध्यात्मिक साधना का एक विस्तृत

व्यावहारिक कार्यक्रम देते हैं, जबकि महात्मा गांधी उस ओर केवल संकेत ही कर पाते हैं। इस दृष्टि से ये दोनों युगपुरुष एक दूसरे के परिपूरक ही सिद्ध हो रहे हैं।

भूमण्डलीकरण की घटना अपेक्षाकृत नवीन है। महात्मा गांधी के जीवन का सक्रिय भाग तब रहा जब भारत पराधीन था। इसलिए वे अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रति सचेत होते हुए भी राष्ट्रीयता से अभिभूत थे। आचार्य महाप्रज्ञ के लिए भारतीय राष्ट्रीयता का अर्थ उतना राजनैतिक या भौगोलिक नहीं है जितना सांस्कृतिक। भारत की धरती में रची बसी उदारता को उन्होंने अनेकान्त के माध्यम से उजागर किया है।

आचार्य महाप्रज्ञ ने प्राचीन को दोहन करके उसे नवीन के अनुरूप बनाया। ऐसा करने के लिए उन्होंने कभी भी प्राचीन को विकृत नहीं किया। उन्हें ऐसा करने की आवश्यकता भी नहीं पड़ी, क्योंकि उन्होंने प्राचीन के सार्थक अंश को लिया। जो कुछ समसामयिक था उसे उन्होंने समसामयिक दृष्टि से ही देखा। प्राचीन के अनावश्यक मोह में पढ़कर समसामयिक को प्राचीन के साथ बलपूर्वक भिलाने की कोई चेष्टा उन्होंने नहीं की।

आधुनिक समाजशास्त्री आचार्य महाप्रज्ञ से अवश्य यह आशा कर सकते हैं कि वे समाज संचालन के कुछ विधायक सूत्र देंगे। यदि वे ऐसा करते तो समाजशास्त्र का एक नया प्रस्थान खड़ा कर सकते थे, किंतु उन्होंने ऐसा नहीं किया। उन्होंने नई समाज व्यवस्था की आत्मा तो प्रदान की किंतु उसे शरीर प्रदान करने का कार्य वे नहीं कर पाये। जो शरीर को ही देख पाते हैं उनकी दृष्टि में आचार्य महाप्रज्ञ ने समाजशास्त्र को कोई नया योगदान नहीं दिया, किंतु जो आत्मा को देखने में समर्थ हैं वे पायेंगे कि उन्होंने एक वैकल्पिक समाज व्यवस्था का सूत्रपात कर दिया है जिसका पल्लवन समाजशास्त्री कर सकते हैं।

आचार्य महाप्रज्ञ को युगप्रधान की अभिधा प्रदान की गई है यह हम सबकी अपेक्षा से कहा गया है। वे स्वयं अपनी अपेक्षा से अपने आपको युगद्रष्टा मानते हैं। दोनों ही स्थितियों में उनका युगबोध प्रखर है। हम उन्हें युगप्रधान कहकर अपनी कृतज्ञता ज्ञापित कर रहे हैं और वे अपने को युगद्रष्टा मानकर अपनी निरभिमानता सूचित करते हैं।

महाप्रज्ञा उवाच

एक साहूकार और एक अपराधी—दोनों का लक्ष्य समान है—अधिकतम उपभोग, अधिकतम सुविधा और अधिकतम धन।

जहां तरीके पर विचार करें, वहां साहूकार का दायरा अलग है, अपराधी का कटघरा अलग है। जहां लक्ष्य पर विचार करें, वहां साहूकार और अपराधी दोनों एक ही कारागृह के बंदी हैं।

आखिर विकास किसलिए? विकास के लिए मनुष्य है या मनुष्य के लिए विकास है? यदि विकास के लिए मनुष्य है तो वह विकास की मशीन का एक पुर्जा मात्र है। यदि मनुष्य के लिए विकास है तो मनुष्य के अस्तित्व पर विचार करना होगा।

इन्द्रिय चेतना के स्तर पर जीने वाले समाज का केन्द्रीय बिंदु है—इन्द्रिय तृप्ति। उसका साधन है—अर्थ। इसलिए अर्थ के प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक है।

पूजा, प्रतिष्ठा, सम्मान की पूर्ति का सर्वाधिक शक्तिशाली साधन है—अर्थ। इसलिए अर्थ की आराधना अहेतुक नहीं है।

हर मनुष्य अधिक से अधिक सुख-सुविधा चाहता है। उसका साधन है—अर्थ इसलिए अर्थ के प्रति आकर्षण कम नहीं हो सकता।

परिग्रह के तीन प्रकार हैं—कर्म, शरीर और पदार्थ। जड़ में कर्म है, जहां से मूर्च्छा और अधिकार की भावना आ रही है। दूसरा परिग्रह है शरीर। तीसरा परिग्रह है—पदार्थ, धन, धान्य, मकान आदि। आदमी घर छोड़कर भी शरीर की आसक्ति को नहीं छोड़ता।

विज्ञान कहता है कि एक लाख से ज्यादा प्रकार के प्रोटीन हमारे शरीर के भीतर बनते हैं। रसायनों से भरा पड़ा है हमारा शरीर। इतना बड़ा कारखाना शरीर के भीतर है। उसको चलाने वाला चाहिए, उसका स्विच बोर्ड

मिलना चाहिए। न जाने वह कितना भीतर है। हम कैसे इन अध्यात्म रहस्यों को समझने का प्रयत्न करें? जब यह प्रश्न क्रियान्वित होगा, सारी धारणाएं बदल जायेंगी।

इन्द्रिय तृष्णि, मन की तुष्टि, सुविधावादी दृष्टिकोण और अधिकार की मौलिक मनोवृत्ति का परिष्कार किए बिना अहिंसक समाज अथवा शोषण विहीन समाज का सपना कोरा सपना ही रहेगा, वह साकार नहीं हो पायेगा।

शक्ति अव्यक्त रहती है—अथवा अव्यक्त में शक्ति निहित है। उसकी अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है ज्योति। यह दीप, मणि, विद्युत् अथवा सूर्य के बिन्दु से निःसृत होने वाली ज्योति नहीं है। यह है अन्तर् में उद्भासित होने वाली ज्योति। उस ज्योति की प्रतिबंधक शक्ति निशा नहीं है, निशा में होने वाला तम भी नहीं है। उसके लिए दिन और रात का कोई भेद नहीं है। उस ज्योति का आवरक है—मोह, मूर्छा या मूढ़ता।

वैदिक ऋषि ने “सत्यमेव जयते” मंत्र का पाठ किया था—मोह से निर्मोह की भूमिका तक पहुंचने के लिए। उसके शब्दोचार मात्र से वहां नहीं पहुंचा जा सकता जहां पहुंचना है। आवश्यक है—मंत्र के अर्थ के साथ तादात्म्य।

अर्थ के विषय में एक सापेक्ष दृष्टिकोण का निर्माण आवश्यक है। धर्म ग्रन्थों में अर्थ के जितने दोष बतलाये गये हैं, वे सत्यांश से परे नहीं हैं। अर्थशास्त्र के विकास के लिए अर्थ के मूल्य का प्रतिपादन किया गया है। उसमें भी सत्यांश है। दोनों को मिलाकर एक सापेक्ष सत्य की अवधारणा निर्मित करनी है। उसका नाम होगा—संतुलित अर्थशास्त्र।

सत्ता की पीठ पर बैठे हुए लोग विज्ञान का अधिकतम उपयोग अपनी सुरक्षा और प्रभुत्व की संवृद्धि के लिए करना चाहते हैं। उद्योगपति विज्ञान का उपयोग अपने व्यवसाय को बढ़ाने के लिए करना चाहता है। सत्य की शोध का क्षेत्र सत्यान्वेषी दार्शनिकों और वैज्ञानिकों से शून्य जैसा हो रहा है। इस स्थिति में समाज व्यवस्था को बदलने का स्वप्न क्या दिवास्वप्न नहीं है?

इस ध्रुव सत्य की घोषणा की जा सकती है—अतीन्द्रिय चेतना की पृष्ठभूमि का निर्माण किए बिना समाजवाद का अवतरण नहीं किया जा सकता।

चेतना की उपेक्षा कर केवल उत्पादन और वितरण की समानता के आधार पर समाज की व्यवस्था को नहीं बदला जा सकता। समानता की व्यवस्था करने वाले स्वयं विषमता उत्पन्न करने लग जाते हैं। यदि उनकी

चेतना का रूपान्तरण नहीं हुआ तो क्या होगा?

आईस्टीन जैसे धुरीण वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुंचे—केवल ज्ञेय की शोध में लगा हुआ विज्ञान समस्या का समाधान नहीं है। ज्ञाता की प्रकृति और प्रवृत्ति को जानकर ही हम कुछ नया सृजन कर सकते हैं।

आपराधिक प्रवृत्तियों को रोकने के लिए दण्ड की उपयोगिता मान भी ली जाए, फिर भी समाज व्यवस्था को बदलने का वह आधार नहीं बनता। उसका आधार बन सकता है—सम्यक् दर्शन, दृष्टिकोण का परिवर्तन।

सामाजिक मूल्यों को बदलने के लिए नये सामाजिक मूल्यों को मस्तिष्क में प्रस्तु द करना परिवर्तन की अनिवार्य प्रक्रिया है। परिवर्तन के बीज की उपेक्षा कर सीधे फल तोड़ने की बात कभी न सोचें।

संवेदनशीलता या करुणा के अंकुर गरीबी की उर्वरा में पनपते हैं। उनके लिए अमीरी एक बंजर भूमि है। जैसे लाभ होता है, वैसे ही लोभ बढ़ता है, आसक्ति बढ़ती है। जैसे लोभ बढ़ता है, वैसे ही क्रूरता बढ़ती है।

गरीबी एक विकल्प है। अमीरी दूसरा विकल्प है। तीसरा विकल्प है गरीबी+अमीरी। इस तीसरे विकल्प में जीवन यापन के साधनों का अभाव नहीं होता और धन के प्रति आसक्ति या मूर्च्छा नहीं होती। साधन का भाव और आसक्ति का अभाव—ये दोनों मिलकर तीसरे विकल्प का निर्माण करते हैं।

केवल मनोवृत्ति को बदलना भी एकान्तवादी दृष्टिकोण है। केवल व्यवस्था को बदलना भी एकान्तवादी दृष्टिकोण है। अनेकान्तवादी का दृष्टिकोण यह है—मनोवृत्ति और व्यवस्था—दोनों का युगपत् परिवर्तन होना चाहिए। यह युगपत्वाद अनेकान्त का प्राणतत्व है।

कोरा चरखा चले और चरखे के साथ जुड़ी हुई चेतना समाप्त हो जाये तो वैज्ञानिक उपकरणों के सामने चरखा अपना मूल्य स्थापित नहीं कर सकता।

यह प्रश्न पूछा जाता है कि इतने धर्मशास्त्रों और धर्मगुरुओं के होते हुए भी समाज क्यों नहीं बदला? यह प्रश्न नहीं पूछा जाता कि दण्ड की इतनी विधियों के होते हुए भी समाज क्यों नहीं बदला? यदि दण्ड समाज के लिए अंकुश है तो धर्म भी कम अंकुश नहीं है। दण्ड के भय से बहुसंख्यक लोग अपराध से बचे हुए हैं। उसकी सामानान्तर उकित यह है कि धर्म की धारणा से भी बहुसंख्यक लोग अपराध से बचे हुए हैं। हमें इस बिंदु पर चिन्तन करना चाहिए कि दण्ड नहीं होता तो समाज कैसा होता। धर्म की धारणा नहीं होती तो समाज कैसा होता। धर्म और दण्डनीति—दोनों का अपना-अपना क्षेत्र है,

और अपना-अपना मूल्य है। इनसे निरपेक्ष होकर हम व्यक्ति और समाज व्यवस्था के परिवर्तन की बात नहीं सोच सकते।

अहं का शरीर धर्म का परिधान पहनकर यह सब कुछ कर रहा है। वह नये समाज की रचना में सबसे बड़ा विघ्न बन रहा है। जरूरत है किसी नये विनायक की, जो इस विघ्न का विनाश कर डाले। वह विनायक हो सकता है—अनेकान्त।

जातिवाद अभिजात वर्ग के अहंकार की उपज है। इसे धर्म का कवच पहनाया गया है। इस अपेक्षा दृष्टि से देखने पर जातिवाद का जहर अपने आप मृदुता की सुधा में बदल जाता है।

मार्क्सवाद को गांधीवाद की चुनौति दी जा सकती है और गांधीवाद को मार्क्सवाद की चुनौति दी जा सकती है। किंतु गांधीवाद और मार्क्सवाद के सत्यांशों को समन्वय की दृष्टि से नहीं देखा जा सका, इसलिए दोनों अच्छाइयां एक-दूसरे के प्रतिपक्ष में खड़ी हैं।

केनिज, मार्शल आदि के अर्थशास्त्र के अपने कुटीर हैं तो गांधी, शूमेखर आदि के अर्थशास्त्र अपनी जगह खड़े हैं। एक-दूसरे पर कटाक्ष किया जा रहा है, किंतु दोनों को मिलाकर एक नये अर्थशास्त्र का निर्माण नहीं किया जा रहा है।

ऊपर से अनुशासन करने की आवश्यकता और उसके क्षेत्र को जितना अधिक से अधिक संभव हो, संकुचित और सीमाबद्ध किया जाये तथा आत्मानुशासन के क्षेत्र का उत्तरोत्तर विस्तार किया जाये।

इस खुतरे से बचने का मुझे केवल एक ही उपाय मिला कि जहां तक व्यावहारिक हो सके, जनता के लिए राज्य के बिना काम चलाना और अपनी व्यवस्था प्रत्यक्ष रूप में अपने आप कर लेना संभव बनाया जाये। समाजवाद की भाषा में बोलना हो तो मैं इस प्रकार कहूँगा कि राज्य सत्ता का इस्तेमाल करके समाजवाद कायम करने की बजाय जनता के स्वैच्छिक प्रयत्नों द्वारा समाजवादी जीवन के स्वरूपों की सृष्टि और विकास किया जाये।

जहां मानवता का प्रश्न है, वहां समाज व्यवस्था, राज्य व्यवस्था और अर्थव्यवस्था को अविभक्त रूप में देखना होता है। पहले समाज व्यवस्था अच्छी हो अथवा राज्य व्यवस्था ? पहले राज्य व्यवस्था अच्छी हो अथवा अर्थव्यवस्था ? इस प्रश्न का उत्तर पौर्वार्पण में नहीं खोजा जा सकता।

आज प्रत्येक व्यक्ति व्यापारी है। उसका दिमाग व्यवसायिक है, फिर

चाहे वह राजनैतिक क्षेत्र में हो या धार्मिक क्षेत्र में। किसको व्यापारी कहें और किसको न कहें? लगता है संसार का प्रत्येक वर्ग व्यापारी है।

पहले लड़ाइयां होती थीं भूमि के लिए और आज संघर्ष चल रहा है आर्थिक प्रभुत्व के लिए, आर्थिक साम्राज्य को बढ़ाने के लिए।

सूत्र है—आवश्यकता बढ़ाएं, कार्य क्षमता को बढ़ाएं और उत्पादन को बढ़ाएं।

एक ओर कहा जा रहा है—आवश्यकताएं बढ़ाओ। दूसरी ओर कहा जा रहा है—परिवार नियोजन करो। कैसा विरोधाभास है। एक ओर आवश्यकता को बढ़ाओ और दूसरी ओर जनसंख्या को घटाओ। इसका सीधा-सा अर्थ है—चेतना को घटाओ और पदार्थ को बढ़ाओ।

मनुष्य की कार्यक्षमता बढ़ाने की बात कम है, यंत्रों की कार्यक्षमता बढ़ाने की बात अधिक है।

परिणाम है कि मजदूर कम होते जा रहे हैं और यंत्र उसका स्थान ग्रहण कर रहे हैं। बेकारी बढ़ रही है।

जड़ की क्षमता बढ़ाओ और मनुष्य की क्षमता को कम करो।

जब यंत्रों की—जड़ की—क्षमता बढ़ती है, मूल्य बढ़ता है, चेतना की क्षमता कम होती है—मूल्य कम होता है, तब शोषण को बल मिलता है। शोषण आज की आर्थिक व्यवस्था और राजनैतिक प्रणाली का शब्द है। अध्यात्म की भाषा में उसका अर्थ है क्रूरता। दोनों शब्द एक ही हैं। शोषण नया शब्द है और आज की अर्थ व्यवस्था के साथ जुड़ा हुआ है, आज की राजनैतिक क्रान्ति के साथ जुड़ा हुआ है। क्रूरता पुराना शब्द है। जैसे-जैसे क्रूरता बढ़ती है शोषण को बल मिलता है।

जिन-जिन में अध्यात्म जागा है, उनमें संवेदनशीलता अवश्य जागी है। उनमें करुणा का प्रवाह फूटा है और वे समता से ओत-प्रोत हुए हैं। वह व्यक्ति फिर किसी का अनिष्ट नहीं कर सकता, धोखा नहीं दे सकता, किसी की भूमि या सम्पत्ति नहीं हड्डप सकता, अनैतिकता नहीं कर सकता आदि-आदि।

ध्यान का मूल प्रयोजन है—चेतना का रूपान्तरण, वृत्तियों का परिष्कार। इनमें पहला परिष्कार है लोभ का, स्वार्थ का।

इन्द्रिय-तृप्ति, मन की तुष्टि, सुविधावादी दृष्टिकोण और अधिकार की मौलिक मनोवृत्ति का परिष्कार किए बिना आर्थिक विकास सुखद नहीं हो सकता, आर्थिक असदाचार को मिटाया नहीं जा सकता, शोषण की इति नहीं

हो सकती और स्वस्थ समाज की रचना नहीं हो सकती।

आदमी शार्टकट से जाना चाहता है। आज राजपथ इतने संकरे हो गये हैं कि उसे पगड़ंडी का चुनाव करना पड़ रहा है।

पुरानी पीढ़ी के लोग अनपढ़ थे, सहन करना जानते थे। किंतु आज लोगों की समझ बहुत बढ़ी है, इसलिए उनमें संवेदनशीलता भी बढ़ी है। संवेदनशीलता के कारण आपसी संबंधों में संघर्ष के स्फुलिंग उछलते रहते हैं।

आदमी तराजू के पल्ले में अपने को बिठाये, दूसरे पल्ले में सामने वाले को बिठाये और दोनों को समदृष्टि से तौले, आत्मतुला का अन्वेषण करे।

समय-समय पर हिंसा ने जितना अपना रौद्र रूप दिखाया है, अहिंसा उतना सौम्य रूप नहीं दिखा पाई है।

आज सबसे बड़ा संकट है आस्था का। श्रद्धा इतनी विचलित है कि आदमी कहीं भी टिक नहीं पा रहा है।

प्रत्येक प्रवृत्ति की कसौटी समाज में होती है, मूल्यांकन समाज में होता है।

सामाजिक जीवन में संघर्ष अनिवार्य है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि सामाजिक जीवन जिएं और संघर्ष न हो।

अधिकांश कलह इसलिए होते हैं कि अहंकार को चोट पहुंचती है। पारिवारिक झगड़ों, कर्मचारियों के झगड़ों, अपने नौकरों के झगड़ों में मुख्य कारण मिलेगा—दूसरों के अहंकार को चोट पहुंचाना। आदमी को इस बात में बहुत रस है। जितना रस रसगुल्ला खाने में नहीं है उतना रस दूसरों के अहं को चोट पहुंचाने में है।

यह एक मान्य तथ्य है कि ज्ञान और आचरण की दूरी को पूर्णतः मिटाया नहीं जा सकता, किंतु कम किया जा सकता है। राजनीति के क्षेत्र में यह दूरी चिंता का विषय नहीं है, क्योंकि वह क्षेत्र कूटनीति का है और उसकी बुनियाद इसी दूरी पर आधृत है। सामाजिक क्षेत्र में यह दूरी समस्याएं पैदा करती हैं। वहाँ भी वह चलती है, पलती है। यह आश्चर्य की बात नहीं है। किंतु आश्चर्य तब होता है जब आत्मा और चैतन्य के प्रति जागृत व्यक्ति भी उस दूरी को पालता है, बढ़ाता है।

* * * * *

संयम

संयमः खलु जीवनम्

काम और संयम

शरीर की आवश्यकता अर्थ है तो मन की आवश्यकता काम है। संस्कृत में काम का नाम ही मनोज या मनसिज अर्थात् मन से उत्पन्न होने वाला है। शरीर रथूल है, मन सूक्ष्म है। इसलिए अर्थव्यवस्था भी रथूल है। काम की व्यवस्था सूक्ष्म है। अर्थव्यवस्था अपेक्षाकृत सरल है, काम-व्यवस्था अत्यन्त जटिल है। अर्थशास्त्र एक प्रतिष्ठित अनुशासन है जिसका व्यापक स्तर पर अध्ययन/अध्यापन प्रचलित है। वस्तुरिति यह है कि हमारी आर्थिक स्थिति सबको दिखती है, हमारे मन में चलने वाली गतिविधियां प्रत्यक्षगोचर नहीं हैं। किंतु हमारे जीवन को, विशेषकर आन्तरिक जीवन को अर्थ की अपेक्षा काम अधिक प्रभावित करता है।

अध्यात्म और काम

अर्थ पुरुषार्थ को अपरिग्रह नियंत्रित करता है तो काम पुरुषार्थ को ब्रह्मचर्य नियंत्रित करता है। वैदिक और श्रमण दोनों परम्पराओं में ब्रह्मचर्य का महत्त्व प्रतिपादित है। ब्रह्मचर्य का महत्त्व इतना अधिक हुआ कि चरित्र, संयम और ब्रह्मचर्य आम बोलचाल में प्रायः पर्यायवाची बन गये।

संयम का अर्थ है मध्यम मार्ग। सैक्स के संबंध में अति से बचना कठिन है। इसके लिए विधि खोजनी होगी। सैक्स केवल मानसिक प्रक्रिया नहीं है वह एक शारीरिक प्रक्रिया भी है। पुराणों में प्रसिद्ध है कि शिव ने तीसरा नेत्र खोला तो कामदेव भस्म हो गया। तीसरे नेत्र का स्थान दर्शन केन्द्र या आज्ञाचक्र है। यही पिच्छुटरी ग्लैण्ड है। पिच्छुटरी ग्लैण्ड सक्रिय हो जाये तो एड्रीनल ग्लैण्ड निष्क्रिय हो जाती है तब कामवृत्ति नहीं जाग पाती।

ऊर्जा और काम

यह एक प्रक्रिया है प्राण के ऊर्ध्वगमन की। हमारे शरीर में शक्ति का स्रोत प्राण है, रक्त और मांस नहीं। काम प्राण का संचालन करता है। यदि

प्राण का संचालन ऊर्ध्वमुख हो तो विद्युत् मस्तिष्क को मिलती है। मस्तिष्क शरीर का दो प्रतिशत भाग है किंतु उसे विद्युत् बीस प्रतिशत चाहिए। अधिक भोजन करने पर प्राण भोजन को पचाने में काम आ जाती है और मस्तिष्क तक नहीं पहुँच पाती, इसलिए अति भोजन करने वाला बौद्धिक दृष्टि से उत्तम कार्य नहीं कर पाता। विद्युत् अथवा ऊर्जा के अपव्यय का मुख्य हेतु है काम की अति। ऊर्जा गति देती है। गति का ही सूक्ष्मरूप—स्पन्दन है। आज विज्ञान के क्वाण्टम सिद्धान्त ने हमारे सामने वह तथ्य उद्घाटित किया है कि स्पन्दन ही अन्तिम सत्य है। हमारे स्थूल शरीर में स्पन्दन होता है। चैतन्य भी स्पन्दन रहित नहीं है। कुछ स्पन्दन अनुकूल प्रतीत होते हैं कुछ प्रतिकूल। जब मन अनुकूल स्पंदनों से जुड़ता है तो सुख होता है, जब मन प्रतिकूल स्पंदनों के साथ जुड़ता है तो दुःख होता है। सैक्स का भी एक स्पन्दन है। प्रत्येक आवेश का एक स्पन्दन होता है। जब हमारा मन उस स्पन्दन से जुड़ता है तब हमें सुख दुःख की प्रतीति होती है। मन न जुड़े तो सुख-दुःख की प्रतीति भी नहीं होगी।

ध्यान और काम

स्थूल शरीर के स्पन्दन सबसे अधिक पकड़ में आते हैं। सामान्य पुरुष प्रायः इन्हीं स्पन्दनों में आसक्त रहता है। स्थूल शरीर में होने वाले स्पन्दन ही सैक्स के मूल हैं। किंतु चैतन्य के स्पन्दन शरीर के स्पन्दन से कहीं अधिक प्रभावशाली हैं। चैतन्य में स्पन्दन को पकड़ने का मार्ग है अन्तर्मुखता, यह अन्तर्मुखता ही ध्यान है।

ध्यान के अनेक चरण हैं। अनुलोम-विलोम प्राणायाम ध्यान का एक उपाय है। इससे व्यक्ति का संतुलित विकास होता है। हमारे मस्तिष्क का बांया भाग विश्लेषण परक गणित आदि विषयों में निपुण है तथा दांया भाग संश्लिष्ट आध्यात्मिक विकास का साधन है। अनुलोम-विलोम प्राणायाम इन्हीं दोनों के बीच संतुलन बनाता है। ध्यान का दूसरा उपाय है—मेरुदण्ड के बीच ध्यान केन्द्रित करना। यह स्वचालित वृत्तियों को संचालित करता है। मेरुदण्ड पर ध्यान करने से हम स्वचालित वृत्तियों पर नियंत्रण स्थापित कर लेते हैं।

साक्षी भाव से नया मल आने से रुकता है। यह संवर है। जो मल पहले से संचित है वह प्रतिपक्ष की भावना करने से उच्छिन्न होता है। यह निर्जरा है। अनुप्रेक्षा उसका साधन है। हमें दुष्प्रवृत्तियों से लड़ने के लिए अनेक उपाय करने पड़ते हैं। लोकलाज भी हमें दुष्प्रवृत्ति से रोकती है। स्वयं का विवेक दुष्प्रवृत्ति से रोकने का दूसरा उपाय है। तीसरा उपाय है उदात्तीकरण। अर्थात् सत्प्रवृत्तियों के द्वारा दुष्प्रवृत्तियों को रोकना।

एक अन्य उपाय साक्षीभाव है। साक्षी भाव का अर्थ है शुद्ध चेतन्य में स्थित हो जाना। शुद्ध चेतना में न कषाय है न राग द्वेष है। जो शुद्ध चेतना में स्थित रहता है, वह राग-द्वेष से बच जाता है।

हमारे शरीर के निम्न भाग में सैक्स के केन्द्र हैं। प्रतीक की भाषा में अधोलोक को नरक कहा गया है। शरीर का ऊर्ध्वभाग स्वर्ग है। ऊर्जा का होना ही पर्याप्त नहीं है। उसका ऊर्ध्वगामी होना भी आवश्यक है। तप से ऊर्जा उत्पन्न होती है। गुप्ति से ऊर्जा सुरक्षित रहती है। ध्यान से ऊर्जा का ऊर्ध्वगमन होता है। ऐसी स्थिति में आहार, भय, मैथुन, परिग्रह चार कामना मूलक संज्ञायें और कषायों की चार मनोमूलक संज्ञायें नष्ट हो जाती हैं।

जप

स्पन्दन को नियन्त्रित करने का एक उपाय है मंत्र का प्रयोग। मंत्र स्वयं स्पन्दन रूप है। किस मंत्र के प्रयोग से कौनसा स्पन्दन उत्पन्न होता है यह ज्ञान मंत्र विद्या का विषय है।

इन्द्रियां चेतना के स्तर पर स्थूल स्पन्दन हैं। चार्वाक ने जब प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना तो उसने स्थूल स्पन्दनों को ही स्वीकृति दी।

काम के हेतु

काम-भोग में लिप्त होने के दो हेतु हैं। प्रथम हेतु तो यह है कि हम इन्द्रियों और मन के जगत् में जीते हैं। इन्द्रियां और मन स्थूल को ही ग्रहण करते हैं। जब तक सूक्ष्म पकड़ में न आये व्यक्ति भोग से पराड़मुख नहीं हो सकता। दूसरा कारण यह है कि हम प्रवाह के साथ बह रहे हैं। हम सोचते हैं कि जिस प्रकार सब भोगों में लिप्त हैं उसी प्रकार का जीवन हम भी जीयेंगे। अतीन्द्रिय चेतना का अर्थ इन्द्रियों की चेतना से ऊपर उठना है। इसका अर्थ है राग द्वेष से ऊपर उठना। जो यह नहीं कर पाया वही मिथ्यादृष्टि है, नास्तिक है। इन्द्रियां किधर, किस तरफ ले जाती हैं, भीड़ किधर जा रही है यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसका यह अर्थ न समझा जाये कि इन्द्रियां हमारी शत्रु हैं। हमारे शत्रु राग-द्वेष हैं, इन्द्रियां नहीं। हमारा सारा कार्य इन्द्रियों के माध्यम से चलता है, इसलिए इन्द्रियों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। सच तो यह है कि राग-द्वेष इन्द्रियों की पटुता को कम करते हैं। योग से देखना, सुनना बंद नहीं होता, अपितु दूरदर्शन और दूरश्रवण की सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

आसवित का मर्म

इन्द्रियों के विषय नहीं छोड़े जा सकते किंतु वे विषय विकार उत्पन्न न करें यह संभव है। इसके लिए विवेक आवश्यक है। विवेक का अर्थ है यह

समझना कि आपाततः अच्छा क्या है और परिणामतः अच्छा क्या है? भोग आपाततः अच्छे लगते हैं किंतु परलोक की बात छोड़ भी दें तो इस लोक में भी भोगों का परिणाम अच्छा दिखाई नहीं देता।

भोग अतृप्ति उत्पन्न करते हैं। अतृप्ति के कारण मनुष्य को मायाचारिता का प्रयोग करना पड़ता है। झूठ का सहारा लेना पड़ता है।

एक ओर इन्द्रियां हमें ज्ञान देती हैं, दूसरी ओर मोहनीय कर्म उसमें संवेदना जोड़ देता है। पदार्थ बाहर मनोज्ञ या अमनोज्ञ हो सकता है, किंतु वह केवल निमित्त है। उपादान कारण है हमारा राग-द्वेष। उपादान न हो तो निमित्त कुछ नहीं कर सकता। सङ्क के कांटों को चमड़े से नहीं ढका जा सकता। पांव को ही चमड़े के जूते से ढका जा सकता है।

वस्तुतः आसक्तिपूर्वक भोगने वाला व्यक्ति भोगों को भोग भी नहीं पाता। आसक्ति का प्रथम कार्य यह है कि वह हमें मर्यादा में नहीं रहने देती। मर्यादा का उल्लंघन करते ही भोग, अमृत से विष बन जाते हैं। मात्रा में खाया गया आहार शरीर को पुष्ट करता है। मात्रा से अधिक लिया गया आहार शरीर को रोगी बनाता है। मात्रा से अधिक आहार वही लेता है जिसकी आहार के प्रति आसक्ति है।

आज के युग में प्राचीन युग की अपेक्षा एक अन्तर आया है। प्राचीन युग में भी भोग भोगे जाते थे, किंतु भोगों का भोगना उपयोगी नहीं समझा जाता था। उपयोगी समझा जाता था योग। आज की स्थिति बदल गयी है। आज भोग को उपयोगी समझा जा रहा है और योग को हानिकारक माना जा रहा है। अब धीरे-धीरे युग करवट ले रहा है। हम यह समझ रहे हैं कि राग-द्वेष के कारण उत्पन्न होने वाले तनाव रोगों का मुख्य कारण है। भोग हमारी रोग निरोधक शक्ति को क्षीण कर देते हैं। हमारी समझ में यह भी आ रहा है कि अनियन्त्रित भोग प्रकृति के संतुलन को बिगाड़ता है। इसलिए यह आवश्यकता उत्पन्न हो गयी है कि हम यह जानें कि हमारी चेतना का एक ऐसा स्तर भी है जो भोगों को भोगता ही नहीं है।

हम भोग न भोगें यह लाचारी भी हो सकती है। हममें भोग भोगने की शक्ति भी है और भोग उपस्थित भी हो तब भी हम उन्हें भोगें नहीं तो संकल्प शक्ति का परिचय मिलता है, यही व्रत कहलाता है। यह संकल्प इतना दृढ़ होना चाहिए कि एक भोग छोड़ने पर दूसरा भोग मिल जाने की आशा न की जाये। भोग छोड़ दिया किंतु भोग की आशा बनी रही यह शाल्य है। व्रती को निःशाल्य होना आवश्यक है।

इच्छा परिमाण

अर्थ से सुख की प्राप्ति होती है। सहज रूप में मनुष्य जितना सुख चाहता है उसकी कोई सीमा नहीं है। इसलिए मनुष्य की वित्तैषणा की भी कोई सीमा नहीं है। अर्थनीति का विवरण देते समय आचार्य महाप्रज्ञ ने यह स्पष्ट किया कि वित्तैषणा की भी एक सीमा होनी चाहिए। इसका स्वाभाविक फलितार्थ यह है कि हमारी सुख की इच्छा भी नियंत्रित हो।

सुख की इच्छा के संयम का नाम है—ब्रह्मचर्य। प्रश्न होता है कि यह अस्वाभाविक है कि मनुष्य सुख की इच्छा को दबाये। सुख की इच्छा स्वाभाविक है उसका दमन उचित नहीं। समाधान यह है कि सुख की इच्छा को दबाना नहीं है अपितु उसका परिष्कार करना है। इन्द्रियों से प्राप्त होने वाला सुख सीमित है। उस सुख से इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होती है। अन्ततोगत्वा भोग भोगते-भोगते हम स्वयं ही भोगे जाते हैं—“भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः।” यह इन्द्रियजन्य सुख की स्थिति है।

उपनिषदों में कहा है “आनन्द ही ब्रह्म है”: वह आनन्द जिसे ब्रह्म कहा गया है—चेतना का सहज रूप है। उसकी कोई सीमा नहीं और न उसकी परिणति ग्लानि के रूप में होती है। ब्रह्मचर्य एक सर्जनात्मक शक्ति है जिसका परिचय हमें बुद्ध महावीर जैसे महानुभावों के जीवन में उपलब्ध होता है।

ब्रह्मचर्य सुख का अपलाप नहीं है। जब आन्तरिक चेतना के बिना जागृत हुए हम इन्द्रियों के सुख की वर्जना करते हैं तो यह संभावना रहती है कि हम भटककर विक्षिप्त हो जायें। यह भी ध्यान देने योग्य है कि सभी इन्द्रियां परस्पर जुड़ी हुई हैं। कोई व्यक्ति रसना-इन्द्रिय पर संयम किये बिना जननेन्द्रिय पर संयम करना चाहे तो यह संभव नहीं है। यदि हमें आत्मसुख प्राप्त हो जाता है तो निम्नगामी वृत्तियां स्वयं ही शान्त हो जाती हैं।

निम्नगामी को ऊर्ध्वगामी बनायें

चित्तवृत्तियों को ऊर्ध्वगामी बनाने का उपाय ध्यान में निहित है। हमारे शरीर के भिन्न-भिन्न केन्द्रों पर विद्युत् प्रवाह प्रवाहित है। यदि हमारा मन उन केन्द्रों पर एकाग्र हो जाये तो एक प्रकार की अनुभूति होने लगती है। हम समझते हैं कि सुख-दुःख बाहर के पदार्थों से आते हैं किंतु बाहरी पदार्थ एक विशेष प्रकार का प्रकम्पन अथवा स्पन्दन पदार्थ का निमित्त पाये बिना भी जग सकते हैं। ऐसी स्थिति में बाह्य निमित्त की आवश्यकता नहीं रहती।

दर्शन केन्द्र और ज्योति केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित करने से हमारी वृत्तियां

ऊर्ध्वमुखी हो जाती हैं उसके कारण प्राप्त शक्तियां पूरे शरीर में फैल जाती हैं। जब तक यह यौगिक प्रक्रिया न अपनायी जाये तब तक शरीर से संयम रखना और मन से भोगों में रस लेना विक्षिप्तता उत्पन्न कर सकता है।

ब्रह्मचर्य एक पुल है आन्तरिक शक्तियों के विकास का। आन्तरिक शक्ति का अर्थ है मनोबल की वृद्धि। जब हम विषयों के सामने पराजित हो जाते हैं तो हमारा मनोबल क्षीण हो जाता है। विषयों के सम्मुख न झुकने पर हमारा मनोबल दृढ़ होता है। ब्रह्मचर्य मनोबल को दृढ़ रखने की प्रक्रिया है।

आहार-संयम

ब्रह्मचर्य के लिए प्रथम आवश्यकता आहार संयम की है क्योंकि आहार से ही रस, शक्ति आदि बनते हुए वीर्य बनता है। स्वादिष्ट भोजन आवश्यकता से अधिक कर लिया जाता है। गरिष्ठ भोजन पचता नहीं है। परिणाम यह होता है कि पेट साफ नहीं रह पाता उससे सारा शरीर दूषित हो जाता है और कुवासनाएं उत्पन्न होती हैं। आसन और प्राणायाम इन्द्रिय संयम में सहायक हैं। ये शारीरिक पक्ष हैं। मानसिक दृष्टि से अनुप्रेक्षाएं सहायक सिद्ध होती हैं।

शारीरिक दृष्टि से वीर्य दो भागों से प्रवाहित हो सकता है। जननेन्द्रिय के द्वारा वीर्य का प्रवाहित होना एक सीमा तक अधिक हानिकारक नहीं है किंतु उससे अधिक सीमा में वीर्य यदि जननेन्द्रिय के माध्यम से व्यय हो जाता है तो वीर्य का ऊर्ध्वगामी प्रवाह अधोगामी हो जाता है अतः मषिष्ठ को पर्याप्त ओज प्राप्त नहीं होता। फलस्वरूप उस व्यक्ति के ओज में कमी आ जाती है।

भावक्रिया

मानसिक दृष्टि से स्त्री-कथा, उनकी चेष्टाओं का स्मरण इत्यादि ब्रह्मचर्य में बाधक है। जिसका मन बहुत रिस्थर हो गया उसके लिए विपरीत निमित्त भी बाधक नहीं बनते, किंतु प्रारम्भ में साधक को विपरीत निमित्तों से बचना ही चाहिए। इस संबंध में शास्त्रों में बहुत विस्तृत विवरण है। उदाहरणतः सुगम्भित द्रव्य कामना को उभारते हैं। ‘जैसा अन्न वैसा मन’ यह कहावत प्रसिद्ध है। तपस्या देह के प्रति ममता के भाव को कम करती है। विलासिता देह की ममता को बढ़ाती है।

खाना, पीना, सोना, चलना ये सभी क्रियाएं साधु और गृहस्थ की समान हैं किर भी दोनों में इन क्रियाओं का फल एक समान नहीं मिलता। साधु द्रष्टा है उसकी सब क्रियाएं आत्मज्ञान पूर्वक होती है इसलिए वह उन क्रियाओं में आसक्त नहीं होता। उसकी भाव-शुद्धि बनी रहती है। उसके बाहर क्रिया चलती है किंतु उसका अन्तर क्रिया से अस्पृष्ट रहता है। गृहस्थ क्रिया में रस

लेता है उसके लिए क्रिया बंधन का कारण बन जाती है। मनुष्य चिर-यौवन चाहता है। देवता कभी वृद्ध नहीं होते। अवतार और तीर्थकरों को भी बुढ़ापा नहीं आता। बुढ़ापे का पहला लक्षण है शरीर में क्रियाओं का कठोर हो जाना। जब मस्तिष्क अपना लचीलापन खो देता है तब व्यक्ति की सहिष्णुता कम हो जाती है। वह बात-बात में क्रोध करने लगता है। ध्यान द्वारा यदि मस्तिष्क का लचीलापन बनाये रखा जा सके तो व्यक्ति इस स्थिति में बदल सकता है। रीढ़ की हड्डी की कठोरता व्यक्ति को बूढ़ा बना देती है। आसनों द्वारा रीढ़ की हड्डी का लचीलापन बनाये रखा जा सकता है। शारीरिक तनाव, मानसिक तनाव और भावनात्मक तनाव क्रियाओं को कठोर बनाते हैं। इसलिए तनावग्रस्त व्यक्ति जल्दी बूढ़ा हो जाता है। अप्रमाद का अर्थ है—चैतन्य के जागरण के प्रति उत्साह। इसका साधन है—भावक्रिया। भावक्रिया का अर्थ है चेतना का विकास। जो चेतना को जाग्रत रख सकता है वह बूढ़ा नहीं होता।

युवा का अतीत बहुत छोटा होता है। वह अतीत की स्मृति में रस नहीं लेता। वृद्ध व्यक्ति अतीत की स्मृति में खोया रहता है। ध्यान हमें सिखाता है कि हम वर्तमान में जीयें। हम जो कुछ भी कर सकते हैं वर्तमान में कर सकते हैं, अतीत या भविष्य में नहीं। इसलिए वर्तमान ही सत्य है। अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पना मन की उपज है। वे वास्तविक नहीं हैं। हमारा शरीर बहुत जटिल है। सिर के एक बाल के आधार पर व्यक्ति का विश्लेषण किया जाता है। प्रेक्षा के द्वारा हम शरीर की प्रवृत्ति को समझ सकते हैं। युवा व्यक्ति परिस्थिति से घबराता नहीं है। वृद्ध व्यक्ति घबरा जाता है। वृद्ध व्यक्ति कुछ भी नया नहीं करना चाहता। वह बनी-बनायी नींव पर ही चलना चाहता है। युवा शक्ति कुछ नया करना चाहती है। धर्म का क्षेत्र नूतनता का क्षेत्र है। जो भोग पुराने हैं, वे अनेक तरह से भोगे गए हैं। वे परिचित हैं, समाधि अपरिचित है। जिसमें अपरिचित को जानने की जिज्ञासा है और परिचित को छोड़ने का साहस है वही भोग को छोड़कर योग में जा सकता है।

स्पन्दनों का पक्ष-प्रतिपक्ष

परिणमन का अर्थ है—स्पन्दन। यह स्पन्दन तीन प्रकार का है। पहला चैतन्य में होने वाला स्पन्दन स्वाभाविक है। दूसरा स्पन्दन कर्म के निमित्त से होता है और तीसरा प्राण के निमित्त से। प्रथम स्पन्दन सूक्ष्मतम है, द्वितीय सूक्ष्मतर है और तृतीय सूक्ष्म। हम सामान्यतः इन तीनों ही स्पन्दनों को न पकड़ कर स्थूल शरीर के स्पन्दनों को पकड़ते हैं। यह स्थूल स्पन्दन ही हमारे लिए सुख और दुःख है। दस प्राणों के दस स्पन्दन हैं। ये प्राण हैं—श्वास,

आयुष्य, पांच इन्द्रियां, मन, वाणी और शरीर। कर्म के कारण होने वाले स्पन्दनों में मोह के स्पन्दन सबसे अधिक हैं। इन सभी प्रकार के स्पन्दनों के साथ जब मन जुड़ता है तो सुख-दुःख उत्पन्न होता है। स्पन्दन के साथ यदि मन न जुड़े तो सुख-दुःख नहीं होता।

चिंतन और स्मृति से भी स्पन्दन पैदा होता है। मंत्र स्पन्दन के द्वारा ही इष्ट फल देता है।

पक्ष के स्पन्दनों को प्रतिपक्ष के स्पन्दनों के द्वारा संयमित किया जा सकता है। क्रोध का प्रतिपक्षी है उपशम। मान का मृदुता, माया का ऋजुता, लोभ का संतोष। पहला कदम है स्पन्दनों की प्रेक्षा। ऋण स्पन्दन कहें, विषय स्पन्दन कहें या काम स्पन्दन कहें तीनों एक ही बात है। इसके विपरीत है—घन स्पन्दन, आत्म स्पन्दन अथवा ऊर्ध्वगामी स्पन्दन। अधोगामी ऊर्जा यदि ऊर्ध्वगामी हो जाये तो आध्यात्मिक सुख की अनुभूति होती है। गुणस्थान की दृष्टि से नाभि का स्थान चतुर्थ गुणस्थान है जहां से ऊपर चढ़ते हुए सहस्रार तक पहुंचना होता है। इस क्रिया में श्रद्धा आवश्यक है। श्रद्धा से उत्सुकता समाप्त होती है। तब व्यक्ति अन्तर्मुखी बनता है। जैसे-जैसे आध्यात्मिक स्पन्दन तीव्र होते हैं, पौद्गलिक स्पन्दनों का आकर्षण कम होता जाता है।

इन्द्रियों के पार

धर्म का आदि बिंदु है—इन्द्रियातीत ज्ञान। इन्द्रियातीत ज्ञान के बिना आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक तथा कर्म की कोई स्थिति नहीं। इन्द्रियातीत ज्ञान आगम का विषय है। वस्तुतः परलोक है या नहीं यह प्रमाण का विषय नहीं है। अधिकतर लोग इन्द्रियों के जगत् में जीते हैं। इन्द्रियांतीत की चेतना में जीने वाले को अकेले चलना पड़ता है। अतीन्द्रिय ज्ञान का अर्थ है—इन्द्रियों की आसक्ति से ऊपर उठना। जो इन्द्रियातीत चेतना में जीता है उसकी दृष्टि सम्यक् है।

इन्द्रियां हमारे ज्ञान का कारण हैं। वे हमारी शत्रु नहीं। लेकिन जब उनमें राग-द्वेष प्रविष्ट हो जाता है तो वे अनिष्टकारी हो जाती हैं। मनुष्य के चार घटक हैं—आत्मा, बुद्धि, मन और शरीर। इन्द्रियां इन चारों को बाहर के जगत् से जोड़ती हैं। यदि इन चारों घटकों को स्वस्थ रखना हो तो इन्द्रिय-संयम आवश्यक है। सामान्य जीवन के लिए भी इन्द्रिय संयम आवश्यक है। आध्यात्मिक चेतना के लिए अतिरिक्त इन्द्रिय संयम चाहिए। इन्द्रियों के अपने विषय हैं—शब्द, रस, रूप, गंध, स्पर्श। इनमें कोई दोष नहीं है। किंतु यदि कषाय हो तो यही विषय-विकार उत्पन्न कर देते हैं।

मनुष्य के विन्तन के केन्द्र में भोग रहता है। यह स्थिति पहले भी थी किंतु आज यह अन्तर आया है कि भोग की प्रशंसा की जाने लगी है, त्याग की निंदा होती है। इसीलिए हम वर्तमान युग को भोगवादी युग कहते हैं। अभी हमें यह पता लगा है कि अति भोग भी रोग उत्पन्न करते हैं। भोग सर्वथा मिट जाये यह नहीं हो सकता किंतु यह अवश्य हो सकता है कि भोग के साथ त्याग भी चले।

भोग न भोग पाना लाचारी हो तो यह त्याग नहीं है। त्याग का अर्थ है भोग का संकल्प टूटे। भोग के संकल्प वाला व्यक्ति ध्यान को भी भोग का साधन बना लेता है। योग का संकल्प वाला व्यक्ति भोग में भी योग साध लेता है। भोग के संकल्प छूटने के साथ मन को भी निःशब्द होना चाहिए। मन में भोग की लालसा न हो। तीसरा सूत्र है परम-आत्मा के साथ तादात्म्य। बाहरी शुद्धि के साथ भाव-शुद्धि भी आवश्यक है।

योग और तारुण्य

राजयोग का प्रारम्भ बिंदु वैराग्य है। हठयोग का प्रारम्भ बिंदु आसन है। हठयोग की पद्धति में शरीर मुख्य है। राजयोग की पद्धति में आत्मा मुख्य है। योग का अर्थ है मृदुता। शरीर में लचीलापन हो और बुद्धि में ग्रहणशीलता। यह यौवन का प्रथम लक्षण है। तनाव मृदुता को समाप्त करता है। बुढ़ापे को लाता है। सत्य के प्रति उत्साह तारुण्य का दूसरा लक्षण है। इस उत्साह के कारण ही जीव निगोद से मनुष्य तक की विकास यात्रा करता है। तारुण्य का तीसरा लक्षण है वर्तमान में रहना। बूढ़ा आदमी अतीत में जीता है। जो अतीत में जीएगा वो शीघ्र बूढ़ा हो जायेगा। तारुण्य का एक अन्य चिन्ह है परिस्थिति से विचलित न होना। साधना सदा तरुण बने रहने का सूत्र देती है।

* * * * *

महाप्रज्ञ उवाच

काम का एक अर्थ है—काम वासना (सैक्स)। उसका दूसरा अर्थ है—आधिकार, संग्रह और उपभोग की इच्छा। अनियंत्रित काम व्यवस्था अनियंत्रित अर्थव्यवस्था से कम खतरनाक नहीं होती।

इस शरीर में रहने वाला, इन्द्रिय और मन के जगत् में जीने वाला कोई भी व्यक्ति सर्वथा अकाम बन जाये, सर्वथा कामना मुक्त बन जाए यह कल्पना नहीं की जा सकती। यह सोचा जा सकता है कि किस व्यक्ति ने कितना परिष्कार किया, कितना शोधन किया है। शोधन का सिद्धान्त संभव बनता है, अकाम का सिद्धान्त संभव नहीं बनता। अकाम की स्थिति वीतराग की स्थिति है। जब वह स्थिति प्राप्त होती है, तब व्यक्ति सांसारिक बंधनों से छूट जाता है।

कामना की पूर्ति का साधन है—अर्थ। यह जीवन का दूसरा पुरुषार्थ है। अर्थ के आधार पर ही कामनाओं को पूरा किया जाता है। मन में कामना जागती है—अर्थ-व्यय से वह पूरी हो जाती है।

निरंकुश कामना और निरंकुश अर्थ—ये दोनों अपरिष्कृत रहकर व्यक्ति में जो परिवर्तन लाते हैं, वह परिवर्तन सामाजिक अशांति को जन्म देता है।

आज के विकसित राष्ट्र, जो साधनों से सम्पन्न हैं, जिनके पास प्रचुर वैभव है, सम्पत्ति है, अर्थ के स्रोत हैं, वे इन मानसिक अशान्ति के जीते जागते उदाहरण हैं।

धर्म एक खोज है—प्रवृत्ति के शोधन की, काम के परिष्कार की। इस बात पर अधिक बल दिया गया है कि कामना का परिष्कार करो, साधन शुद्धि को ध्यान में रखो।

महावीर ने परिग्रह को परिभाषित करते हुए कहा—मूर्च्छा परिग्रह है। उन्होंने यह नहीं कहा कि धन परिग्रह है। मूल परिग्रह है काम-वासना।

काम और अर्थ जीवन यात्रा को चलाने के लिए हैं। काम के बिना जीवन की यात्रा नहीं चलती। जीवन की यात्रा तब तक चलती है, जब तक काम है। कामना तब तक पूरी नहीं होती, जब तक अर्थ नहीं होता। कामना की पूर्ति का एकमात्र साधन है अर्थ। जो आदमी केवल इन दो आयतनों में ही जीना चाहता है वह आदमी शान्ति का जीवन नहीं जी सकता। वह आदमी संतोष, स्थिरता और प्रसन्नता का जीवन नहीं जी सकता।

जो केवल दो आयतनों में जीना चाहते हैं, वे मानवीय चेतना के साथ खिलवाड़ करते हैं। वे मनुष्य को केवल रोटी के आधार पर जिलाना चाहते हैं। क्या रोटी मन को शान्ति दे सकती है? जिन्हें प्रचुरता से रोटी उपलब्ध है, उनका मन भी प्रचुर रूप में अशान्त बना हुआ है।

हम अर्थ व्यवस्था को संतुलित करना चाहते हैं और काम व्यवस्था की उपेक्षा करते हैं। क्या असंतुलित काम व्यवस्था से संतुलित अर्थ व्यवस्था का जन्म होगा? उत्तर सीधा है—नहीं होगा।

स्वरथ समाज की रचना के लिए अर्थ व्यवस्था पर जितना ध्यान देना जरूरी है उतना ही जरूरी है काम व्यवस्था पर ध्यान देना।

अर्थ का विनिमय हो सकता है इसलिए वह सामाजिक तत्त्व है। काम वैयक्तिक है। उसकी व्यवस्था कैसे की जाए? कौन करे? यह एक जटिल प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर भी खोजा गया है। काम के द्वारा पैदा की जाने वाली सामाजिक समस्या अपराध है और व्यवस्था भंग मानव जाति के लिए सिरदर्द है। इसलिए उस पर नियंत्रण करने के मार्ग समाज और धर्म दोनों के स्तरों पर खोजे गये। काम की उच्छृंखलता पर अंकुश लगाने के लिए समाज के पास एक दण्ड संहिता है और धर्म के पास एक आचार संहिता है।

भय निरोध का प्राथमिक मार्ग है। आचार संहिता से हृदय परिवर्तन होता है किंतु उसका प्रभाव दीर्घकालिक नहीं होता। परिष्कार के लिए प्रशिक्षण और प्रयोग सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

अक्षर बोध, गणित का ज्ञान, भाषा और तर्क का बोध—ये आजीविका चलाने के साधन हैं। ये जीवन के साध्य नहीं हैं। कभी-कभी आदमी साधन को प्रथम मान लेता है और मूल को भुला बैठता है। आदमी का सारा ध्यान साधन पर अटका रह जाता है। साधन जिसके लिए है वह उपेक्षित हो जाता है। सब्जेक्ट आंखों से ओझल हो जाता है और सारा ध्यान ऑब्जेक्ट पर अटका रह जाता है। व्यक्ति आग से जलते हुए घर में से सारा सामान निकाल लेता है पर उस बच्चे को जो उस सामग्री का भोक्ता होने वाला है, निकालना भूल

जाता है। भोग्य पदार्थ बचा लिया जाता है और भोक्ता आग में जलकर भस्म हो जाता है।

हमारा ध्यान सब्जेक्ट पर है, भोक्ता पर नहीं है। सारा ध्यान ऑब्जेक्ट पर, भोग्य पर केन्द्रित है।

जिस व्यक्ति की पिनीयल ग्लैंड सक्रिय होती है वह अपने संवेगों पर नियंत्रण कर सकता है। अथवा हाइपोथेलेमस, जो भाव संवेदन का केन्द्र है, उसको नियंत्रित करने पर संवेगों पर नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है। इस बिंदु पर दोनों दृष्टियाँ—आध्यात्मिक और वैज्ञानिक—लगभग समान रेखा पर आ जाती हैं।

हृदय परिवर्तन के संदर्भ में हृदय का अर्थ है—मस्तिष्क का वह भाग जिसे हम हाइपोथेलेमस कहते हैं। एक हृदय है धड़कने वाला—जो फेफड़ों के पास है। एक हृदय है मस्तिष्क में। हमें उसमें परिवर्तन लाना है। यही है हृदय परिवर्तन का रहस्य। मस्तिष्क का जो फ्रंटल लॉब है, जिसे हम योग की भाषा में शान्ति केन्द्र कहते हैं वह हमारे भावों और संवेगों के लिए जिम्मेदार है। यही है ललाट का भाग। जब कभी मन में विनम्रता का भाव जागृत होता है ललाट झुक जाता है। यह प्रतीक है हृदय परिवर्तन का। इस केन्द्र को जागृत करना है, इसमें परिष्कार लाना है।

दूसरा है पिनीयल ग्लैंड में परिष्कार लाना। यह ज्योति केन्द्र का स्थान है। शान्ति केन्द्र प्रेक्षा और ज्योति केन्द्र प्रेक्षा—ये दो प्रयोग हैं भाव परिष्कार या संवेग परिष्कार के। इनसे संवेगों को अनुशासित किया जा सकता है। यदि विद्यार्थी को दस-बारह वर्ष की अवस्था से ही प्रयोग कराये जायें तो उसमें संवेग का संतुलन होगा, वह पारिवारिक और सामाजिक जीवन अच्छे ढंग से जी पायेगा। वह न अति कामुक और न अति चिड़चिङ्गा होगा। उसमें न उदासी होगी और न वह अन्यमनस्कता का शिकार ही होगा।

पाचन तंत्र ठीक रखना पहली बात है या संतुलित भोजन करना पहली बात है? पहली बात है पाचन तंत्र को स्वस्थ बनाना। दूसरी बात है संतुलित भोजन करना।

पहली बात है ग्रन्थि तंत्र को ठीक करना। दूसरी बात है संतुलित भोजन करना। यदि ग्रन्थि तंत्र संतुलित रहेगा, पेन्क्रियाज ठीक होगा तो चयापचय की क्रिया ठीक चलेगी, सारी क्रियायें ठीक चलेंगी।

मांस, हड्डियाँ, चमड़ी आदि का सीमित उपयोग है। व्यक्तित्व का निर्माण, अन्तःप्रज्ञा का निर्माण—इन सबका विकास होता है नाड़ी तंत्र और ग्रन्थि तंत्र

की संतुलित अवस्था एवं निर्मलता के कारण। हमारा ध्यान इनकी ओर केन्द्रित होना चाहिए।

मनुष्य सब प्राणियों में श्रेष्ठ प्राणी माना जाता है। उसकी श्रेष्ठता का कारण है उसका मस्तिष्क और मेरुदण्ड प्रणाली। यह उसकी अपनी विशेषता है। उस जैसा विकसित मस्तिष्क, नाड़ी तंत्र और मेरुदण्ड प्रणाली अन्य किसी को प्राप्त नहीं है।

जहां क्रिया है, वहां शक्ति का व्यय है। जहां अक्रिया है वहां शक्ति का संरक्षण है। हम अतिक्रिया के कारण शक्ति का सही उपयोग नहीं कर पाते। जो अपनी शक्ति का आवश्यक कार्यों के लिए उपयोग करना चाहता है, आगे बढ़ना चाहता है, उसके लिए संवेगों पर नियंत्रण करना जरूरी है।

लगभग ५० प्रतिशत बीमारियां जीभ की संवेदनाओं के कारण होती हैं।

पूरे शरीर को जितना ऑक्सीजन चाहिए उससे तिगुना ऑक्सीजन मस्तिष्क को चाहिए। उसकी पूर्ति दीर्घ श्वास के द्वारा होती है। उस स्थिति में मस्तिष्क काफी सक्रिय हो जायेगा। उसकी क्षमता का विकास होगा। यदि ऑक्सीजन पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलेगा तो मस्तिष्क सुचारू रूप से काम नहीं कर पायेगा। विद्यार्थी में आलस्य और प्रमाद बढ़ेगा। उसका मन पढ़ाई में नहीं लगेगा।

कामवृत्ति का केन्द्र है नाभि से गुदा तक का स्थान, उपरथ का स्थान। यह अपान का स्थान है। जब अपान पर प्राण का नियंत्रण रहता है तब वृत्तियां शान्त रहती हैं। जब अपान पर प्राण का नियंत्रण कम हो जाता है, तब अधोगामी वृत्तियां सक्रिय होने लगती हैं।

परिस्थितिवाद के अनुसार यह माना जाता है—मनुष्य का निर्माण परिस्थिति के अनुरूप होता है और परिवर्तन का निमित्त भी परिस्थिति है—इसलिए समाज का ध्यान परिस्थिति को बदलने पर केन्द्रित है। परिस्थिति मनुष्य को प्रभावित करती है, इसमें संदेह नहीं है। वह प्रभावित करने वाले घटकों में एक घटक है। वह परिवर्तन का एकमात्र हेतु नहीं है। वातावरण, पर्यावरण और परिस्थिति की समस्या को सुलझाने में उलझा हुआ मनुष्य समस्या को समाधान नहीं दे सकता। समाधान के लिए अनेकान्त का दृष्टिकोण अपनाना जरूरी है। बदलाव के हेतु बाहर हैं, वैसे भीतर भी हैं। परिस्थिति मनुष्य को प्रभावित करती है, परन्तु वह मनुष्य के व्यवहार का नियंत्रण नहीं करती। उसका नियंत्रण करने वाले तत्त्व शरीर के भीतर विराजमान हैं। परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं—नाड़ी तंत्र, ग्रन्थितंत्र, रसायन और प्रोटीन। नाड़ी तंत्र दो भागों में विभाजित है—

१. केन्द्रीय तंत्रिकातंत्र
२. परिधिगत तंत्रिकातंत्र।

केन्द्रीय तंत्रिकातंत्र के मुख्य दो अंग हैं—

१. मस्तिष्क
२. सुषुम्ना अथवा मेरुरज्जु।

नये समाज की रचना होनी चाहिए। उसके लिए यत्र-तत्र प्रयत्न भी हो रहा है, पर नये समाज की रचना का कार्य आगे नहीं बढ़ रहा है। मस्तिष्कीय प्रशिक्षण की प्रविधि का उपयोग किये बिना वह आगे नहीं बढ़ेगा, यह भविष्यवाणी की जा सकती है।

परिस्थिति को एक साधन के रूप में रेखांकित किया जा सकता है। इसमें कर्तव्य का आरोप करना बहुत बड़ी भ्रांति है।

आदमी कब बदलेगा? इस प्रश्न का उत्तर दिया जा रहा है—जब परिस्थिति बदलेगी। परिस्थिति कब बदलेगी? जब आदमी बदलेगा। इस उत्तर शृंखला में कोई निर्णय नहीं है। इस भाषा को पढ़ने वाला ही नए समाज की रचना का सपना ले सकता है और उसे साकार कर सकता है।

कार्लमार्क्स ने समाज की नई व्यवस्था का एक ढांचा खड़ा किया था। उन्होंने कब सोचा था कि उनकी विचारधारा को मानने वाले ही उसे खंडहर बना देंगे। महात्मा गांधी ने समाज व्यवस्था के महत्वपूर्ण सूत्र दिए। यदि उनके आधार पर समाज की रचना होती तो समाज स्वस्थ बन जाता। ऐसा नहीं हुआ। महात्मा गांधी के अनुयायी ही उसकी असफलता के लिए अधिक जिम्मेवार हैं।

इच्छा संयम और भोग संयम के साथ आर्थिक विकास का प्रश्न जुड़ा होता तो गरीब और अमीर के बीच इतना अन्तर न होता।

जिस दिन “अहिंसा परमो धर्मः” के साथ “अपरिग्रहः परमो धर्मः” का स्वर बुलन्द होगा, आर्थिक समस्या को एक समाधान उपलब्ध हो जायेगा।

बहुत कठिन है—नैतिक मूल्यों का विकास। बहुत-बहुत कठिन है आध्यात्मिक चेतना का रूपान्तरण। कठिनतम है आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण।

भाव, विचार, रुचि, ज्ञान और चरित्र की भिन्नता रही है और रहेगी। ऐसा कोई यंत्र नहीं है जो मनुष्य को एक सांचे में ढालकर बाजार में बेच सके।

यदि बुराई मिट नहीं सकती तो उसे मिटाने का प्रयत्न क्यों? इसका उत्तर किसी ग्रन्थ पाने की अपेक्षा दीपक, पाना बहुत अच्छा है। अंधकार न

कभी मिटा और आज भी नहीं मिट रहा है। सूर्य की रश्मियां अंधकार को प्रकाश में बदल देती हैं। यही काम दीया करता है और बिजली भी करती है। यदि अंधकार से मुक्ति पाने का प्रयत्न न चलता तो उसका प्रभुत्व एकाकार हो जाता। मनुष्य की क्या दशा होती? प्राणी जगत् के सामने जीने का कोई विकल्प शेष न रहता। प्रकाश का अस्तित्व जीवन यात्रा को बनाए हुए है और उसने विकास को तेज किया है। यदि मनुष्य को बदलने का प्रयत्न नहीं होता तो हिंसा का एकछत्र साम्राज्य हो जाता। इस अवस्था में न समाज की कल्पना की जाती, न विकास के द्वार को खटखटाया जाता।

जागृति की प्रक्रिया के तीन पड़ाव हैं। पहला पड़ाव है विचार, नई व्यवस्था के लिए पुष्ट विचारों का व्यवस्थापन। दूसरा पड़ाव है विचार का संस्कार में परिवर्तन। तीसरा पड़ाव है आचार।

विचार और आचार की दूरी को मिटाने का एक सेतु है और वह है संस्कार। एक विचार की दीर्घकाल तक पुनरावृत्ति करने पर वह संस्कार में बदल जाता है। संस्कार का निर्माण होने पर विचार और आचार की दूरी मिट जाती है। मार्क्स और गांधी के विचारों को संस्कार में बदलने की प्रक्रिया चालू रहती तो नई समाज व्यवस्था का सपना आकार ले लेता।

पर्यावरण

माता भूमि: पुत्रोऽहम् पृथिव्याः

पर्यावरण

हमारे अन्दर एक जगत् है किंतु हमारे बाहर भी एक जगत् है। अन्तर्जगत् की व्याख्या अध्यात्म करता है, बाहरी संसार की व्याख्या अधिभूत करता है। अध्यात्म और अधिभूत का पारस्परिक संबंध अधिदैव बताता है। जैसे अध्यात्म अधिभूत के बिना निराकार है वैसे अधिभूत अध्यात्म के बिना निराधार है। हम अधिभूत की चर्चा अध्यात्म को साथ लेकर न करें तो क्या-क्या अनिष्ट परिणाम निकलते हैं—इस पर दृष्टिपात करने से पहले अधिभूत की प्रकृति को समझ लें। जैन परम्परा इस बात को दूसरे शब्दों में कहती है। वहाँ अधिभूत अजीव है, अध्यात्म जीव है, दोनों का संबंध जोड़ने वाला कर्म है।

अधिभूत कहो या अजीव कहो। न वैदिक परम्परा यह स्वीकार करती है न जैन परम्परा कि पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु निष्प्राण है। वैदिक परम्परा में देव हैं तो जैन परम्परा में ये चारों स्थावर जीव हैं। किंतु इस विषय में ये दोनों परम्परायें सहमत हैं—कि ये चेतना से युक्त हैं। एक आरोप है—और यह आरोप सर्वथा निराधार भी नहीं है—कि भारतीय दृष्टि में सामाजिकता का अभाव है। किंतु हमें यह भी याद रखना पड़ेगा कि सामाजिकता में जहाँ केवल मनुष्य का समावेश होता है वहाँ भारतीय दृष्टि पशुजगत् वनस्पतिजगत् के साथ-साथ प्रकृति के उस रूप को भी नहीं भूलती है जिसे पश्चिम जड़ समझकर भोग्यकोटि में मानता है और मनुष्य को भोक्ता मानता है।

प्रकृति और मानव

भारतीय दृष्टि में प्रकृति मनुष्य की भोग्य नहीं है अपितु माँ है। मनुष्य की सम्पूर्ण भौतिक इच्छाएं प्रकृति ही पूरी करती है। जिसे हम भौतिक विकास कहते हैं उसका पूरा आधार प्रकृति है। प्रकृति मनुष्य की एक मात्र पूँजी है। हम अपने चारों ओर दृष्टिपात करें तो पता चलेगा कि हमारे उपयोग में आने वाली एक भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसका कच्चामाल—राँ मेटिरियल—प्रकृति से

प्राप्त न हुआ हो। मेरे जूते पशुओं की खाल से बने हैं, कपड़े कपास के पौधों से प्राप्त हुए हैं और मकान की दीवारें पृथ्वी तथा जल के संयोग से अग्नि की सहायता से बनी हैं। वायु के योगदान का तो महत्त्व आंकना और भी कठिन है क्योंकि उसके बिना हम एक मिनट भी जीवित ही नहीं रह सकते। प्रकृति का यह उपकार प्रकृति को हमारी माँ बना देता है। प्रकृति हमारी दासी नहीं है।

प्रकृति के नियम

प्रकृति के नियम अद्भुत हैं। प्रकृति में एक चक्र चलता है। एक पशु मरने से पहले अनेक पशुओं को जन्म दे जाता है, पेड़ भी मरने से पहले अनेक पेड़ों को जन्म दे जाता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु हमारे द्वारा उपयोग में लाये जाने पर अशुद्ध हो जाते हैं किंतु एक ऐसी प्राकृतिक व्यवस्था है कि वे स्वाभाविक रिथ्टि में स्वतः ही पुनः शुद्ध हो जाते हैं। पौधे वायु को शुद्ध करते रहते हैं, सूर्य जल को शुद्ध करता रहता है। अग्नि न जाने कितने कूड़े करकट को जलाकर वातावरण को शुद्ध करती रहती है। पृथ्वी अपनी गति से न केवल दिन रात बनाती है अपितु ऋतुओं का निर्माण करके फसलों को पकने में भी सहयोग करती है। प्रकृति की यह सारी व्यवस्था उस पर्यावरण को संतुलित बनाये रखती है जिस पर्यावरण के बिना हमारा अस्तित्व ही संभव नहीं है।

प्रकृति में यह पुनर्नवीकरण—रिसाईविलंग—की व्यवस्था हमारे उस मूल पूँजी को समाप्त नहीं होने देती जिसे प्रकृति कहा जाता है।

हम नया कच्चामाल पैदा नहीं कर सकते

यह तो अस्तित्व का प्रश्न हुआ। विकास का प्रश्न भी प्रकृति से ही जुड़ा है। कोई भी उद्योग अपना कच्चामाल प्रकृति से ही प्राप्त करता है। उद्योग केवल कच्चेमाल को उपयोगी—फिनिशड—रूप में ढाल सकता है किंतु कच्चेमाल को उत्पन्न नहीं कर सकता। उद्योगों को कच्चेमाल के लिये प्रकृति पर ही निर्भर करना पड़ता है। यह कच्चामाल भी दो प्रकार का है। पशुओं तथा वनस्पतियों से प्राप्त होने वाला कच्चा माल नित्य नया उत्पन्न होता रहता है किंतु खनिज पदार्थों का भण्डार सीमित है—वे खनिज पदार्थ नित्य नये उत्पन्न नहीं होते हैं। कोयला, पेट्रोल, लोहा आदि कच्चेमाल इस कोटि में आते हैं जो हमें सीमित मात्रा में ही उपलब्ध होते हैं। हम इनका जितना अधिक उपयोग करते हैं, हमारा विकास तो उतना अधिक हो जाता है किंतु दूसरी ओर से हम उतने ही निर्धन भी हो जाते हैं क्योंकि हमारी वह जमापूँजी खर्च तो होती है

किंतु पैदा नहीं होती। उद्योगीकरण तथा मशीन के आगमन से पूर्व हम ऐसे संसाधनों का प्रयोग बहुत कम करते थे जो सीमित हैं। ईधन के रूप में हम लकड़ी का प्रयोग ही अधिक करते थे जो वृक्षों से प्राप्त होती थी। वृक्ष कटते थे और लग भी जाते थे। आज जिस खदान में कोयला समाप्त हो जाता है अथवा जिस कुए में पेट्रोल समाप्त हो जाता है वहां फिर दुबारा इन संसाधनों के प्राप्त होने की आशा नहीं की जा सकती।

उद्योगीकरण से हमारी पृथ्वी जहां एक ओर निर्धन हो रही है, वहां दूसरी ओर धूमिल भी हो रही है। चाहे नदियां हों चाहे वायुमण्डल, इन्हें दूषित करने का मुख्य दायित्व उद्योगों पर ही है। यह सब होने पर भी हम उद्योगों के बढ़ते कदमों का स्वागत ही करते हैं क्योंकि उनसे हमारी आवश्यकता की सुख-सुविधायें प्राप्त होती हैं।

विकास की आत्मघाती अवधारणा

उद्योगपतियों को उद्योगों से जितनी सम्पन्नता प्राप्त होती है किसी और माध्यम से उतनी सम्पन्नता प्राप्त नहीं हो सकती। यह सम्पन्नता उद्योगपतियों की व्यक्तिगत ही नहीं है, राष्ट्रीय सम्पन्नता की भी सूचक है। जिस राष्ट्र में जितने अधिक उद्योग हैं, वह राष्ट्र उतना अधिक सम्पन्न है। यह भी कहा जाता है कि उद्योगों से लोगों को रोजगार मिलता है। उद्योग के क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा एक स्वरूप प्रवृत्ति मानी जाती है। उद्योगों के कारण निकलने वाले धुंए से काला होता आकाश और प्रकृति के दोहन से खोखली होती पृथ्वी सबको दिखती है फिर भी हम लाचारी में उद्योगों को प्रोत्साहित करते ही रहते हैं क्योंकि हमें विकास की दौड़ में सबसे आगे रहना है। हम यह तो चिन्ता करते रहते हैं कि पर्यावरण का प्रदूषण कैसे कम करें किंतु जिन कारणों से प्रदूषण हो रहा है उन कारणों को दूर करने की बात हम इसलिए नहीं सोच सकते कि वे हमारे जीवन के अंग ही नहीं बन गये हैं, अपितु हमारी सम्पन्नता के प्रतीक भी बन गये हैं। आज जिस राष्ट्र में प्रति व्यक्ति पेट्रोल की खपत जितनी ज्यादा है, वह राष्ट्र उतना ही अधिक सम्पन्न/विकसित माना जाता है।

उद्योगीकरण पर टिका हुआ यह ढांचा इस आधार पर खड़ा है कि उद्योगों द्वारा अभाव को मिटाकर सम्पन्नता को लाया जा सकता है और ज्यों-ज्यों सम्पन्नता बढ़ेगी त्यों-त्यों सुख बढ़ेगा। पिछले पचास वर्षों में निश्चय ही सम्पन्नता बढ़ी है, पर क्या सचमुच सुख भी बढ़ गया—यह एक विचारणीय मुद्दा है। सम्पन्नता बढ़ने को नापा जा सकता है और सुख को नापा नहीं जा

सकता, पर सुख को अनुभव तो किया ही जा सकता है। सुख का एक बड़ा लोत है—आपसी प्रेम। जहां दस लोग मिलकर एक दूसरे के दुःख-दर्द में ही नहीं सुख में भी हिस्सेदारी बंटा सके, वहां सुख है। पिछले पचास वर्षों में पड़ोसी-पड़ोसी के बीच, और परिवार के एक सदस्य तथा दूसरे सदस्य के बीच दूरियां बढ़ी हैं, हालांकि यातायात के साधन कहीं अधिक सुलभ हैं।

नया परिदृश्य : यन्त्रीकृतमानव

अभी तक आजीविका का मुख्य साधन कृषि था। आज गांव का किसान मिल में मजदूर बन गया है। मिल की मजदूरी मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने देती, मशीन बना देती है। आज के रोजगार के साधन अमानवीकरण के साधन हैं। शाम को खेत से लौटने वाले किसान में और मिल से बाहर निकलने वाले मजदूर में एक अन्तर है—किसान प्रफुल्लित है, मजदूर बुझ गया है। मजदूर जो कुछ मिल में बनाता है, वह किसके काम आयेगा इसका उसे कुछ पता नहीं। इसलिए उसके पास वह व्यक्ति कभी कृतज्ञता ज्ञापित करने नहीं आता जो उसके अथक परिश्रम के फल को भोगता है। मिल मालिक के साथ तो मजदूर के संबंध सदा ही तनावपूर्ण रहते हैं।

दफ्तरों में काम करने वाले कर्मचारियों को अपने काम में कोई रस नहीं है। उसका एकमात्र रस अपना वेतन बढ़ावाने में है। बड़े-बड़े दफ्तरों में वस्तुतः क्या होता है—यह पता चलाना ही कठिन है। उन दफ्तरों में फाइलें इधर से उधर घूमती रहती हैं। कभी भारत के प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी ने कहा था कि सरकार जो एक रूपया खर्च करती है उसमें से जिसके लिये वह एक रूपया खर्च किया जाता है उस तक तो केवल प्रति रुपया १५० पैसे ही पहुंचते हैं। यह केन्द्रीकरण का चमत्कार है। बड़े-बड़े उद्योग बिना केन्द्रीकृत अर्थव्यवरथा के चल ही नहीं सकते। एक रूपये में से ८५० पैसे दफ्तरी कार्यवाही में या लालफीताशाही में ही नहीं लगते हैं, उसका बहुत बड़ा भाग भ्रष्टाचार की भट्टी में भी झोंक दिया जाता है। जब आर्थिक प्रगति होती है तो ईमानदार आदमी की कठिनाई और बढ़ जाती है क्योंकि उस आर्थिक प्रगति का बड़ा भाग काले धन में बदल जाता है। यह काला धन बाजार में मंहगाई इतनी बड़ा देता है कि ईमानदारी से पैसा कमाने वाले को आर्थिक प्रगति का लाभ कभी महसूस नहीं हो पाता। यंत्रीकरण ने मनुष्य की सर्जनात्मकता छीन ली है। एक समय इसी देश में जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, मुंशी प्रेमचंद, महादेवी वर्मा और सुमित्रानंदन पंत जैसे विश्वविद्यात साहित्यकार हो गये। अहिन्दी

भाषियों में रविन्द्रनाथ टैगोर तथा शरच्चन्द्र जैसे लेखक हुए। आज सर्जनात्मक साहित्य के नाम पर तुकबन्दियां ही प्रायः चल रही हैं। मशीन एकरूपता स्थापित करती हैं, उसमें विविधता नहीं होती इसलिए मशीन के बीच सौन्दर्य खो जाता है। मशीन पर काम करने वाला अपना कोई वैशिष्ट्य नहीं दिखा सकता, अतः उसे काम में उल्लसित होने का अवसर नहीं मिलता। मशीन से किया गया सारा काम मजदूरी है, सर्जन नहीं। सर्जनात्मकता के नष्ट होने का अर्थ है—सौन्दर्य बोध की समाप्ति। सत्य और शिवं सुन्दरं भी होता है। सौन्दर्य बोध के नष्ट होने का अर्थ है सत्य और शिव के प्रति आकर्षण की न्यूनता।

यही हुआ भी है। उपभोक्ता संस्कृति न सत्य की चिंता करती है न शिव की। सत्य की उपेक्षा का अर्थ है—भ्रष्टाचार। शिव की उपेक्षा का अर्थ है—विकृत मानसिकता। आज वह संगीत जो आत्मा को निर्मल बनाता है उस संगीत के सामने नहीं टिक पा रहा है जो संगीत आत्मा को कलुषित करता है। यही स्थिति साहित्य की है। विश्वविद्यालयों में वे विषय फल-फूल रहे हैं जो व्यवसाय मूलक हैं और वे विषय जो मानवीय मूल्यों को स्थापित करते हैं सूखते जा रहे हैं।

मशीन की एक विशेषता है—कम समय में अधिक उत्पादन कर देना। इस विशेषता ने मनुष्य को अधीर बना दिया है। हमें ज्ञान प्राप्ति का भी ऐसा उपाय चाहिए जो कम समय में अधिक ज्ञान दे दे। इससे बिना आत्मसात् किये ज्ञान का संचय होने लगा है। ऐसा ज्ञान हमारा रूपान्तरण नहीं कर पाता, केवल हमें सूचनाओं से भर देता है। हम धन भी कम समय में अधिक कमाना चाहते हैं। यही भ्रष्टाचार का मूल है। आज के ज्ञान का सार आचार नहीं रह गया। आज के ज्ञान का सार है—अर्थोपार्जन की क्षमता में वृद्धि, चांहे वह अर्थोपार्जन किन्हीं भी उपायों से हो। वह विद्या जो मुक्ति का साधन थी—‘सा विद्या या विमुक्तये’—बहुत पीछे छूट गयी है और विद्या जो विदेशी कम्पनियों में नियुक्ति दिला सके—सा विद्या या नियुक्तये—आगे आ गयी है। फलतः मनुष्य धनी भले हो गया हो पर स्वतंत्रता खो बैठा है। उसकी गति उस तोते की सी हो गयी है जिसे खाने को तो अनार और अमरुद मिल जाते हैं किंतु जिसे पिंजरे के बाहर डाल से डाल पर फुदकने की इजाजत नहीं है। यह स्थिति तो उनकी है जो परम सौभाग्यवान् हैं और जिन्हें किसी ऐसी कम्पनी ने ले लिया है जिसमें पगार तो पांच अंकों की है किंतु जो दिवाली या होली भी अपने परिवारवालों के बीच मनाने की इजाजत नहीं देती। ऐसे भाग्यवान् लाखों में एक हैं। शेष ६६.६६६ तो ६६ के फेर में पड़कर लून-तेल-लकड़ी

को जुटाने में ही चुक जाते हैं। फिर भी हम कहते हैं कि आर्थिक प्रगति हो रही है।

गरीबी का अर्थ

हमने ऊपर कहा कि माना जा रहा है कि गरीबी हट जायेगी तो सब सुखी हो जायेंगे। गरीबी हटाने की बात सब करते हैं किंतु गरीबी एक सापेक्ष अवधारणा है। भारत का अमीर भी अमरीकी स्तर से गरीब दिख सकता है। कहा जा सकता है कि जिसकी मूलभूत आवश्यकतायें भी पूरी न हों वह गरीब है। किंतु वस्तुस्थिति यह है कि हमारी मूलभूत आवश्यकताओं का दायरा भी बढ़ता रहता है। एक समय घर की बैठक में जमीन पर नीचे बैठने की व्यवस्था हो जाये तो पर्याप्त माना जाता था किंतु आज ड्राइंग रूम में सोफा होना आवश्यक माना जा रहा है। कभी बिजली का पंखा भी कुछ गिने-चुने लोगों के घर में ही था, आज कूलर भी घर-घर में लगा है। टेलिविजन तो रोटी के समान ही अपरिहार्य हो गया है।

इस सारी स्थिति पर विचार करने की आवश्यकता है। प्रथम सिद्धान्त तो समझने का यह है कि धन जीवन की प्रथम आवश्यकता है किंतु धन ही जीवन की सम्पूर्ण आवश्यकता नहीं है। धन के साथ मनुष्य सुख भी चाहता है। शास्त्रीय भाषा में धन अर्थ है तो सुख काम है। अर्थ और काम दो भिन्न चीजें हैं—धन ही सुख नहीं है, धन सुख का साधन है। जो धन सुख का साधन नहीं है, वह धन उपादेय नहीं है। धन के लिए धन का उपार्जन व्यर्थ है, धन की उपादेयता तब ही है जब वह सुख दे सके।

साधनशुद्धि

दूसरी बात ध्यान में रखने की यह है कि धन के उपार्जन के अनेक उपाय हैं। वे सभी उपाय श्रेयस्कर नहीं हैं। यह ठीक है कि अनुचित उपायों से भी धन अर्जित किया जा सकता है और आज की जैसी व्यवस्था है उसमें शायद उचित उपायों की अपेक्षा अनुचित उपायों से कहीं अधिक धन एकत्र किया जा सकता है। उपायों का अनौचित्य अनेक प्रकार का है। हम धनोपार्जन के ऐसे उपाय बरतें जिससे हमारे साथी के साथ अन्याय हो जाये—तो यह धनोपार्जन के उपाय का प्रथम अनौचित्य है। दूसरा अनौचित्य यह है कि हम धनोपार्जन के लिये उत्पादन के वे प्रकार अपनायें जिन प्रकारों से उत्पादन का मूल स्रोत—प्रकृति—ही नष्ट हो जाये और हम एक बार भले ही

सम्पन्न हो जायें किंतु सदा के लिए दरिद्र हो जायें। तीसरा अनौचित्य यह है कि हम ऐसे पदार्थों का उत्पादन करें जो उपभोक्ता को मोहक तो लगें किंतु अन्ततोगत्वा उसकी हानि कर दे। स्वस्थ समाज के लिये ये सभी अनुचित उपाय त्याज्य हैं।

महावीर उवाच

- से सयमेव पुढवि—सत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा पुढवि—सत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा पुढवि—सत्थं समारंभते समणुजापणइ।
कोई साधक स्वयं पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है या करने वालों का अनुमोदन करता है।
- तं से अहियाए, तं से अबोहिए।
वह (हिंसा) उसके अहित के लिए होती है।
वह (हिंसा) उसकी अबोधि के लिए होती है।
- सोच्चा खलु भगवओ अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसि णातं भवति
एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए।
भगवान् या गृह त्यागी मुनियों के समीप सुनकर कुछ मनुष्यों को यह ज्ञात हो जाता है—
यह (पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा) ग्रंथि है, यह मोह है, यह मृत्यु है, यह नरक है।
- से बेमि—अप्पेगे अंधमओ, अप्पेगे अंधमच्छे।
मैं कहता हूँ शस्त्र से भेदन छेदन करने पर जैसे जन्मना इन्द्रिय-विकल मनुष्य को कष्टानुभूति होती है, वैसी ही पृथ्वीकायिक जीव को होती है।

भगवान् महावीर की इस घोषणा का फलितार्थ आज के संदर्भ में मार्च, १९६८ में गांधी शांति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित “हमारा पर्यावरण” नामक ग्रंथ के आलोक में देखने योग्य है। मूल ग्रन्थ के शब्द हैं—

खान खुदाई के काम में किसी की खैर नहीं। योजना बनाने में और उस पर अमल करने में पूरी सावधानी नहीं बरती जाए तो हर एक खान पास की जमीन को बंजर बना सकती है, पानी को जहरीला कर सकती है, जंगलों का

सफाया कर सकती है, हवा को गंदा कर सकती है और इसके आस-पास रहने वाले और उसमें काम करने वाले लोगों का जीवन दूभर और नरक बना सकती है। आधुनिक तकनीक ने मनुष्य को खनिज द्रव्यों को खोद कर निकालने की प्रचंड शक्ति दी है और साथ ही जीवन के लिए खतरा भी बढ़ा दिया है।

(पृष्ठ २५)

खानों के कारण भूमि, जल, जंगल और हवा चारों ही दूषित होते हैं। फिर इन प्रकृति के संसाधनों के हास से या दूषित होने से उन क्षेत्रों में रहने वाले लोगों का जीवन भी बरबाद होता है।

खान खुदाई का पहला काम उस जगह के पेड़-पौधों को काटना और ऊपर की मिट्टी हटाना है। चूंकि खदान खोद लेने के बाद उस को फिर से ठीक करने का काम नहीं होता है, इसलिए वहां की सारी धरती बंजर हो जाती है।

योजना आयोग के लिए तैयार की गई गोवा के पर्यावरण विकास संबंधी एक रिपोर्ट में कहा गया है कि "बिक्री योग्य एक टन कच्चे लोहे के साथ औसतन २ टन फालतू चीजें निकाल कर फेंकनी पड़ती है। कचरे के उन ढेरों में से बहुत सारा भाग बारिश के पानी के साथ बहकर आस पास के खेतों में और नदियों में फैलता है। खेतों में सूखने पर वह कचरा बहुत कड़ा हो जाता है, जिससे जमीन जोतना कठिन हो जाता है। छोटे किसान तो इसके कारण कंगाल बन जाते हैं। नदियों में इस कचरे से जिन क्षेत्रों में—जैसे गोवा में—पहले कभी बाढ़ नहीं आती थी अब वहां भी बाढ़ आने लगी है।

भूमिगत खदानों में एक बड़ा खतरा जमीन के धंसने का रहता है। भूमिगत खदान की छत को लट्ठों और खंभों के सहारे थाम कर रखा जाता है। जब ऐसी भूमिगत खदानों को बंद करने का वक्त आता है तो उसमें ज्यादा-से-ज्यादा जितना भी कच्चा माल लिया जा सके, ले लेने की कोशिश की जाती है। ऐसे में जगह घेरने वाले खंभों और लट्ठों को भी हटाया जाने लगता है तब जमीन धंसने लगती है। जान की भी हानि होती है और खान का वह स्थान एक बड़ा गड्ढा बन जाता है।

(पृष्ठ २६)

आज घाटी खतरे में है। इसका मुख्य कारण है चूना पत्थर का अंधाधुंध खनन। मसूरी एक समय पहाड़ों की रानी थी, आज हरे-भरे आवरण के छिन जाने से वह श्रीविहीन हो गई है। बताया जाता है कि पूरी घाटी में केवल १२ प्रतिशत जमीन पर ही हरा आवरण है जबकि ६० प्रतिशत पर होना जरूरी माना जाता है।

इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ मैनेजमेंट, बंगलूर के प्रोफेसर श्री जेंडोपाध्याय के नेतृत्व में तैयार एक रिपोर्ट के अनुसार, “खदानों का सबसे बुरा असर यहां के जल संसाधनों पर तथा मसूरी के प्राकृतिक वातावरण पर हुआ है।” इसी तरह पर्यावरण विभाग द्वारा तैयार कराई गई, तथा इस संबंध में एक मुकदमे के दौरान सर्वोच्च न्यायालय में हलफनामे के रूप में भी पेश की गई एक रिपोर्ट में बताया गया है कि खदान के मलबे को नीचे बह रही नदी और नहरों में गिरने दिया जाता है। इससे पीने तथा सिंचाई का पानी बेहद खराब हो रहा है। पिछले दो दशकों में बालदी नदी के जल ग्रहण क्षेत्र के खेतों की पैदावार २८ प्रतिशत तक गिरी है और इसी क्षेत्र के १८ गांवों के जल संसाधनों में ५० प्रतिशत की कमी आई है।

ज्यादातर खदाने वन क्षेत्रों में हैं। इसका अनिवार्य परिणाम यह है कि वहां के जंगल कटते हैं और भूक्षरण होता है। सुरंग वाली खानों के लिए भी काफी मात्रा में जंगल कटते हैं, क्योंकि सुरंगों की छतों को लट्ठों से सहारा दिया जाता है। गोवा में खानों के लिए पट्टे पर दी गई जमीन कुल जंगल का ४३ प्रतिशत है।

(पृष्ठ २७)

उत्तरप्रदेश के अलमोड़ा जिले के झिरोली गांव में बिलकुल सफेद धूल हवा में छायी हुई दिखाई देगी। यह धूल लगभग ४३२ एकड़ क्षेत्र में फैली मैग्नेसाइट की खदान अलमोड़ा मैग्नेसाइट लिं० से उड़ती है। मुंह बाये खड़े उन सफेद खड़ों से ४ लाख टन से भी ज्यादा खनिज निकाला जा चुका है। कुल भंडार शायद ४० लाख टन का है। वह समय दूर नहीं जब मैग्नेसाइट का आखिरी ढेर भी निकाल लिया जाएगा।

सूखे और अधसूखे क्षेत्रों में, जहां हरियाली बहुत मुश्किल से पनपती है, वहां खुदाई से रेगिस्तान के फैलाव को एक और मौका मिल जाता है।

“वर्तमान खनन कानूनों में बस यही ध्यान में रखा गया है कि खनिज भंडारों का पूरा-पूरा दोहन हो जाये। इस बात पर ध्यान ही नहीं गया है कि खनन समाप्त होने के बाद जमीन की उत्पादकता पर क्या-क्या बुरा असर पड़ता है। पेड़-पौधों का सफाया करने से और खनन के मलबे से राजस्थान के सूखे इलाकों में भूक्षरण की संभावनाएं बढ़ गई हैं। ऐसे ही इलाकों से रेगिस्तान का फैलाव शुरू होता है।”

राष्ट्रीय खनिज विकास निगम बस्तर के बेलाडीला में कच्चे लोहे की खदानें चला रहा है। उनसे रोजाना १५,००० टन का उत्पादन होता है। इसका ज्यादातर हिस्सा जापान को जाता है। खुदाई के काम में हर एक टन के उत्पादन के पीछे एक टन पानी खर्च होता है। यह पानी पास के किरींदल

नाले पर बांध बांधकर मुहैया किया जाता है। डिपॉजिट नंबर १४ के लोहा शोधन संयंत्र से जो कचरा निकलता है, उसमें १८-२० प्रतिशत लोहे का अंश होता है। यह सब उसी नाले में बहा दिया जाता है। इससे नाले का सारा पानी गाढ़ा लाल हो जाता है। नाले के निचले हिस्से में संयंत्र का गंदा पानी भी आ मिलता है। इससे भी पानी लाल होता है। इसी तरह शंखिनी नदी के प्रदूषण का असर आस पास के ५१ गांवों पर पड़ रहा है जिनकी कुल आबादी लगभग ४०,००० से ज्यादा है। ज्यादातर लोग बनवासी हैं। उन्हें आज पीने, नहाने-धोने के लिए साफ पानी नहीं मिलता है। जानवरों को भी परेशानी हो रही है। वहाँ के लोग कहते हैं, “इस परियोजना से हमें अगर कुछ मिला है तो यह लाल पानी ही है।” आदिवासियों ने शंखिनी नदी का नया नाम रख दिया है “दुखनी”।

(पृष्ठ २६)

खदान कोई भी हो, उसके खनिज की धूल चारों ओर फैलती ही है। वह कच्चे माल के ढेर में से तेज हवा के द्वारा, बारूद के धमाकों और भारी मशीनों के कारण हो रही उथल पुथल से उड़कर सब जगह छा जाती है। धमाके से जहरीला धुंआ भी हवा में फैलता है। खदान क्षेत्रों में वायु-प्रदूषण के कारण लोगों को सांस की और आंख की न जाने कितनी तरह की बीमारियां होती हैं। सिलिकोसिस और एस्बेस्टस आदि की धूल सांस द्वारा फेफड़े में पहुंचती है तो उससे फेफड़ों की बीमारियां हुआ करती हैं। आंख की बीमारियों में मोतियाबिंद, कंजकटीवाइटिस, कार्नियल, अल्सर, ग्लूकोमा और स्किंचंट ट्राकोमा मुख्य हैं।

खान मजदूरों में, जिन्हें खनिज की धूल भरी जगहों में काम करना पड़ता है, सांस और आंख की बीमारियां सबसे ज्यादा होती हैं। लेकिन खदानों के आस पास जो लोग बसते हैं और उनमें भी जिन लोगों का शरीर अन्य रोगों से पहले ही दुर्बल हो गया है, उनके लिए भी यह धूल खतरनाक होती है।

(पृष्ठ ३०)

खदाने कई उद्योगों के कच्चे माल के महत्वपूर्ण स्रोत हैं। देश के कुल निर्यात में कच्चा लोहा ६ प्रतिशत से १० प्रतिशत तक है और इस प्रकार खदाने विदेशी मुद्रा के महत्वपूर्ण साधन हैं। सरकारी तौर पर खदानों की हिमायत इसी बात पर की जाती है। उनसे पिछड़े इलाकों में रोजगार मिलता है और क्षेत्रीय विकास में मदद। लेकिन खदानों के अलिखित प्रतिफल हैं—भ्रष्टाचार, मुनाफाखोरी, निजी संपत्ति का भारी संचय और काला धन, जो प्रायः चुनाव प्रचार के लिए दान किया जाता है। वैध खदानों में जो अवैध खुदाई होती है और गैर कानूनी कारोबार चलता है उसका नतीजा यह है कि खेती की जमीन और जंगल जैसी प्राकृतिक संपदा बरबाद होती है और राष्ट्रीय संपत्ति की

(लकड़ी की तस्करी और कीमती जमीन जायदाद आदि के रूप में) लूट होती है। (पृष्ठ ३१)

देश की संसद से मुश्किल से कोई ३५ किलोमीटर दूर दिल्ली—हरियाणा सीमा पर हजारों मजदूर रोजाना बहुत ही खतरनाक परिस्थिति में काम कर रहे हैं। ये जगह है कुछ्यात “भट्टी” खानों की। कुल वार्षिक आमदनी है कोई १५५ करोड़ और यहां से निकलता है पत्थर, सिलिका, बजरी और ऐसा कच्चा माल जो निर्माण कार्य में और शीशे के उद्योगों में खपता है। बिहार, राजस्थान और उत्तरप्रदेश से आये कोई १५५ से २० हजार मजदूर यहां रात-दिन अपनी जान की बाजी लगाते हैं। १००—१०० फुट खड़ी दीवार वाले गड्ढों में ये रसिसयों के सहारे उतरते हैं। पी०यू०सी०एल० के सचिव श्री इन्द्रमोहन का कहना है कि सन् ७८ से अब तक कोई ४०० मजदूर मारे जा चुके हैं और इनमें से किसी के भी परिवार को पूरा मुआवजा नहीं मिल पाया है। ज्यादातर मौतें खान धसने से हुई हैं। (पृष्ठ ३२)

महावीर उवाच

- जे लोयं अभ्माइक्खइ, से अत्ताणं अभ्माइक्खइ ।
जो जल में आत्मा को स्वीकार नहीं करता, वह अपनी ही आत्मा को अस्वीकार करता है ।
- जमिणं विरुवरुवेहि॒ सत्थेहि॒ उदय-कम्म-समारंभेण॑ उदय-सत्थं॒ समारंभमाणे॑
अण्णे॑ वणेगरुवे॑ पाणे॑ विहिंसति॑ ।
जो नाना प्रकार के शस्त्रों से जल की हिंसा करता है वह अन्य जीवों की भी हिंसा करता है ।
- इच्छत्थं॒ गढिए॑ लोए॑ ।
सुख-सुविधा के लोभ से मूर्च्छित मनुष्य जल की हिंसा करता है ।

भगवान महावीर की इस दूर दृष्टि को न समझ कर प्रकृति के जल तत्त्व से छेड़-छाड़ करने का दुष्परिणाम भी पूर्वोद्धृत “हमारा पर्यावरण” नामक ग्रंथ से देखने योग्य है—

एक समय था जब हमारे शहरों और गांवों में तालाब और पोखर बहुत पवित्र सार्वजनिक संपदा की तरह संभाल कर रखे जाते थे। (पृष्ठ ३५)

१६७४ में ४० करोड़ हेक्टेयर मीटर पानी बहा, लेकिन उपयोग में केवल ३.८० करोड़ हेक्टेयर मीटर (क. हे. मी.)—६.५ फीसदी ही—आया।

पिछले कुछ वर्षों से भूमिगत जल का भयानक गति से उपयोग बढ़ता जा रहा है। इससे नदी से पानी का रिसाव बढ़ेगा।

अंदाज है कि सन् २०२५ तक भूमिगत पानी को ऊपर खींचने का प्रमाण आज के १.३. क. हे. मी. से बढ़कर ३.५ क.हे.मी. होने वाला है। (पृष्ठ ३६)

हर एक विपत्ति के बाद कंबल और दवाई बांटते रहना या सेना को बुलवा लेना कोई हल नहीं है। जरूरी है विपदाओं के सामने डटकर खड़े हों

और उन्हें घटने से रोकें। इसका एक ही उपाय है—पर्यावरण में हो रहे परिवर्तन को रोका जाए, क्योंकि इसी से यह संसार विपदाओं का घर बन रहा है। (पृष्ठ ३७)

धारवाड़ जिले (कर्नाटक) के हरिहर शहर में “हरिहर पॉली फाइबर फैक्ट्री” रोजाना १६५५ टन फैक्टरी ग्रेड लुगादी तैयार करती है जिसका उपयोग पास की ग्वालियर रेयान एंड सिल्क मैनुफैक्चरिंग कंपनी रेयान बनाने में करती है। इन दोनों कारखानों से रोजाना ४५,००० घन मीटर गंदा पानी निकलता है। (पृष्ठ ३८)

नलकूपों की संख्या बढ़ने का अर्थ है भूमिगत पानी का ज्यादा उपयोग। जो हाल दूसरे सभी संसाधनों के शोषण का है, वही पानी का भी है। उसका बेहिसाब दुरुपयोग होता है। इस कारण से भी पानी की सतह नीची होती जा रही है। कुदरती तौर पर जितना पानी भूमिगत भंडार में भरता है, उससे ज्यादा पानी नलकूप बाहर खींच लाते हैं। इसका मतलब यह है कि यह कीमती भंडार हमेशा के लिए घटता जा रहा है।

पानी की सतह के घटने से साधारण किसान बड़ी परेशानी में पड़ जाते हैं। पैसे वाले किसान तो अपने कुएं गहरे करवाकर कुछ समय के लिए खतरे से बच जायेंगे पर जो खुले कुएं काम में आते हैं और परंपरागत पद्धति से पानी खींचकर अपना और मवेशियों का गुजारा करते हैं, उन पर कहर टूट पड़ता है। केन्द्रीय भूजल बोर्ड ने साफ कहा है कि मलेरकोटला जिले में सालाना ५८,००० हेक्टेयर-मीटर पानी भूमिगत भंडार से खींचा जाता है जिसके बदले में वहां केवल ४६,००० हेक्टेयर-मीटर पानी भर पाता है। पहले पानी की सतह १२ से १५ फुट नीचे थी। अब यह ३० फुट से ज्यादा नीची हो गई है। इस कारण क्षेत्र के सारे रहठ बेकार हो गए हैं। (पृष्ठ ३६)

तासगांव तालुके के मनेराजुई गांव में गन्ने के फसल के वास्ते पानी की आपूर्ति करने की ६,६३,००० रुपयों की एक योजना १६८१ के नवम्बर में मंजूर की गई। एक साल पूरा होते-होते पानी का स्रोत सूख गया। १६८२ में तीन नए नलकूप खोदे गए जिनकी पानी खींचने की क्षमता ५०,००० लिटर रोजाना थी, पर वे भी नवम्बर १६८३ तक सूख गए। १६८४ में वहां २०० मीटर गहरे कई बोरवैल खोदे गए, वे भी सूख गए।

अब लगभग १५ किलोमीटर दूर से टैंकरों द्वारा पानी लाया जा रहा है। अहमदाबाद महानगर पालिका ने भूमिगत जल खींचने की अपनी क्षमता १६५१-५२ के एक करोड़ सत्तर लाख गैलन से बढ़ाकर १६७१-७२ में १८ करोड़

३५ लाख गैलन कर दी। शहर पर बड़ी बारीक निगरानी रखने वाली एक पत्रिका "अहमदाबाद माँ" के अनुसार "१६८० में घरेलु और औद्योगिक जरूरतें पूरी करने के लिए ४५० नलकूपों से ३४ करोड़ गैलन पानी निकाला गया। हाल के वर्षों में पानी का स्तर ७.५ से ७.६ मीटर प्रतिवर्ष की दर से नीचे जा रहा है। गोमतीपुर जैसे कुछ इलाकों में कुछ खास मौसम में यह ६ मीटर तक नीचे चला जाता है।" जो लोग ज्यादा गहरे से पानी खींच सकने वाले पंप नहीं खरीद सकते, उनकी तकलीफ बढ़ रही है। साबरमती नदी का पाट साल में ज्यादा समय तक सूखा रहता है। इसका एक कारण यह है कि भूमिगत जल के रिसाव से नदी को पानी मिलना कम हो गया।

भूजल और ऊपरी पानी के भद्रदे प्रबंध का ही यह नतीजा है कि आज गावों की तो बात छोड़िए, छोटे-बड़े शहरों में व राजधानियों तक में पीने के पानी का संकट बढ़ता ही जा रहा है। हैदराबाद के लिए रेलगाड़ी से पानी पहुंचाया जा चुका है। मद्रास, बंगलूर भी छटपटा रहे हैं। जिस शहर के पास जितनी राजनैतिक ताकत है, वह उतनी ही दूरी से किसी और का घूंट छीनकर अपने यहां पानी खींच लाता है। दिल्ली यमुना का सारा पानी पी लेती है, इसलिए अब गंगा का पानी लाया गया है। इंदौर ने अपने दो विशाल तालाब पी डाले हैं, इसलिए वहां नर्मदा का पानी आया। वह भी कम पड़ने लगा तो वहां नर्मदा चरण-२, चरण-३ की भी तैयारी हो गई है।

भूमि के संबंध में जो "अतिचराई" जैसे शब्द निकाल सकते हैं, उन्हें शहरों की इस "अति पिवाई" के बारे में भी सोचना होगा।

भूमिगत पानी के अति उपयोग का नतीजा यह भी हो सकता है कि उसमें खांसकर समुद्र तट के इलाकों में, खारा पानी मिल जाए। इससे फिर रहा-सहा पानी भी पीने या सिंचाई के लायक नहीं रह पाएगा।

कोई उद्योग पर्यावरण को किस हद तक बिगड़ सकता है इसका दुखद उदाहरण है तमिलनाडु का आर्काट जिला। यहां आंबूर और रानीपेट शहरों में चमड़ा शोधन के कोई २५० कारखाने हैं। ये अपनी सारी गंदगी को बिना निथारे बहाए चले जा रहे हैं। इस जहर के कारण पैदावार लगभग ७० प्रतिशत से ज्यादा घट गई है, पानी पीने लायक नहीं बचा है। सांस और चर्म के रोग बढ़ रहे हैं। उस बदबूदार इलाके में पशु भी चरने नहीं जाते हैं।

देश से निर्यात होने वाली चमड़े से बनी कुल चीजों का ७० प्रतिशत तमिलनाडु में चल रहे ४२३ मान्यता प्राप्त चर्मशोधन कारखानों में बनता है। इस विदेशी मुद्रा की कीमत चुका रहे हैं जिले के रानीपेट, आंबूर और

वणियंबाड़ी शहर। सबसे खराब हालत आंबूर की है। किसी भी कारखाने में जहरीला कचरा साफ करने के यंत्र नहीं है। आई. आई. टी. मद्रास के श्री सी. ए. शास्त्री के एक अध्ययन के अनुसार वणियंबाड़ी के इन ४१ कारखानों से रोज ११०० घन मीटर गंदा पानी निकलता है।

वेल्लोर क्षेत्र की मिट्टी का परीक्षण करने वाले मुद्रा विशेषज्ञों की १६७६ की रिपोर्ट बताती है कि वणियंबाड़ी, आंबूर, वेल्लोर, आर्काट, वालाजा, रानीपेट, विशारम और तिमिर शहरों की १०,००० एकड़ जमीन गंदगी के कारण खराब हो चुकी है। ३०,००० एकड़ पर आंशिक असर हुआ है। इन इलाकों में अब प्रति एकड़ केवल २० टन के करीब गन्ना होता है जबकि पहले आमतौर पर ६० टन होता था। पेरनांबट में ३,००० एकड़ अच्छी जमीन में रागी बोया जाने लगा है। रागी गंदे पानी को सह लेगा ऐसा मानते हैं। लेकिन रागी की पैदावार भी गिर रही है।

यहां का सारा गंदा पानी सीधे पालार नदी में जाता है और अब तो यह नदी दोनों किनारों पर बने कुंओं में भी रिसने लगी है। पानी के सभी मुख्य स्रोत दूषित हो गए हैं। आंबूर के ३००० नलों में आज वही गंदा पानी बहता है।

(पृष्ठ ४०)

बरौनी से भागलपुर तक गंगा की ११२ किलोमीटर लंबी धारा बुरी तरह प्रदूषित है। भागलपुर के ऊपरी हिस्से में वही उर्वरक कारखाने, ताप बिजलीघर, तेल शोधक कारखाना, मैकडोवल की शराब की भट्टी और बाटा कंपनी का कारखाना अपनी जहरीली गंदगी गंगा में छोड़ते हैं।

बाटा कंपनी का गंदा पानी जहां नदी में मिलता है वहां मछली केवल दो दिन जीती है और शराब की भट्टी वाले इलाके में केवल कुछ घंटे। मुंगेर के पास के तेल शोधक कारखाने से नदी में तेलिया अवशेष इतना ज्यादा मिलता है कि १६६८ में गंगा में तो आग ही लग गई थी। बरौनी के पास का प्रदूषित जल मछलियों को उस ऊपरी धारा में जाने से रोकने वाली दीवार बन गया है जहां वे अंडे देने जाया करती थी। भागलपुर के शहरीकरण और वहां उद्योग का भी प्रदूषण बढ़ाने में पूरा हाथ है।

फरक्का बांध के कारण भी मछलियों का भंडार खाली हो रहा है, क्योंकि हिलसा जैसी लोकप्रिय मछलियां हिमालय की तलहटियों तक जा नहीं पाती हैं, जहां उनके अंडे देने के स्थान हैं। वाहिनी के कार्यकर्ता गंगा से ४० किलोमीटर दूर कहलगांव के पास बनने वाले ताप बिजलीघर के निर्माण के

खिलाफ भी जोरदार आंदोलन कर रहे हैं क्योंकि उससे भी गंगा प्रदूषित होगी। पिछले कुछ वर्षों में नदी का ३०-४० मीटर किनारा कट गया है। तीन साल पहले बिहार सरकार ने गांव के किनारे एक सुरक्षा दीवार खड़ी करने के लिए ५१.४ लाख रुपये मंजूर किए थे, पर सारी धनराशि स्थानीय राजनैतिक नेताओं और सिंचाई कर्मचारियों के झगड़े में हवा हो गई।

(पृष्ठ ५०)

महावीर उवाच

- जे पमते गुणद्विए, से हु दंडे पवुच्चति ।
जो विषय भोगों की इच्छा से अग्नि को पीड़ित करता है, वह वस्तुतः अपने
को ही पीड़ित करता है ।
- तं परिण्णाय मेहावी इयाणि णो जमहं पुव्वमकासी पमाएणं ।
समझदार मनुष्य यह संकल्प करे कि पहले मैंने प्रमादवश ऐसा किया किंतु
अब ऐसा नहीं करूँगा (कि अग्नि को पीड़ित करूँ) ।
- इमरस्स चेव जीवियस्स, परिवंदण-माणण-पूयणाए,
जाई-मरण-मोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव वाउ-सत्थं समारंभति ।
लोक मैं सुख के लिए, सम्मान पाने के लिए तथा जन्म मरण आदि दुःखों
से छुटकारा पाने के लिए लोग वायु को पीड़ित करते हैं ।

अग्नि तथा वायु के प्रदूषण फैलाने वाले उद्योग-धन्धों ने क्या-क्या संकट
उपस्थित किये हैं, यह “हमारा पर्यावरण” ग्रंथ के आधार पर ज्ञातव्य है—

औद्योगीकरण की प्रक्रिया के अनिवार्य अंग बन चुके ऐसे खतरनाक
रसायन, तीन तरह से हमारा स्वास्थ्य और पर्यावरण खराब करते हैं। एक, ये
कारखानों में लगे मजदूरों का स्वास्थ्य खराब कर देते हैं। दूसरे, औद्योगिक
अवशेष या कचरा पर्यावरण नष्ट कर देता है और मनुष्य के लिए दीर्घकालीन
खतरे पैदा करता है। तीसरे, रोज काम आने वाली वस्तुओं में इन रसायनों का
इस्तेमाल बढ़ने लगा है जिससे मनुष्य के स्वास्थ्य को भी खतरा बढ़ता जाता
है। शीतल पेय, कृत्रिम रंग, डिब्बा बंद खाद्य सामग्री (जिसमें दूध और टमाटर
की चटनी आदि शामिल है) पेंट, डिटरजेंट, प्रसाधन सामग्री तथा दवा जैसी
सैकड़ों चीजों में इन रसायनों का इस्तेमाल बढ़ रहा है। कुल मिलाकर आज

हालत यह हो गई है कि हर जगह फैक्टरी, दफ्तर, घर या खाने-पीने की हर चीज में इन रसायनों का इस्तेमाल हो रहा है। सभी तरह के शीतल पेय रसायनों से बनते हैं। यानी शीतल पेय और कुछ नहीं बस रासायनिक पेय ही है। इस भयानक स्थिति को कुछ पर्यावरण विशेषज्ञों ने जीवन का रासायनीकरण कहा है।

एक अमेरिकी पर्यावरण संस्था नेचुरल रिसोर्सेज डिपेंस काउंसिल ने अनुमान लगाया है कि औद्योगिक कचरे को ठिकाने लगाने के लिए वहां कोई ५० हजार बड़े-बड़े गड्ढे बनाए जा चुके हैं। वहां हर साल २५० लाख टन विषाक्त औद्योगिक कूड़ा जमा हो रहा है।

जमीन में दबाए गए इस जहरीले कचरे में से १४ हजार टन कचरा ऐसा है, जो देर सवेरे भारी नुकसान पहुंचाने वाला है। दबे होने के बावजूद उसका जहर जमीन और भूमिगत पानी के भंडार पर असर कर सकता है। इसके नतीजे तो १०-१५ बरस में ही मालूम पड़ पायेंगे, क्योंकि कैंसर का पता इतने समय में ही लग पाता है।

(पृष्ठ १५०-१५१)

१६८० में एक अनुमान के अनुसार १६६ लाख टन राख सिर्फ ताप बिजली घरों से निकली। इस ढेर को ठिकाने कहां लगाएं? हर दिन यह गंभीर रूप लेती जा रही है, क्योंकि ताप बिजली घरों की संख्या बढ़ती जा रही है। इस राख में कुछ खतरनाक धातुओं के अंश भी होते हैं जैसे जिंक, बेरियम, कॉपर, आर्सेनिक वैनेडियम, थैलियम और मैंगनीज। आम तौर पर इस राख को बिजलीघर के आसपास ढेर लगाकर रखा जाता है, लेकिन कई जगह इसे नदियों में या तालाबों में फेंक दिया जाता है। कई बार इसे बड़े-बड़े गड्ढों में डाल दिया जाता है। तब ये खतरनाक धातुएं भूमिगत जल भंडार से जा मिलती हैं और भूजल भी जहरीला हो जाता है।

(पृष्ठ १५२)

नागदा की ग्रासिम फैक्ट्री के एक कर्मचारी मांगीलाल अपने बांए हाथ के बारे में कहते हैं, "यह मेरा नहीं है।" उनकी आवाज भी लड़खड़ाने लगी है। स्थानीय जन सेवा अस्पताल के एक डॉक्टर के अनुसार मांगीलाल को आंशिक पक्षाधात हो गया है। पूरी तरह ठीक होने में मांगीलाल को महीनों लग सकते हैं। वे ग्रासिम कारखाने के स्टेपल फाइबर प्लांट में १६ साल से खलासी के पद पर काम कर रहे थे।

कालूराम जैन भी इसी फैक्ट्री में थे। पर १६७४ में उन्होंने नौकरी छोड़ दी। लगा कि वे अगर वहां काम करते रहे तो मर जायेंगे। प्लांट में रासायनिक भाप उन्हें कमज़ोर बनाए दे रही थी। हालांकि उन्हें यह नहीं पता कि यह भाप

किस रसायन की है पर अब उनका हृदय कमजोर हो चुका है। जैन ने ग्रासिम फैक्ट्री पर मुकदमा भी दायर किया है।

स्टेपल फाइबर प्लांट में ही मोहनलाल जोशी १९६० में बहाल हुए थे। १९७३ में ३३ बरस की उम्र में उन्हें दिल का दौरा पड़ा। दूसरा दौरा १९६८ में पड़ा और तीन महीने के इलाज में जमा पूंजी चूक गई। पत्नी के जेवर और मकान जमीन तक बेचने पड़े। (पृष्ठ १५६)

१९६०-८० के बीच देश में कीटनाशकों की खपत करीब २० गुना बढ़ी है। १९८४-८५ के दौरान करीब एक लाख टन कीटनाशकों का इस्तेमाल हुआ। मोटा अनुमान है कि इससे करीब दस फीसदी फसल बर्बाद होने से बचा ली गई होगी। कीटनाशकों की मांग लगातार बढ़ाई जा रही है। ८० के दशक में कीटनाशकों का उत्पादन १४ फीसदी बढ़ा। १९८०-८१ में यह ४३ हजार टन था। उत्पादन में १ फीसदी की भारी बढ़ोतरी के बावजूद कीटनाशकों का आयात इसी अवधि में करीब सात गुना बढ़ा है।

हमारे यहां इस्तेमाल होने वाले कीटनाशकों में करीब ७० प्रतिशत ऐसे हैं, जिनका इस्तेमाल पश्चिमी देशों में या तो निषिद्ध हो चुका है अथवा बहुत कम कर दिया गया है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने इन्हें अत्यंत जहरीला तथा नुकसानदेह बता दिया है। मलेरिया उन्मूलन जैसे सार्वजनिक स्वास्थ्य कार्यक्रमों में इस्तेमाल होने वाले कीटनाशकों में बहुत से इस निषिद्ध श्रेणी में आते हैं। हमारे यहां धड़ल्ले से इस्तेमाल होने वाला डी.डी.टी. अनेक देशों में वर्जित है। जमीन, वनस्पति और शरीर पर बहुत लंबे समय तक नुकसानदेह असर बने रहने के कारण इस पर रोक लगा दी गई है। लेकिन ताजा आंकड़ों के अनुसार हमारे यहां डी.डी.टी. की खपत कृषि क्षेत्र में ३,५०० टन और सार्वजनिक स्वास्थ्य कार्यक्रमों में ४,००० टन है।

ई.पी.एन. नामक एक कीटनाशक, जिसका दुनिया में कहीं इस्तेमाल नहीं होता और जिसे संयुक्त राष्ट्र ने भी अपनी सूची से निकाल दिया है, यहां धड़ल्ले से इस्तेमाल किया जा रहा है। १९८३ में भारत सरकार द्वारा मंजूर कीटनाशकों की सूची में ई.पी.एन. भी था।

पत्रकार प्रफुल्ल बिदवई ने बताया है कि विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा तैयार उस सूची में भारत तीसरे नंबर पर है, जहां कीटनाशकों की दुर्घटनाएं ज्यादा और हर साल होती हैं।

इन सब जहरीली चीजों का सबसे ज्यादा असर खेतिहर मजदूरों और मलेरिया उन्मूलन विभाग के छोटे कर्मचारियों पर पड़ता है यद्योंकि ये लोग ही

तो कीटनाशकों का छिड़काव करते हैं।

पिछले दिनों विश्व स्वास्थ्य संगठन ने देश के विभिन्न भागों से एकत्र अनाज, दालें, दूध, अंडे और मांस के नमूनों का विश्लेषण किया और पाया कि ५० प्रतिशत से ज्यादा वस्तुओं में कीटनाशकों का असर है, इसमें ३० प्रतिशत में तो खतरनाक अनुपात में है। (पृष्ठ १५८)

विश्व स्वास्थ्य संगठन के एक अध्ययन के अनुसार सन् ५४ में २५ ऐसे कीड़े थे जो किसी न किसी कीटनाशक दवा को पचा लेते थे। आज उनकी संख्या ४३२ हो गई है। यानी जहरीली दवाएं डाल-डाल हैं तो फसली कीड़े पात-पात। गुजरात में कपास के खेती करने वाले किसान अब पहले से मँहगे और तेज कीटनाशकों का एक दो नहीं, बीस-तीस बार छिड़काव कर रहे हैं, इसके बावजूद कपास की पैदावार खास नहीं बढ़ी है।

“कामधेनु” बताई जा रही परमाणु ऊर्जा १४,००० करोड़ की कीमत पर क्या देगी, यह पक्का नहीं है पर अभी तो उससे निकलने वाले भयंकर खतरनाक कचरे को ठिकाने लगाने का भी कोई प्रबंध नहीं सोचा जा सका है।

(पृष्ठ १८१)

महावीर उवाच

- अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उद्द्वाए ।
मनुष्य को मूर्च्छित करने या उसका प्राण-वियोजन करने पर उसे जैसी कष्टानुभूति होती है वैसी ही वनस्पति को भी होती है ।
- इमंपि चित्तमंतयं, एयंपि चित्तमंतयं ।
मनुष्य जिस प्रकार चैतन्ययुक्त है, वनस्पति भी उसी प्रकार चैतन्ययुक्त है ।
- से बेमि— संतिमे तसा पाणा, तं जहा—अंडया, पोयया, जराउया, रसया, संसेयया, संमुच्छिमा, उभिया, ओववाइया ।
मैं कहता हूँ—त्रस प्राणी ये हैं—अंडज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, सम्मूर्च्छिम, उदभिज्ज और औपपातिक ।
- सब्वेसिं पाणाणं, सब्वेसिं भूयाणं, सब्वेसिं जीवाणं, सब्वेसिं सत्ताणं अस्सायं अपरिणिव्वाणं महाभयं दुक्खं ति बेमि ।
मैं कहता हूँ कि सभी प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों के लिए पीड़ा अनिष्ट, भयंकर तथा दुःखद है ।

वनों के बेहिसाब काटने का तथा कीटाणुनाशक औषधियों के प्रयोग का दुष्प्रभाव “हमारा पर्यावरण” ग्रंथ में दिखाया गया है ।

उपग्रहों के ताजे चित्र बताते हैं कि देश में हर साल १३ लाख हेक्टेयर वन नष्ट हो रहे हैं । वन विभाग की ओर से प्रचारित सालाना दर के मुकाबले यह आठ गुना ज्यादा है । (पृष्ठ ५२)

अंधाधुंघ पेड़ कटाई का असर सबसे पहले १६६० में महसूस होने लगा । बाद में वह असर एकदम बढ़ता गया । चौड़ी पत्ती वाले पेड़ कट गए जिनके पत्ते बारिश के जोरदार थपेड़े से अच्छी मिट्टी को बचाते थे । अब बस भुरभुरी मिट्टी ही रह गई । अब वहां जल विजया (यूपेटोरियम) नामक खरपतवार के सिवाय कुछ पैदा नहीं होता । किसानों को यह भी शिकायत है कि नदी नाले

अब जल्दी सूख जाते हैं, बारिश भी कम हो गई हैं। ऐसे रोग और कीड़े होने लगे हैं, जो पहले कभी नहीं होते थे। वे सारी फसलों को, खासकर सुपारी और काली मिर्च को भारी नुकसान पहुंचाते हैं। (पृष्ठ ६३)

पैकिंग उद्योग ने वनों को काफी नुकसान पहुंचाया है। इसके लिए कोई पांच लाख घनमीटर लकड़ी लगती है। अगले २० सालों में यह खपत १२ लाख घन मीटर तक बढ़ेगी। हिमाचल प्रदेश में काटे जाने वाले पेड़ों की २० प्रतिशत लकड़ी पैकिंग के काम आती है। योजना आयोग द्वारा गठित पिछड़े क्षेत्रों के विकास की राष्ट्रीय समिति ने अंदाज लगाया है कि एक हेक्टेयर में पैदा होने वाले सेब को पैक करने में १० हेक्टेयर के पेड़ साफ हो जाते हैं। तीनों राज्यों में आज कुल दो लाख हेक्टेयर में सेब के बाग लगे हैं। इतने सेब पैक करने में लगभग २० लाख हेक्टेयर जंगल कटेंगे। (पृष्ठ ६४)

वनवासी की पूरी जिंदगी गौण मानी गई वन उपजों पर टिकी है। इनमें महुआ जैसे फूल, साल जैसे बीज, और तेंदू जैसे पत्ते, राल, बांस, लाख, आम और महुआ जैसे फल आदि आते हैं। ८० प्रतिशत से ज्यादा वनवासी २५ से ५० प्रतिशत तक के भोज्य पदार्थ वनों से ही पाते हैं। दरअसल “गौण वन उपज” एक निरा बाजार शब्द है। वनवासियों के लिए यह गौण उपज ही मुख्य उपज है।

जंगलों के कटने से ये गौण उपज दुर्लभ होती जाती है। खाने के काम में आने वाले महुए के फूल, कंदमूल आदि पिछले बीस वर्षों में घट गए हैं।

(पृष्ठ ६५)

वर्तमान वनों का अति दोहन हो रहा है और सुंदर जंगलों का शोषण बढ़ रहा है। भारतीय कागज निर्माता संघ के अध्यक्ष के अनुसार, “गिरे हुए वर्तमान उत्पादन के बावजूद वन-उपजों की मात्रा सीमित हो जाने के कारण कागज के कारखानों में आये दिन हड्डबड़ देखने में आती है। मुख्य समस्या कच्चे माल के सूखते जा रहे स्रोत हैं।”

उत्तर-पूर्वी “हरी-खानों” का दोहन करने में यातायात के साधनों की कमी ही एक अड़चन है, लेकिन एक बार उस क्षेत्र में अच्छी सड़कें बन जाए तो फिर सारा इलाका फैरन उजड़ जाएगा। इस बीच अंध्र प्रदेश विकास निगम काकीनाड़ा में सरकारी पेपर मिल लगा रहा है। उसमें कच्चे माल के रूप में अछूते अंडमान द्वीपों से लकड़ी की छिलपट का उपयोग होगा। (पृष्ठ ६६)

देहरादून और मसूरी को जोड़ने वाली सड़क कई नदी नालों को पार करती है। राजपुर के पास कोलागढ़ नाले पर ७० साल पहले एक पुल बनाया गया था। तब पुल की कमानी नाले के तल से २० मीटर ऊंची थी।

फिर नाले के पनढाल में बड़े पैमाने पर जंगल कट गए और उन क्षेत्रों में कई खदानें चालू हो गईं। भूस्खलन की घटनाएं बढ़ती गईं। चारों तरफ से मलबा बहकर नाले में आता गया और उसका तल ऊपर उठता गया। कमानी और तल की दूरी हर वर्ष कम होती गई। १९८० तक सिर्फ एक मीटर की जगह रह गई। हर साल एक फुट की रफतार से नाला भरता जा रहा है। पुल की ऊपरी हिस्से का जंगल एकदम साफ हो गया है। कुछ वर्षों में नाला मिट्टी पत्थर से पूरी तरह भर जाएगा और तब बरसात के दिनों में पानी पुल के नीचे से नहीं, ऊपर से बहा करेगा। दुर्भाग्य से देश में ऐसे नदी-नालों की संख्या बढ़ती ही जा रही है। इनमें बहकर आने वाली मिट्टी, पत्थर पनढालों की बरबादी के शिलालेख लिख रहे हैं। पर लगता है इन्हें कोई पढ़ ही नहीं पा रहा है। कभी जिस हिमालय की गोदी में हजारों नदियां खेलती थीं, आज उसी गोदी में सूख रही है हजारों नदियां।

(पृष्ठ ७५)

तंबाखू के हरे पत्तों को सुखाने के लिए खूब लकड़ी लगती है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार विकासशील देशों में तैयार होने वाले हर ३०० सिगरेट के लिए एक पेड़ जलता है। विश्व भर में कटने वाले कुल पेड़ों का १२ प्रतिशत हर साल तंबाखू पकाने में लगता है। यानी, हर साल २५ लाख टन तंबाखू तैयार करने के लिए १२ लाख हैक्टेयर जंगल साफ होता है।

तंबाखू बनाने वालों में विश्व में हम तीसरे नंबर पर हैं। १९८२-८३ में पकाई गई वर्जीनिया तंबाखू का क्षेत्र ३२.७ प्रतिशत बढ़ा जिसने २०३,००० हैक्टेयर क्षेत्र को धेर लिया। तंबाखू से रोजाना दो करोड़ रुपये की एकसाइज डयूटी प्राप्त होती है। पेट्रोल तथा पेट्रोलियम उत्पादनों के बाद इसी का नंबर है। १९८०-८१ में पकाई गई तंबाखू के निर्यात से ११५.८० करोड़ रुपये की आय हुई थी।

पत्रकार प्रफुल्ल बिदवई ने तंबाखू उत्पादन के प्रमुख राज्य आंध्र प्रदेश का अध्ययन किया है। आंध्र में वर्जीनिया तंबाखू ६८,००० हैक्टेयर में लगी है। कुल तंबाखू का ४० प्रतिशत यहां पैदा होता है। सरकार बढ़ा-चढ़ा कर कहती है कि आंध्र में वन क्षेत्र ६९ लाख हैक्टेयर है जबकि वास्तव में २० और २५ लाख हैक्टेयर के बीच ही है। इतना कम वन होने पर भी हर साल तंबाखू की खेती ८५,००० से १५०,००० हैक्टेयर जंगल को खा रही है। यानी वनों की कुल कटान का चौथाई से कुछ कम हिस्सा तंबाखू के कारण कटता है। इस गति से अगले १५ वर्षों में आंध्र प्रदेश में जंगल कुछ भी रह नहीं पाएगा।

(पृष्ठ ७६)

बस्तर के वन विभाग के प्रकाशन के अनुसार १९५६ और १९८१ के बीच विभिन्न विकास परियोजनाओं के निमित्त १२५,४८३ हैक्टेयर जंगल साफ किए गए। (पृष्ठ ७७)

बस्तर डिविजन के एक कमिश्नर साहब ने एक सरकारी दस्तावेज में उन वनवासियों को मूर्ख बताया और अपनी ही मूर्खता साबित करते हुए लिखा, “अगर इन क्षेत्रों में रेलवे और सड़क आदि परिवहन की सुविधाएं पहुंचा दी जाए तो उनकी शैक्षिक कमी की पूर्ति सौगुनी की जा सकेगी।” कई प्रशासक यह समझ ही नहीं पाते कि इन्हीं “मूर्ख और अज्ञानी” वनवासियों ने अपनी सादगी भरी जीवन शैली के कारण वन संसाधनों को क्षति पहुंचाए बिना बस्तर का निर्मल स्वरूप सुरक्षित रखा था। (पृष्ठ ८३)

देश के लिए बिजली चाहिए और जरा जल्दी भी चाहिए। इसलिए अब कोयला खदानों के पास ही बड़े-बड़े ताप बिजलीघर लगाए जा रहे हैं। ऐसे बिजलीघरों के झुंड वायु प्रदूषण और जल प्रदूषण की नई समस्याएं खड़ी करेंगे। इनसे उड़ने वाली राख के कारण बहुत बड़े इलाके के घर, खेत और वन सचमुच खाक में मिल जायेंगे।

आधुनिक ढांचे पर “विकसित” क्षेत्र अब आधुनिकता के रोगों के शिकार भी बन चले हैं। बंबई में सात वर्ष चला एक अध्ययन बताता है कि स्वास्थ्य की ज्यादातर गड़बड़ियां शहर की दूषित हवा के कारण है। (पृष्ठ १०६)

मध्य बंबई का इलाका सल्फर डाइऑक्साइड, नाइट्रोजन ऑक्साइड और बैंजोपाइरीन गैसों से भरा रहता है।

श्री कामत और उनके साथियों ने १९७७ से लगभग ४००० रोगियों का परीक्षण किया है। श्री कामत का कहना है : “हमारे आंकड़े बताते हैं कि यहां स्वास्थ्य की जितनी भी गड़बड़ियां हैं। उन सबका स्पष्ट और मुख्य कारण वायु में फैले जहरीले तत्त्व ही हैं। स्वास्थ्य की खराबी के कारण लोग अपने कामों से ज्यादा गैर-हाजिर रहते हैं। गंदी हवा के कारण बंबई की आरोग्य सेवा पर बहुत बड़ा बोझ बढ़ता जा रहा है।” सल्फर डाइऑक्साइड और नाइट्रोजन डाइऑक्साइड की मात्रा लालबाग में सबसे ज्यादा है। इन्हीं की वजह से लोगों को अक्सर सर्दी, जुकाम, खांसी, सांस लेने में रुकावट और सांस की तकलीफ व कई तरह के हृदयरोग हो जाते हैं। अधिक प्रदूषण के शिकार शहरी इलाकों के लोगों के स्वास्थ्य में ज्यादा खराबी देखने में आती है, जैसे सांस लेने में कष्ट, हृदय और फेफड़े की बीमारियां, आंखें, नाक और चमड़ी की जलन आदि। कैंसर का कारण बैंजोपाइरीन की अधिक मात्रा भी हो सकती है, जो बंबई में कारों की बहुतायत के कारण है।

देश की कुल टैकिसयों का आधा और निजी वाहनों का पांचवां हिस्सा अकेले बंबई में है। अध्ययन दल ने कार और ट्रकों के कार्बन डाइऑक्साइड और हृदयरोग के आपसी संबंधों का बड़ी सावधानी के साथ परीक्षण किया है। इसके लिए लालबाग की भीड़ भरी सड़कों के किनारे बसे इलाकों को चुना था, क्योंकि एक तो यह मध्य क्षेत्र में है और दूसरा, उन दिनों कपड़ा मिलों की हड्डताल जारी थी, इसलिए वाहनों के ही प्रदूषण का अध्ययन करना संभव था।

डाक्टरों के इस दल का सुझाव है कि शहर की सड़कों पर यातायात ठीक से चलता रहना चाहिए, ट्रैफिक-जाम कम से कम हों। घने यातायात वाले हिस्सों में फ्लाइओवर बनें। बृहत्तर बंबई की प्रस्तावित योजना में २३ नए फ्लाइओवर बनाने की बात है ही। पर कुल मिलाकर ऐसे सुझाव आधुनिक शहर को और आधुनिक ही बनाएंगे। जाहिर है इससे आधुनिकता के रोग कम नहीं होंगे।

(पृष्ठ १११)

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के पर्यावरण विज्ञान विभाग के डॉ० सी. के. वार्ष्ण्य ने १९७८ में किए गए एक अध्ययन में कहा था कि देश में कोयले के जलने से निकलने वाली सल्फर डाइऑक्साइड की मात्रा में बढ़ोतरी हुई है। १९६४ के छह लाख से बढ़कर १९७६ में ११ लाख टन। (पृष्ठ ११३)

यह धरती पर आसमान से होनी वाली जीवनदायी जल वर्षा नहीं, जानलेवा बारिश है। सारे के सारे उद्योग तेल से चलने वाले वाहन और बिजलीघर लाखों टन नाइट्रोजन ऑक्साइड और सल्फर डाइऑक्साइड आसमान में उगलते हैं। वे नाइट्रिक और सल्फ्युरिक एसिड में बदल जाते हैं और बारिश के पानी के साथ नीचे चले जाते हैं। यूरोप और उत्तर अमेरिका के बड़े-बड़े वन प्रदेश और झील इस घातक बारिश के मारे खत्म हो चले हैं। स्वीडन में १५,००० झीलें तेजाबी हो गई हैं। नार्वे, कनाडा और अमेरिका में भी हजारों झीलों का यही हाल है। तेजाब से मछलियां सेवार और समुद्री पर्यावरण धीरे-धीरे प्राणविहीन होते हुए अंततः मृत सागर बन जाता है।

दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के पर्यावरण विशेषज्ञ श्री वार्ष्ण्य कहते हैं, "विकास के वर्तमान दौर में हम तेजाबी बारिश से भला कैसे बच सकते हैं?" कोयले का उत्पादन १९५० में ३.५ करोड़ टन से बढ़कर १९८० में १५ करोड़ टन हुआ। १९६६ में देश भर में १३.८ लाख टन सल्फर डाइऑक्साइड उगली गयी थी। यह १९७६ में बढ़कर ३२ लाख टन हुई यानी २७ प्रतिशत की बढ़ोतरी। यह इसी अवधि में अमेरिका में उगली गई मात्रा से लगभग दुगुनी है।

(पृष्ठ ११५)

जाति व्यवस्था में जन्म से ही हरेक का काम धंधा निश्चित हो जाता है। इसमें विभिन्न पारिस्थितिकी क्षेत्र और उसकी प्राकृतिक संपदा किसी विशिष्ट वर्ग द्वारा ही उपयोग में लाई जा सकती है। संपदा का ऐसा बंटवारा कर देने से प्रतिद्वंद्विता और संघर्ष घटाने और उचित सामाजिक वातावरण बनाने में मदद मिली। जिस वर्ग को जो पारिस्थितिकी क्षेत्र सौंप दिया गया, वह निश्चिंत होकर उसके इस्तेमाल के ऐसे तरीके विकसित कर सका, जिनमें न तो संपदा को कोई नुकसान पहुंचा, और न उस वर्ग विशेष को। उसे कभी यह डर नहीं रहा कि उसके संसाधन कोई उससे छीने लेगा। ऐसे वर्ग ने यह भी महसूस किया कि यदि वह अपने संसाधनों को नष्ट कर लेगा तो उसे दूसरे संसाधनों का इस्तेमाल करने नहीं दिया जाएगा। इसलिए वह बहुत संयम के साथ इस संपदा में अपनी जीविका भी चलाता रहा, समाज को भी उसकी जरूरत की चीजें देता रहा और उस संपदा का संवर्धन करता रहा ताकि उसकी अगली पीढ़ियां भी सम्मान के साथ जी सकें।

(पृष्ठ १३३)

शिवाजी महाराज ने १६६० में एक राजाज्ञा निकालकर अपनी नौसेना के जहाज तैयार करने के लिए आम और कटहल जैसे फलदायी वृक्ष काटने की मनाही कर दी थी क्योंकि आम और कटहल के पेड़ कटने से राज्य के किसानों को काफी परेशानी हो रही थी।

(पृष्ठ १३६)

महाप्रज्ञ उवाच

विकास के विषय में कोई दो मत नहीं हैं। मतभेद का विषय है—सीमा। आदिमकाल से लेकर अब तक विकास का चक्र चलता रहा। उसकी गति बहुत धीमी थी। बीसवीं शताब्दी में विकास की रफ्तार तेज हुई। इसका श्रेय विज्ञान को है। सृष्टि संतुलन (इकोलोजी) की समस्या का श्रेय भी विकास की आंधी को ही है।

विकास के प्रति वर्तमान दृष्टिकोण सम्यक् नहीं है। वह संवेग के अतिरेक से प्रभावित है।

संवेग के अतिरेक की दशा में चिन्तन और बुद्धि दोनों निष्क्रय हो जाते हैं।

आर्थिक विकास ने अमीरी को बढ़ावा देने के साथ-साथ गरीबों को भी बढ़ावा दिया है। वर्तमान में सम्पत्ति और उपभोग के साधनों पर अल्पसङ्ख्यक व्यक्तियों का अधिकार है। बहुसङ्ख्यक लोग उस अधिकार से वंचित हैं।

हर व्यक्ति येन केन प्रकारेण अमीर बनना चाहता है। उस धुन में जंगलों की कटाई हो सकती है। फैक्ट्रियों का कचरा नदियों में प्रवाहित कर जल को दूषित किया जा सकता है और भूमि का मर्यादाहीन खनन किया जा सकता है। अमीरी के लिए सब कुछ किया जा सकता है और सब कुछ हो रहा है। हम संवेगातिरेक की समस्या को सुलझाए बिना अनैतिकता अथवा अप्रामाणिकता की समस्या को नहीं सुलझा सकते। अनैतिकता की समस्या को सुलझाए बिना सृष्टि संतुलन (इकोलॉजीकल बैलेंस) और पर्यावरण (इनवार्नमेंट) की समस्या को नहीं सुलझा सकते।

आज का करणीय कार्य यह है कि हम लोभ के संवेग के साथ करुणा के संवेग को जागृत करें। लोभ के संवेग को नियंत्रित करने का शक्तिशाली अस्त्र करुणा, अहिंसा या मैत्री है।

जैसे-जैसे विकास की गति तेज हो रही है—वैसे-वैसे मनुष्य का संवेगात्मक असंतुलन बढ़ रहा है। आर्थिक अपराध से आज की चेतना जितनी ग्रस्त है, उतनी शायद पहले नहीं थी। आतङ्ककारी मनोदशा में भी वृद्धि हुई है। क्या औद्योगिक और आर्थिक विकास उनको रोक पायेगा? उनके निरोध का उपाय खोजे बिना मनुष्य प्रकृति के साथ नहीं जी सकता, मानसिक शान्ति और विश्वशान्ति का स्वर्ण नहीं ले सकता।

सत्य के अन्तर्दर्शन में जो अनुभूति होती है, वह बाह्य पदार्थों के अनुभव से होने वाले सुख से सर्वथा भिन्न है। अनुभूति के गहन स्तर पर जो सत्य का दर्शन होता है, उसका बुद्धि के स्तर पर अनुवाद नहीं किया जा सकता। अनुवाद करने पर प्रयत्न करेंगे तो वह विकृत और तिरोहित हो जाएगा।

ईगो असंयम है तो सुपर ईगो संयम है। अगर ईगो के साथ सुपर ईगो नहीं है तो हिंसा का होना अनिवार्य है।

यदि नाभिकीय युद्ध हुआ, अण्युद्ध हुआ तो विश्व स्थिति में भारी परिवर्तन आयेगा। सारी धरती और सारा आकाश धूल से भर जायेगा। कहीं तापमान कम हो जाएगा, कहीं तापमान बहुत अधिक बढ़ जायेगा। सारा जल और रस्तल भूभाग विषाक्त बन जायेगा। जीव जगत् बिलकुल नष्ट हो जायेगा। कहीं भयंकर सर्दी पड़ेगी, कहीं भयंकर गर्मी। सारे हिमखंड पिघल जायेंगे। समुद्र का जलस्तर दो-तीन मीटर ऊँचा चला जायेगा। समुद्र तट पर बसे नगर और बस्तियां डूब जायेंगी, उसके आसपास का स्थल/भूभाग जलमय बन जायेगा। एक प्रकार से हिमयुग आयेगा, केवल पानी ही पानी दिखाई देगा। यह नाभिकीय विस्फोट और अण्युद्ध से बनने वाली स्थिति है।

सारे संसार में वनों की अंधाधुंध कटाई हो रही है। उसके कारण कार्बन-डाइऑक्साइड की मात्रा २५ प्रतिशत बढ़ गई है। इतनी गैसें जलाई जा रही है कि जिसके कारण वातावरण कार्बन-डाइऑक्साइड से भर गया है। ओजोन की छतरी; जो एक सुरक्षा कवच है; टूटती चली जा रही है।

यह धन का लोभ, यह असंयम वनों को नष्ट कर रहा है। इसका परिणाम है ऑक्सीजन की कमी और कार्बन की अधिकता। (या कार्बन-डाई-ऑक्साइड की अधिकता)।

जो खनिज सम्पदा हजारों वर्षों तक काम आ सके, यदि वह सौ वर्षों में समाप्त हो जाए तो क्या स्थिति होगी? आने वाली पीढ़ी रोएगी। वह कहेगी—हमारे पूर्वजों ने हमारे साथ क्या किया, हमें बिलकुल दरिद्र और निकम्मा बना दिया।

मकान का नाम था अगार। पहला मकान लकड़ी से बना। अग-वृक्ष से बना, इसलिए मकान का नाम अगार हो गया। उस समय न ईटे थी न चूना। पूरा मकान लकड़ी से निर्मित हुआ।

मनुष्य ने कपड़ा बनाना शुरू किया । पहला कपड़ा रुई से बना । उसका प्रणयन भी वनस्पति जगत पर आधृत था ।

खाने की पूर्ति का स्रोत भी वनस्पति जगत् था । उसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य ने कृषि-खेती करना प्रारंभ किया ।

दो प्रकार की भूख मानी जाती है—प्राकृतिक भूख और कृत्रिम भूख । प्राकृतिक भूख सहज लगने वाली भूख है । भस्मक रोग को कृत्रिम भूख माना जाता है । जो व्यक्ति भस्मक रोग से ग्रस्त होता है, उसकी भूख दिन में सौ-सौ रोटियाँ खाने पर भी नहीं मिटती । उस कृत्रिम भूख—भस्मक व्याधि का कभी अंत नहीं आता । यह व्यक्ति एवं समाज के लिए समस्या बन जाती है ।

अर्थशास्त्र का सूत्र है—इच्छा को बढ़ाते चले जाओ । आज इस गलत सूत्र के परिणाम स्वरूप हिंसा बढ़ रही है, पर्यावरण का संतुलन विनष्ट हो रहा है । आवश्यकता की पूर्ति करना जरूरी है, इस बात को उचित माना जा सकता है । किंतु आवश्यकताओं को पैदा करना और उनकी पूर्ति करते चले जाना युक्तिसंगत नहीं है । आवश्यकता की उत्पत्ति और उसकी पूर्ति का एक चक्र है । उस चक्र का कहीं अन्त नहीं होता ।

हम जब तक इन्द्रिय जगत् में रहते हैं, तब तक हमारी धारणाएं चार्वक की धारणाएं बनी रहती हैं—हमे लेना देना नहीं है, मजे में रहना है, जो चाहे करें, उसी में जीवन का सार है । किंतु जब हम सूक्ष्म सत्यों को जानते हैं, हमारी धारणाएं बदल जाती हैं, हमारा दायरा बड़ा हो जाता है । व्यक्ति का जीवन बदल जाता है । वह सोचता है—इस दुनिया में दूसरे भी हैं, मैं अकेला ही नहीं हूँ, इसलिए मुझे संयम करना चाहिए ।

प्रत्येक व्यक्ति के पास इन्द्रियातीत चेतना है । हम उसे प्रातिभ ज्ञान कहें या प्रज्ञा कहें, वह प्रत्येक मनुष्य के पास है । जरूरत है—सूक्ष्म नियमों को जानने की, एकाग्र होने की और इन्द्रियों से कम काम लेने की ।

आज आदमी स्वयं में सुन्दर नहीं रहा । वह कपड़े सुन्दर पहनना चाहता है । पर स्वयं सुन्दर नहीं है । वह अपने आप में सजा हुआ नहीं है, पर अपने आपको सजाना चाहता है ।

क्रोध को कम करने के लिए ज्योति-केन्द्र पर ध्यान करवाया जाता है । नशा छुड़ाने के लिए अप्रमाद केन्द्र पर ध्यान करवाया जाता है । भयवृत्ति को कम करने के लिए आनन्द केन्द्र पर ध्यान करवाया जाता है । लोभ की वृत्ति को मिटाने के लिए किस केन्द्र पर ध्यान करवाना चाहिए ? मैंने कहा—इस विषय में मैं स्वयं उलझन में हूँ । अन्य वृत्तियों को बदलने के सूत्र तो हाथ लग गये हैं, पर लोभ की वृत्ति को बदलने का सूत्र अभी पकड़ में नहीं आया है ।

अहिंसा

अहिंसा परमो धर्मः

अहिंसा

समाज का आधार है उपयोगिता। परिवार में, पड़ोस में, समाज में और राष्ट्र में व्यक्ति एक दूसरे के लिए उपयोगी होता है, इसलिए परस्पर मिलकर रहता है। यह सशर्त मैत्री है। जब तक हमारे लिए कोई उपयोगी है, हम उसके मित्र हैं। जैसे ही वह हमारे लिए उपयोगी नहीं रहता, हम उसके प्रति तटस्थ हो जाते हैं। जैसे ही वह हमारे हितों के विरुद्ध होता है, हम उसके शत्रु हो जाते हैं। इस कोटि की मैत्री व्यावहारिक है, यह परमार्थतः अहिंसा नहीं है। वास्तविक अहिंसा का आधार है आत्माओं की समानता। सबको मेरी तरह स्वतंत्र रहकर सुख की खोज करने का अधिकार है—यह चेतना वास्तविक अहिंसा है। जो मेरे लिए उपयोगी है, उसे मैं नहीं मारूंगा—यह स्वार्थ है परमार्थ नहीं। स्वार्थ के प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं है। प्रशिक्षण परमार्थ का होता है।

हमारी आवश्यकता और अहिंसा

स्वार्थ का भी व्यवहार के लिए अपना मूल्य है ही। हमें आहार के लिए हिंसा भी करनी पड़ती है। “आहार के बिना जीवन नहीं है”—यह स्वार्थ की दृष्टि है। इसके रहते हम हिंसा से नहीं बच सकते। दूसरी ओर परमार्थ है। परमार्थ की दृष्टि से हमें किसी के भी जीवन को लेने का अधिकार नहीं है। यहां व्यवहार और परमार्थ में परस्पर टकराव है। समझौते का भार्ग यह होगा कि आवश्यक होने पर हिंसा करनी पड़ेगी। किंतु हम उस हिंसा को कर्तव्य नहीं मान सकते, उसे लाचारी ही मानना होगा। सहज निष्पत्ति यह होगी कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को कम से कम करता चला जाए, ताकि उसके द्वारा होने वाली हिंसा कम से कम होती जाए। यह अहिंसा का विकासक्रम है। इसके दोनों पक्ष हैं। परमार्थ में यह समझ रहनी चाहिए कि कितनी भी आवश्यक क्यों न हो हमारे द्वारा किए गए छोटे से छोटे प्राणी की भी हिंसा

किसी आत्मा की स्वतंत्रता का अपहरण है। व्यवहार में इसका फलित यह होना चाहिए कि प्रथम तो हम अपनी आवश्यकताओं को कम करें और दूसरे जिन आवश्यकताओं की पूर्ति करनी ही हो उनकी पूर्ति का ऐसा उपाय सोचें कि कम से कम प्राणियों को कम से कम कष्ट पहुंचे। आवश्यकताओं को कम करना हिंसा का निवृत्ति पक्ष है। आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऐसी सावधानी बरतना कि कम से कम प्राणियों को कम से कम कष्ट पहुंचे अहिंसा का प्रवृत्ति पक्ष है। जैन परिभाषा में प्रथम गुप्ति है द्वितीय समिति।

क्यों होती है हिंसा ?

प्रश्न होता है कि यह बात समझ लेने पर भी मनुष्य इसे अपना क्यों नहीं पाता? इसके अनेक कारण हैं। हमारे जीवन में अनेक प्रतिकूलताएं उपस्थित होती हैं। यदि कोई व्यक्ति हमारा विरोध करता है तो हम सहज ही उसे छोट पहुंचाना चाहते हैं। यदि हमारी कोई इच्छा पूरी नहीं होती है तो या तो हम आवेश में आ जाते हैं या निराश हो जाते हैं। दोनों ही स्थितियों में हम क्रोध से भर जाते हैं। वही क्रोध जब किसी को अपना लक्ष्य बनाता है तो हिंसा में बदल जाता है।

हिंसा का शमन ध्यान के द्वारा

आवेश हो या निराशा—दोनों स्थितियों में तनाव उत्पन्न होता है। तनाव के तीन माध्यम हैं—

१. शरीर अर्थात् मांसपेशियों में तनाव। इसका उपाय है—शिथिलीकरण।
२. मानसिक तनाव अर्थात् अन्तर्द्वन्द्व। इसका उपाय है—दीर्घश्वास प्रेक्षा।
३. भावनात्मक तनाव अर्थात् कषाय का उदय। इसका उपाय है—श्वास प्रेक्षा और आज्ञाचक्र अथवा ज्योतिकेन्द्र पर ध्यान। चैतन्य केन्द्रों अथवा चक्रों पर ध्यान करना रासायनिक संतुलन उत्पन्न करना है। दर्शन केन्द्र पर ध्यान से पिच्छूटरी का स्राव, ज्योति केन्द्र पर ध्यान से पिनियल का स्राव, विशुद्धि केन्द्र के ध्यान से थायरायड का स्राव और तैजस केन्द्र के ध्यान से एड्रीनल का स्राव संतुलित होता है।

नाड़ी तंत्रीय असंतुलन भी व्यक्ति को क्रूर बना देता है। उसका उपाय है—समवृत्ति श्वासप्रेक्षा। इससे पिंगला यानि अनुकंपी और इडा यानि परानुकंपी नाड़ी तंत्र में संतुलन उत्पन्न होता है। इस प्रकार ध्यान के विविध रूप हिंसा की जड़ पर प्रहार करते हैं।

आहार और अहिंसा

जैन परम्परा में आहार संयम पर बहुत बल है। हमारे शरीर की प्रथम

आवश्यकता आहार है। इसलिए आहार से हमारा बहुत मोह है। आहार संयम का अर्थ है—शरीर का मोह छोड़ना। आहार संयम का एक दूसरा प्रयोजन है—मन की निर्मलता। एक पुरानी कहावत है—जैसा अन्न, वैसा मन। जितने आविष्कार हिंसक उपायों से हुए हैं उनमें से अधिकांश का प्रयोजन मनुष्य के शरीर को सुख पहुंचाना है। हममें शरीर के सुख की इच्छा जितनी प्रबल होगी हमारे द्वारा उतनी ही अधिक हिंसा होगी। अन्न का मन से संबंध भी विज्ञान सम्मत है। विटामिन “ए” की कमी हो तो व्यक्ति चिड़चिड़ा हो जाता है। विटामिन “बी” की कमी हो तो व्यक्ति भयभीत रहता है। सिरोटोनिन या ड्रिप्टोफेन की कमी हो तो और भी अन्यमनस्क हो जाता है। दूसरी ओर नमक अधिक लिया जाए तो रक्तचाप बढ़ जाता है। अल्कोहल का प्रयोग तो प्रत्यक्ष में ही मानसिक असंतुलन पैदा कर देता है। परिणाम स्पष्ट है। हम जैसा बनना चाहते हैं, वैसा भोजन करें। उपवास का अपना महत्त्व है। जब भोजन नहीं किया जाता तो शरीर के विष बाहर निकलते हैं। वासनाएं शांत होती हैं।

श्रम और अहिंसा

शरीर को साधने का एक उपाय है—योगासन और शारीरिक श्रम। श्रम भी विष को बाहर निकालता है और साथ ही मानसिक तनाव को कम करता है। यह सब उपाय हिंसा की जड़ पर चोट करते हैं।

अनाग्रह और अहिंसा

हिंसा के पीछे एक कारण है पूर्वाग्रह। हमने कुछ सत्यों को स्वतः सिद्ध मान रखा है। यदि ये सत्य वस्तुतः स्वतः सिद्ध होते तो यह सत्य सबको एक जैसे ही प्रतीति में आते। किंतु ऐसा नहीं होता। ये सत्य स्वतः सिद्ध नहीं हैं अपितु हमारे संचित संस्कारों से उत्पन्न हुए हैं। जब तक हमारे संस्कार हैं, तब तक पूर्वाग्रह बने रहेंगे और जब तक पूर्वाग्रह हैं तब तक संघर्ष बना रहेगा। संस्कारों के परे जाने का अर्थ है विचार और विकल्प के परे जाना। विचार और विकल्प के परे जाना ही ध्यान है। कम्यूनिस्ट व्यवस्था में एक शब्द प्रचलित है—ब्रेन वाशिंग—जिसका अर्थ है मस्तिष्क का प्रक्षालन। किंतु वहां मस्तिष्क को रंगा जाता है, धोया नहीं जाता। मस्तिष्क का वास्तविक प्रक्षालन ध्यान द्वारा संभव है। हम निर्विकल्प अवस्था में तटरथ हो पाते हैं और तब देखते हैं कि सभी सत्य सापेक्ष हैं, निरपेक्ष तो केवल अस्तित्व है। ऐसे में साम्रादायिकता के आधार पर की जाने वाली हिंसा की नींव ही खिसक जाती है।

अभय और अहिंसा

हिंसा का एक दूसरा कारण है भय और भय का कारण है कि हम नहीं

चाहते कि कोई ऐसा पदार्थ जिसे हम चाहते हैं हम से छूट जाए। यही परिग्रह है। हमारा पदार्थों के प्रति संबंध शरीर के माध्यम से है। व्यक्तियों के साथ भी हमारा संबंध शरीर के माध्यम से है। शरीर न हो तो न पदार्थ चाहिए न परिवार। इसलिए पहली आवश्यकता है शरीर के प्रति मूर्च्छा तोड़ने की। गांधी जी का सत्याग्रह अभय पर टिका था। विदेशी सरकार पिटवाए या मरवाए हमें डरकर सत्य को नहीं छोड़ना है। इस एक सूत्र ने इतनी बड़ी क्रान्ति कर दी कि ब्रिटिश साम्राज्य जैसी शक्ति से भारत जैसे विशाल राष्ट्र को बिना शस्त्र प्रयोग के स्वतंत्रता मिल गई।

अहिंसा व्यवहार में सहायक है

अपने छोटे-छोटे दैनंदिन व्यवहार में अहिंसा का प्रयोग सरल है। शुरुआत वहां से की जानी चाहिए कि सामान्य व्यवहार में हम अपना मानसिक संतुलन न खोएं। यह सर्वथा संभव है। इससे सांसारिक व्यवहार में कोई बाधा नहीं आती, अपितु बहुत बड़ा लाभ होता है।

भेद में अभेद

समाज दो से अधिक व्यक्तियों का होता है। अनेकांत दो से अधिक धर्मों के अस्तित्व को मानता है। विरोधी साथ न रह सकें तो संघर्ष होगा। विरोधी साथ रह सकें तो सहयोग होगा। सहयोग के तीन सूत्र हैं—

१. हम एक दूसरे के प्रति आश्वस्त हों कि सब अपना कर्तव्य पूरा करेंगे।
२. हम एक दूसरे पर विश्वास करें कि कोई धोखा नहीं देगा।
३. हम एक दूसरे से भयभीत न हों कि कोई एक दूसरे को चोट पहुंचाएगा।

यह तभी हो सकता है जब हम भेद में छिपे अभेद को देख सकें। जाति, सम्प्रदाय और राष्ट्र भेद उत्पन्न करते हैं। मनुष्यता अभेद उत्पन्न करती है। उपयोगिता के लिए भेद करना जरूरी है। आकाश को बांटे बिना मकान नहीं बन सकता और मकान के बिना निवास नहीं बन सकता। यह उपयोगिता है किंतु आकाश वस्तुतः एक ही है यह वास्तविकता है। अभेद में दृष्टि रहे तो भेद सहयोग का कारण बन सकता है।

निर्धनता की समस्या

हिंसा की बहुत बड़ी जड़ पैसा है। हमारी इच्छाएं बहुत हैं, उसकी तुलना में पदार्थ बहुत कम हैं। इच्छा और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अर्थोपार्जन करना पड़ता है। यह अर्थोपार्जन जब अन्यायपूर्वक होता है, तो हिंसा को जन्म

देता है। शोषण को अनेक बार भाग्य से और भाग्य को कर्म से जोड़ दिया जाता है। कर्म किसी को गरीब नहीं बनाता। व्यक्ति के स्तर पर गरीबी का कारण है—अज्ञान और आलस्य। समाज के स्तर पर गरीबी का कारण है—दोष पूर्ण व्यवस्था। शिक्षा फैले और आलस्य छूटे—गरीबी को मिटाने का यह उपाय है। दूसरा पक्ष है दोषपूर्ण व्यवस्था का। पूँजीवादी व्यवस्था में विषमता रहती है। साम्यवादी व्यवस्था में स्वतंत्रता नहीं रहती। एक मार्ग है—ब्रतों की व्यवस्था को हम स्वेच्छा से ऐसी व्यवस्था बनायें कि अति संग्रह की प्रवृत्ति को बढ़ावा नहीं मिले। युद्ध अनेक बार राष्ट्रीय स्तर पर वस्तुतः लोभ का ही परिणाम होता है।

अहिंसा और सामर्थ्य

अन्याय का प्रतिकार वही कर सकता है जो समर्थ है। समर्थ का अर्थ है—सह सकने में सशक्त। जो अपने संवेगों पर ही नियंत्रण न रख सके, वह दूसरों के संवेगों का क्या परिष्कार कर सकेगा। इस सामर्थ्य का परीक्षण समूह में होता है।

राग-द्वेष को पहचानें

हिंसा विक्षिप्त मानसिकता से उत्पन्न होती है। जब सब शराब पी रहे होते हैं तो कोई किसी की ओर अंगुली इसलिए नहीं उठाता कि सभी नशे में हैं। किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि नशे वाला व्यक्ति होश में है। राग-द्वेष से ग्रस्त लोग यह नहीं समझ पाते कि उनकी दृष्टि कलुषित है—क्योंकि वे सभी राग-द्वेष से ग्रस्त हैं। किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे लोग स्वस्थ हैं। जैसे शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ व्यक्ति सदी-गर्भी को आराम से झेल लेता है, वैसे ही मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति प्रतिकूल परिस्थिति को सहज ही झेल लेता है। सर्दी-गर्भी को सहन करने के लिए मुख्य उपाय अपनी क्षमता को बढ़ाना है। वातानुकूलन का उपयोग उतना ही ठीक माना जा सकता है, जितना व्यक्ति की आंतरिक क्षमता को क्षति न पहुंचाये। यह समझ में आ जाने पर अपरिग्रह स्वयं ही फलित होता है।

प्रदर्शन निरर्थक है

मानसिक विक्षेप का एक लक्षण है—प्रदर्शन का भाव। हम जो कुछ भी करें, वह अपने संतोष के लिए करें दूसरों को दिखाने के लिए नहीं। जो धर्म का आचरण आत्मसंतोष के लिए करता है, उसे यह चिंता नहीं करनी पड़ती कि दूसरे उसकी प्रशंसा करते हैं या नहीं। अहिंसा के लिए जीवन में ये छोटी-छोटी बातें कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

न भोग, न दमन

हमारे चित्त में अच्छे संस्कार भी हैं और दूषित संस्कार भी हैं। आज दमन को बुरा माना जा रहा है, किंतु भोगने से बुरे संस्कार समाप्त हो जायेंगे, इसका कोई प्रमाण नहीं है। दूसरी ओर संस्कार को दबाना भी ठीक नहीं है। अतः संयम से काम लेना होगा और इच्छा का परिष्कार करना होगा। हम बुरे से टकरायें नहीं, अच्छे में आनंद की खोज करें, तो बुरे का आकर्षण स्वयं ही समाप्त हो जायेगा।

एक शब्द है प्रत्याख्यान। प्रत्याख्यान का अर्थ छोड़ना नहीं बल्कि अस्वीकार है। अपनी मनोवृत्ति को ऐसा बनाएं कि वह बुरे को स्वीकार ही न करे।

हिंसा दुःख है

हम समझते हैं कि दुःख इसलिए है कि हमारी इच्छाएं पूरी नहीं हो पा रहीं। वस्तुस्थिति यह है कि दुःख इसलिए है कि हमारा मन चंचल है। वेदान्त में सत्य को न देख पाने के दो कारण बताए हैं—आवरण और विक्षेप। हमें सत्य का पता न लगे, यह आवरण का कार्य है। यह एक पक्ष है। किंतु हमें सत्य का पता लग जाये फिर भी हम सत्य पर स्थिर न रहने पायें, यह चित्त की चंचलता के कारण होता है। यह विक्षेप है। अधिकतर ऐसा नहीं होता कि हम सत्य को नहीं जानते। होता यह है कि हम सत्य को जानते हैं किंतु सत्य पर टिक नहीं पाते। यहीं चंचलता है। यहीं चंचलता अनैतिकता का बीज है। चंचलता से दुःख होता है और दुःख से अनैतिकता, चंचलता न हो तो दुःख भी न हो और दुःख न हो तो अनैतिकता की आवश्यकता ही न पड़े।

भोग से सुख नहीं होता अपितु प्राण तत्त्व का हास होता है। कषाय भी प्राण तत्त्व को निर्बल बनाती है। यदि यह बात समझ में आ जाये तो यह भी समझ में आ जाएगा कि हिंसा अपने लिए ही दुःखदायी है।

एक उदाहरण लें। मनुष्य इसलिए दुःखी है कि उसे कोई नहीं पूछता। यदि वह यह समझ ले कि वह है ही अकेला तो उसे यह दुःख नहीं होगा। मनुष्य इसलिए दुःखी होता है कि उसकी कोई सहायता नहीं करता। यदि वह यह मान ले कि उसकी कोई शरण नहीं है, वह स्वयं ही अपनी शरण है तो उसे इस बात का दुःख नहीं होगा कि उसकी कोई सहायता नहीं कर रहा। व्यवहार में हम अकेले नहीं हैं किंतु परमार्थ में हम अकेले हैं। व्यवहार में हमारा परिवार है, धन है किंतु परमार्थ में हमारा कुछ भी नहीं है। व्यवहार में भी जो हमारा है वह सदा नहीं रहता। हमारे सबसे अधिक साथ हमारा शरीर रहता है किंतु

अन्त में वह भी छूट जाता है। संसार में कुछ भी स्थायी नहीं है। यह सब सनातन सत्य है। किंतु व्यवहार में हम इसे भूले रहते हैं। पर हमारे भूल जाने से सत्य समाप्त नहीं हो जाता। सत्य की विस्मृति मूर्च्छा बनती है। मूर्च्छा प्रमाद है और प्रमाद हिंसा।

अहिंसा और अपरिग्रह की युति

महात्मा गांधी के पूर्व तक अहिंसा का स्वरूप मुख्यतः आध्यात्मिक था। अध्यात्म का लक्ष्य है मोक्ष। मोक्ष एक व्यक्तिगत लक्ष्य है जिसकी प्राप्ति के साधन मुख्यतः तीन भागों में बंटे हैं—ज्ञानप्रधान, भक्तिप्रधान और आचारप्रधान। जैन और बौद्ध परम्पराएं आचार प्रधान हैं अतः इन दोनों परम्पराओं ने अहिंसा को मुख्य स्थान दिया। आचार्य महाप्रज्ञ ने “अहिंसा परमो धर्मः” के स्थान पर एक दूसरी घोषणा की “अपरिग्रहो परमो धर्मः।” जैसे आइंस्टीन ने विज्ञान के क्षेत्र में यह प्रतिपादित किया कि देश और काल को अलग-अलग करके नहीं देखा जा सकता अपितु देश और काल की एक युति है उसी प्रकार आधुनिक युग में पर्यावरण की समस्या ने यह स्पष्ट कर दिया कि अपरिग्रह और अहिंसा की अवधारणाओं को अलग-अलग करके नहीं देखा जा सकता अपितु इन दोनों की एक युति है। जब मैं अपने घर में लकड़ी के भारी भरकम फर्नीचर की जगह जमीन में दरी बिछाकर बैठना ही स्वीकार कर लेता हूं तो मैं अपने परिग्रह को भी सीमित करता हूं। बात इतनी सी ही नहीं है अपितु कहीं अधिक गंभीर है। जब कोई व्यक्ति हिंसा करता है तो उसके मूल में कहीं लोभ या परिग्रह का भाव रहता है और जब कोई व्यक्ति परिग्रह का संचय करता है तो उसे स्थूल या सूक्ष्म रूप में हिंसा करनी ही पड़ती है। महावीर ने हिंसा को प्रमाद से और परिग्रह को मूर्च्छा से जोड़कर इन दोनों के पारस्परिक संबंध को उजागर कर दिया है, क्योंकि मूर्च्छा और प्रमाद एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अहिंसा और अपरिग्रह की युति को महावीर ने आध्यात्मिक स्तर पर पहचाना, जिस युति का समर्थन पर्यावरणविदों ने व्यावहारिक धरातल पर कर दिया। जैन-बौद्ध परम्परा और महात्मा गांधी के कारण अहिंसा का महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक उजागर हुआ। आचार्य महाप्रज्ञ की पैनी दृष्टि ने यह पहचाना कि परिग्रही व्यक्ति अथवा समाज अहिंसक हो ही नहीं सकता। अहिंसा को घटित करना हो तो अपरिग्रह को अपनाना ही होगा। मार्कर्सवादियों को आपत्ति थी कि धनिक वर्ग यथारितिवाद को बनाये रखना चाहता है, और इस बात से डरता है कि कोई खूनी क्रांति उनके धन-वैभव को छीनकर गरीबों में न बांट दे। इसलिए वह अहिंसा की रट लगाये रहता है। आचार्य महाप्रज्ञ ने परिग्रह पर चोट करके यह स्पष्ट कर दिया कि अहिंसा आर्थिक शोषण और विषमता का

साधन नहीं बन सकती अपितु वह तो धन के सम-वितरण का ही उपाय बनती है।

आचार्य महाप्रज्ञ ने अहिंसा के अछूते पहलुओं के साथ-साथ महावीर के अर्थशास्त्र पर भी अपनी लेखनी चलाई। “महावीर के अर्थशास्त्र में उन्होंने १५१ पृष्ठों में अपरिग्रह के विभिन्न पहलुओं को तो छूआ ही किंतु सौ से अधिक पृष्ठों के परिशिष्ट में वे अनेक तथ्य भी उद्घृत किये जो परिग्रह और हिंसा के कारण उत्पन्न हुए संकट को रेखांकित करते हैं।

इस संकट का समाधान दो दृष्टियों से ढूँढना होगा—आर्थिक दृष्टि और पर्यावरण की दृष्टि। प्रथम पर्यावरण की दृष्टि से विचार करें।

पर्यावरण और अहिंसा

प्रदूषण के जो खतरे हैं, वे सर्वनाश की ओर ले जाने वाले हैं। इस तथ्य को अभी समझ नहीं पा रहे हैं। दूसरे पर्यावरण की रक्षा के लिए केवल इतना समझना पर्याप्त नहीं है कि प्रकृति हमारे लिए उपयोगी है। समझना यह है कि हम प्रकृति के एक अवयव हैं। अवयवी के नष्ट होने पर अवयव स्वयं ही नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार हममें जीवन है, प्रकृति के कण-कण में जीवन है। मनुष्य इस सर्वव्यापी जीवन की उपेक्षा करके अपने जीवन को नहीं बचा सकता। यदि उसे अपना जीवन बचाना है तो जीवन के हर रूप को पशु-पक्षी, पेड़-पौधे यहां तक कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तक को सम्मान देना होगा। यह पृथ्वी ग्रह केवल हमारे लिए नहीं बना है। यह जीवन के हर रूप का घर है। पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु हममें से किसी की सम्पत्ति नहीं है। हमने इन्हें उत्पन्न नहीं किया है। हमें उन्हें नष्ट या दूषित करने का अधिकार भी नहीं है। एक सीमा तक अपने प्रयोग के लिए इनके उपयोग द्वारा हम इन्हें जितना दूषित करते हैं उतना प्रदूषण दूर करने की व्यवस्था तो प्रकृति में है किंतु जब हम उस सीमा का अतिक्रमण करते हैं तो संकट उत्पन्न हो जाता है।

एक समय था कि पूरे संसार में दासप्रथा थी। पैसा देकर स्त्री-पुरुष को खरीद लिया जाता था। ऐसे स्त्री-पुरुष पर स्वामी का पूर्ण अधिकार था कि वह उनसे मनमाना व्यवहार कर सकता। सैकड़ों साल के संघर्ष के बाद दास प्रथा समाप्त हुई लेकिन अभी भी हम पशुओं को अपना दास और प्रकृति को अपनी दासी मानते हैं। जिस जल का पैसा हमने चुका दिया उस जल के साथ हम मनमाना व्यवहार करने के लिए स्वयं को स्वतंत्र समझते हैं। मूक पशु और मूक वृक्ष भी खरीदे और बेचे जाते हैं। उन्हें कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। वे किसी न्यायालय की शरण में नहीं जा सकते किंतु यदि हम उनके साथ दुर्व्यवहार करते हैं तो प्रकृति हमें क्षमा नहीं करती। जीवन का अस्तित्व प्राकृतिक तत्त्वों

के संतुलन पर टिका है। जिस वातावरण से पृथ्वी घिरी है उस वातावरण में प्रत्येक तत्त्व एक अनुपात में है। इस अनुपात को बनाये रखने में जीवन के हर रूप का योगदान है। वातावरण में २१ प्रतिशत ऑक्सीजन है, समुद्र में ३.४ प्रतिशत नमक है, पृथ्वी के अधिकांश क्षेत्र पर ६० प्रतिशत से १०० प्रतिशत फॉर्सेनेहाइट के बीच तापमान है। यदि इस अनुपात में एक सीमा से अधिक अन्तर पड़ जाये तो जीवन सर्वथा समाप्त हो जायेगा। जैसा कि राजदूत अदताई-ई-स्टीवेन्सन ने कहा है “यह पृथ्वी एक जहाज की तरह है जिसमें हम सब यात्री की तरह सवार हैं, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इस जहाज के रक्षक हैं। हम इनकी रक्षा करेंगे तभी जहाज सुरक्षित रह सकता है।”

यदि हम एकान्त में किसी ऐसी जगह पर धूमने चले जायें, जहां मनुष्य ने प्रकृति के साथ छेड़छाड़ न की हो तो झरनों से फूटता पानी, झूमकर आती नदियां, सांय-सांय करके बहती हवा, पेड़ों पर लिपटती लतायें, पक्षियों का चहचहाना और पशुओं की कूदफाँद हमें यह अनुभव करवा सकती है कि अपने सहज रूप में प्रकृति जीवन के लिए कितनी अनुकूल है। किंतु जब मनुष्य इस प्रकृति से छेड़छाड़ करता है तो चौंकाने वाले दुष्परिणाम सामने आते हैं। पृथ्वी पर २३,०००,०००० (तेईस करोड़) टन मिट्टी प्रतिवर्ष बंजर हो जाती है, प्रति मिनट ६५ एकड़ जंगल काटे जा रहे हैं, प्रतिदिन ५ से १० प्रजातियां सदा के लिए लुप्त हो रही हैं। अकेले ब्रिटेन की चिमनियों से प्रतिवर्ष ४,०००,०००० टन सल्फरडाईऑक्साइड उगला जा रहा है। वाहनों से निकलने वाला कार्बनडाईऑक्साइड पृथ्वी के तापमान को निरन्तर बढ़ा रहा है जिससे ध्रुवों पर बर्फ के पिघलने का डर बन रहा है। प्रतिवर्ष वायु में मिलों से १५० मिलियन (१५०,०००,०००) टन प्रदूषण वायु में फेंका जा रहा है। ऊर्जा का प्रश्न भी विकट है। ऊर्जा पृथ्वी पर सर्वव्यापी है। उसका सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी। वैज्ञानिक उपकरणों में सर्वत्र ऊर्जा आवश्यक है। कोयला ऊर्जा का एक स्रोत है। जल दूसरा स्रोत है। पेट्रोल तीसरा स्रोत है। ये सब सीमित हैं। आणविक शक्ति भी ऊर्जा देती है किंतु १६८० के बाद से आणविक शक्ति के प्रयोग के खतरे भी हमारे सामने आने लगे हैं। रेडियो एक्टिव कूड़ा हजारों वर्षों तक खतरा बना रहता है। जल से ऊर्जा उत्पन्न करने के लिए जो बांध बनाये जाते हैं, वह भी प्रकृति के संतुलन के लिए खतरा ही बनते हैं।

जब आर्थिक विकास के किसी भी कार्य में प्रकृति का उपयोग होगा तो सूक्ष्म स्तर पर हिंसा भी अपरिहार्य है। इसलिए न सर्वथा हिंसा से बचा जा सकता है और न सर्वथा विकास को रोका जा सकता है। प्रश्न वस्तुतः दूसरा है। कोई भी विकास करने के लिए जो कच्चा माल चाहिए वह प्रकृति से

उपलब्ध होता है और सीमित है। उदाहरणतः ऊर्जा के लिए जिस कोयले या पेट्रोल का उपयोग हम करते हैं, वह हमारे पास सीमित है। जिस भूमि पर हमारे भोजन के लिए अन्न उत्पन्न होता है वह भूमि भी सीमित है। ऐसी स्थिति में क्या असीम इच्छाओं की पूर्ति के लिए असीम उपभोग का लक्ष्य रखना आर्थिक दृष्टि से बुद्धिमत्तापूर्ण माना जा सकता है? इच्छा और भोग की सीमा बांधना अपरिग्रह का तात्पर्य है। ऊपर जो चर्चा हमने पर्यावरण के प्रदूषण की की है वह प्रदूषण मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति के लिए नहीं अपितु लोभवृत्ति को शांत करने के लिए है। हमारे सामने पर्यावरण समस्या और विकास की समस्या का द्वन्द्व निरन्तर बना हुआ है। यदि हम पर्यावरण की उपेक्षा करके विकास करते हैं तो वह विकास आत्मघाती सिद्ध होगा। क्योंकि एक दिन वे सब प्राकृतिक संसाधन ही चुक जायेंगे जिन संसाधनों पर समस्त विकास अवलम्बित है। दूसरी ओर यदि हम विकास की सर्वथा उपेक्षा कर देते हैं तो हमें आदिमकालीन मनुष्य की जंगली स्थिति में जाना पड़ जायेगा। दोनों संकटों से बचने के लिए इच्छा का परिसीमन करना होगा। अपरिग्रह पर महावीर से लेकर गांधी तक पर्याप्त विचार हुआ है और शूमेखर जैसे अर्थशास्त्रियों ने विशुद्ध अर्थशास्त्र की दृष्टि से गांधी की अहिंसक और अपरिग्रही जीवन शैली का समर्थन किया है।

क्रूरता का दृश्य

आवश्यकता की पूर्ति के लिए अपरिहार्य हिंसा हिंसा का एक पक्ष है किंतु हिंसा का एक दूसरा रूप भी है—क्रूरता। हम मनुष्यों के प्रति भी क्रूर होते हैं, किंतु क्रूरता का सबसे भयानक रूप पशुओं के प्रति हमारे व्यवहार में अभिव्यक्त होता है। जब हम मनुष्य के प्रति क्रूर होते हैं तो मनुष्य न्याय व्यवस्था की शरण ले सकता है—अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिकार भी कर सकता है किंतु पशु-पक्षी के पास अन्याय का प्रतिकार करने का कोई साधन नहीं है।

मृत्यु से बड़ी पीड़ा नहीं है और मांस प्राप्त करने के लिए पशुओं की जो हत्या की जाती है उसकी संख्या बहुत बड़ी है। इंगलैण्ड में १६८७ में ४,०००,००० पशु ६०,००० बछड़े १३,५००,००० भेड़े और १५,०००,००० सूअर मारे गये। अमेरिका में ४५,०००,००० पशु प्रतिवर्ष मांस के लिए मारे जाते हैं। एक औसत अमरीकन अपने सत्तर साल के जीवन काल में जितना मांस खाता है, उसके लिए ग्यारह पशु, एक बछड़ा, तीन भेड़े, २३ सूअर, ४५ बतखों ११०० मुर्गियां और ३६२ कि.ग्रा. मछलियां मारी जाती हैं।

मृत्यु बड़ी पीड़ा है किंतु पशुओं को इससे भी बड़ी पीड़ा भोगनी पड़ती है। चिकित्सा के नाम पर पशुओं पर जो प्रयोग किए जाते हैं उनमें एकदम मारा नहीं जाता है प्रत्युत तड़पा-तड़पाकर मारा जाता है। उन्हें बिना बेहोश किए उनके शरीर को चीरा फाड़ा जाता है, अंग भंग किया जाता है और तरह-तरह की वेदना दी जाती है। अकेले अमेरिका में प्रतिवर्ष ४५,०००,००० रोडन्ट्स, ७०,०००० खरगोश, २,००,००० बिल्लियाँ, ५,००,००० कुत्ते, ४६,००० सूअर, २५,००० भेड़ें, १७,२५,००० पक्षी, २०,०००,००० मैंढ़क १६०,००० कछुए, ६१०० सर्प और ५१००० छिपकलियां तड़पा-तड़पा कर मारी जाती हैं।

ये प्रयोग केवल मनुष्यों के लिए ही नहीं, वनस्पतियों पर छिड़के जाने वाली कीटाणुनाशकों के आविष्कार के लिए भी किये जा रहे हैं।

अमेरिका और इंगलैण्ड में १५,०००,००० शिकारी हैं। शिकार अथवा मनोरंजन के लिए केवल अमेरिका में १७५,०००,००० पशु मारे जाते हैं। पशुओं को फंसाने के लिए जो उपकरण प्रयोग में लाए जाते हैं वे इतने वेदना जनक हैं कि उन उपकरणों से छुटकारा पाने के लिए पशु अपने ही दांतों से उपकरण में फंसे हुए अपने ही पंजों को काट डालता है। ऐसे पशुओं में अधिकतर वे मादा पशु होते हैं जिन्हें अपने बच्चों के लिए इसलिए मर जाने की आशंका होती है कि वे उन्हें दूध नहीं पिला पाएंगे। फर के लिए मारे जाने वाले पशुओं की संख्या भी कम नहीं है। चमड़ा मुलायम बनाने के लिए जिंदा बछड़ों को पहले बिजली के हंटर से तब तक मारा जाता है जब तक कि खून न छलक आये। क्रूरता का ऐसा दृश्य यदि सामान्य मनुष्य अपनी आंख से देख ले तो वह कदापि ऐसे चमड़े के बने हुए जूते पहनना स्वीकार नहीं करेगा। विज्ञान के नये-नये आविष्कारों के साथ ऐसी क्रूरता दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। महावीर ने तो पशु पर सीमा से अधिक भार लादना भी निषिद्ध माना था। पर आज जो क्रूरता पशु के साथ हो रही है उसके मुकाबले में अधिक भारारोपण नगण्य ही माना जायेगा।

अहिंसा का मूल भाव है कि प्राणी मात्र स्वतंत्रतापूर्वक जीवनयापन कर सके। अहिंसा का क्षेत्र इतना व्यापक है कि छोटे से छोटे प्राणी के प्रति भी करुणा का भाव उसमें समाविष्ट है। जैसा कि पर्यावरण के प्रकरण में कहा जा चुका है कि प्रकृति का संतुलन बनाये रखने में प्रत्येक प्राणी का योगदान है। अतः हम किसी भी प्राणी को अनावश्यक नहीं मान सकते हैं। किंतु अहिंसा का संबंध सर्वप्रथम तो मानव का मानव के प्रति व्यवहार से ही है। यह व्यवहार मुख्यतः चार प्रकार की हिंसाओं से युक्त है।

१. व्यक्तिगत स्तर पर मारना पीटना, व्यभिचार, गर्भपात आदि साक्षात् शारीरिक हिंसा के अन्तर्गत आते हैं।
२. युद्ध में सामूहिक रूप से हिंसा होती है।
३. मानसिक अथवा वाचिक क्रिया के द्वारा किसी को चोट पहुंचाना भी हिंसा है।
४. जातीय अथवा साम्राज्यिक स्तर पर भेदभाव करना सामूहिक रूप से वैचारिक हिंसा का उदाहरण है।

चारों ही प्रकार की हिंसाओं के समाचार अखबारों में प्रतिदिन पढ़ने को मिलते हैं। इतिहास युद्धों के वर्णन से भरा हुआ है।

शस्त्रीकरण के आंकड़े

संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुसार १६०० से १६८८ के बीच ८०००,०००,०००,००० (आठ नील) डालर शस्त्रों पर व्यय हुए। अर्थात् संसार के प्रति व्यक्ति २५६० डालर खर्च हुए जो कि भारतीय व्यक्ति की जीवनभर की औसत आय है। इंग्लैण्ड में जितना व्यय लोगों के आवास पर होता है उससे पांच गुणा शस्त्रों पर होता है। १६८८ में विकासशील देशों के ४,०००,०००,००० (चार अरब) मनुष्यों के लिए शिक्षा और स्वास्थ्य पर जितना व्यय होता था, अकेला तत्कालीन सोवियत संघ शस्त्रों पर कहीं उससे अधिक व्यय करता था। इंग्लैण्ड में अनुसंधान और विकास पर जितना खर्च होता है उसका ५० प्रतिशत केवल सेना पर खर्च होता है। अमेरिका में सेना पर ३००,०००,०००,००० डालर प्रतिवर्ष खर्च होता है और शिक्षा पर होने वाले खर्च के आंकड़े देखते हैं तो वे दाल में नमक के बराबर भी नहीं हैं। इसका यह अर्थ होता है कि अब भी हम इस विसंगति में जी रहे हैं कि हमारे परिश्रम का अधिकांश फल शस्त्र जैसे विनाशकारी साधनों को मिलता है न कि रचनात्मक कार्यों को।

सेना और शस्त्र देश की रक्षा के लिए आवश्यक समझे जाते हैं और आवश्यक हैं भी। किंतु यदि मनुष्य इस तर्क को समझ सके कि जिस लाभ के लिए वह किसी पर आक्रमण करता है, वहीं राष्ट्र यदि युद्ध में होने वाले व्यय को रचनात्मक कार्यों में लगा दे तो उससे कई गुणा लाभ उसे हो सकता है। यदि आक्रमण समाप्त हो जाए तो सुरक्षा की व्यवस्था करना भी अनावश्यक हो जाए। यह विशुद्ध गणितीय तर्क है। यदि मानव जाति इसे नहीं समझ पा रही है तो यह उसका निपट अज्ञान है। और अज्ञान पर पलने वाली युद्ध संस्थाओं को शूरवीरता का गौरव प्रदान करना दोहरी भूर्खता का सूचक है।

यह बारंबार कहा गया है कि युद्ध का जन्म मनुष्य के मन में होता है। राग और द्वेष का बीज ही युद्ध का वटवृक्ष बनता है। जैनाचार्यों ने राग के

उत्पन्न होने को ही हिंसा कहा है। अध्यात्म की सारी प्रक्रिया रागद्वेष को छिन्न करने की प्रक्रिया है। आणविक शस्त्रों के निर्माण से पहले और आमने सामने के धर्मयुद्ध में अन्याय के विरुद्ध लड़ने का शस्त्र भी कदाचित् साधन हो सकता था, किंतु आणविक शस्त्र का उपयोग अन्याय का साधन तो अनिवार्य रूप से है, अन्याय को मिटाने का साधन किसी भी रूप में नहीं है। बदली परिस्थिति में युद्ध को किसी भी दृष्टि से धर्म घोषित नहीं किया जा सकता।

युद्ध का सामना मनुष्य को जीवन में कभी-कभी करना पड़ता है किंतु युद्ध में होने वाले व्यय का दुष्परिणाम हर मनुष्य को हर दिन इस रूप में भोगना पड़ता है कि क्योंकि पैसा सैनिक कार्यों पर खर्च हो जाता है इसलिए उसके बच्चे के लिए दवाई और शिक्षा उपलब्ध नहीं हो पाती। निश्चय ही तथ्य और आंकड़ों के आधार पर युद्ध की मानसिकता के विरुद्ध एक सार्वभौम बौद्धिक आन्दोलन आज हमारी प्रथम आवश्यकता है।

युद्ध में नरसंहार होता है लेकिन पारस्परिक व्यवहार में मन, वचन और कर्म की हिंसा तो मनुष्य के लिए इसी जन्म में नरक उत्पन्न कर देती है। प्राचीन आचार्यों ने एक सीधी सी बात से यह समझाया कि हिंसा से हम दूसरों का उपकार तो भले कर सकें या न कर सकें किंतु अपना अहित तो उसी प्रकार कर लेते हैं, जिस प्रकार अग्नि में लाल हुई छड़ को नंगे हाथों से पकड़कर किसी को मारने के लिए दौड़ने पर दूसरे को मार सकें या न मार सकें पर अपना हाथ तो जला ही लेते हैं।

हिंसा एक प्रकार का रोग है, मानसिक असंतुलन का सूचक है। वह वीरता का कार्य नहीं है। अहिंसा कायरता नहीं, एक शक्ति है। अहिंसा एक शक्ति ही नहीं, दूसरे को स्थायी रूप से बदलने का साधन भी है।

अहिंसा : कुछ मिथ्या धारणायें

सम्यता के जन्म के साथ ही मनुष्य जाति ने अहिंसा की बात भी इसलिए सोची कि अहिंसा के बिना किसी समाज का अस्तित्व संभव नहीं था। तब से लेकर आज तक अहिंसा के संबंध में इतना अधिक विचार विनिमय हुआ कि उसके संबंध में अनेक प्रकार की धारणायें बन गईं। उनमें से कुछ मिथ्या धारणायें इस प्रकार हैं:—

१. प्रत्येक कर्म में हिंसा अन्तर्निहित रहती है। इसीलिए हिंसा के छोड़ने का अर्थ है—कर्म को छोड़ना।
२. सभी फल कर्मजन्य हैं। यदि कर्म छूटेंगे तो फल भी नहीं मिलेंगे, अतः हिंसा का अर्थ है—गरीबी का जीवन।

३. यदि कोई व्यक्ति दुष्ट है तो उसके प्रति करुणा का भाव दुष्टता को बढ़ावा देना है।
 ४. यदि कोई हमारा अधिकार छीनता हो तो अपने अधिकार की रक्षा के लिए लड़ना ही धर्म है।
 ५. राष्ट्र रक्षा जैसे कर्तव्य पालन के लिए शस्त्र उठाना पुण्य का कार्य है।
 ६. शोषण का प्रतिकार हिंसा से ही संभव है।
 ७. जीवन सर्वत्र व्याप्त है। बिना हिंसा के एक क्षण भी नहीं जी सकता तो अहिंसा का आग्रह क्यों करें?
 ८. मनुष्य भोक्ता है, वनस्पति और पशु उसके भोग्य हैं।
 ९. जो प्रतिष्ठित एवं संपन्न हैं, वे अहिंसा का उपदेश यथास्थितिवाद को बनाये रखने के लिए देते हैं, क्योंकि इनका स्वार्थ यथास्थिति में ही निहित है।
 १०. जीव जीव का भोजन है, यह प्रकृति का नियम है, फिर अहिंसा कैसे संभव है?
- उपर्युक्त धारणाओं पर क्रमशः विचार करना आवश्यक है।
१. अहिंसा शब्द हिंसा के अभाव को बताता है, कर्म के अभाव को नहीं। हिंसा का अर्थ राग-द्वेष पूर्ण कर्म है। समस्त पुरुषार्थ और कौशल का लक्ष्य यह है कि कर्म हो, किंतु राग-द्वेष न हो। यदि कर्म छोड़ने मात्र से अहिंसा होती तो मनुष्य की अपेक्षा वनस्पति और वनस्पति की अपेक्षा भी पाषाण को अधिक अहिंसक माना जाता। किंतु कोई भी परम्परा यह स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। निवृत्ति मार्ग के बड़े से बड़े समर्थकों ने अद्भुत कर्मठता का जीवन जीया है, चाहे वह महावीर हो, चाहे बुद्ध, चाहे शंकराचार्य। ये तीनों ही निवृत्ति पर बल देते हैं, किंतु इन तीनों ने मानव जाति को जो दिया वह उनकी कर्मठता में से प्रादुर्भूत हुआ। इन तीनों ने एक दीर्घस्थायी धर्मसंघ की स्थापना अपने जीवन में की, और उस धर्मसंघ का, जिसमें साधु और गृहस्थ दोनों हैं, रूप में नेतृत्व भी किया। इन तीनों ने गहन गंभीर चिंतन को जो अभिव्यक्ति दी, समय के प्रवाह में उसका बहुत बड़ा भाग लुप्त हो जाने के बावजूद वह हमें विपुल साहित्य के रूप में उपलब्ध है। यह सब कर्मठता के बिना संभव नहीं था।

निवृत्तिमार्गियों को छोड़ दें, तो प्रवृत्तिमार्गी श्रीकृष्ण या गांधी ने बिना शस्त्र के अन्याय के प्रतिकार के लिए पूरे जीवन संघर्ष किया। कृष्ण और गांधी के बीच शस्त्र के उपयोग के संबंध में जो मतभेद आपाततः दिखाई देता है उसे दो दृष्टियों से सहज ही समझा जा सकता है। प्रथम

तो कृष्ण के समय में धर्मयुद्ध की परम्परा थी। धर्मयुद्ध के अनेक नियम थे, जिनका मुख्य आशय यह था कि निरपराध की हिंसा न की जाये। मैदान में आमने-सामने की लड़ाई थी। गांधी के समय में जो युद्ध की शैली बन गई, उसमें एक प्रकार की कायरता और क्रूरता निहित थी, क्योंकि विमानों की लड़ाई में छिपकर और निरपराधों पर शस्त्र का प्रयोग होता था। ऐसे युद्ध की अनुमति कृष्ण भी नहीं दे सकते थे। उनके समय आमने-सामने की लड़ाई संभव थी जिसमें शौर्य का प्रदर्शन किया जाना संभव था। किंतु गांधी के समय आणविक शस्त्र ऐसा रूप धारण कर चुके थे, जिसमें शस्त्र प्रयोग का अर्थ था सर्वनाश। हिरोशिमा का उदाहरण हमारे सामने है। शायद इसीलिए गांधी ने अपनी अहिंसक दृष्टि की कट्टरता के बावजूद गीता को नकारना तो दूर उसे अपनी माता बताया है।

२. यह सत्य है कि अहिंसा और अपरिग्रह की युति है। ये दोनों एक दूसरे के बिना अधूरे हैं। किंतु अपरिग्रह का अर्थ दरिद्रता नहीं है। अपरिग्रह का अर्थ है—आन्तरिक शक्तियों का ऐसा विकास कि मनुष्य को बाहरी उपकरणों की कम से कम आवश्यकता पड़े, इच्छा का ऐसा परिष्कार कि मनुष्य दूरदृष्टि सम्पन्न बन सके और दीर्घकालिक लाभ के लिए तात्कालिक आकर्षणों से मुक्त रह सके।

अब तक अपरिग्रह को एक व्यक्तिगत गुण समझा जा रहा था किंतु पर्यावरण के प्रसंग में अपरिग्रह का महत्त्व सामूहिक रूप में प्रकट हो रहा है। आज अर्थशास्त्र को दो दृष्टियों से देखा जा रहा है—तात्कालिक विकास का अर्थशास्त्र और स्थायी विकास का अर्थशास्त्र। प्रकृति के सारे संसाधनों को शीघ्रातिशीघ्र उपयोग में लाकर आर्थिक विकास की गति बढ़ायी जा सकती है, किंतु हम प्रकृति से उतना ले तो लें और उतना दे न पायें कि प्रकृति-चक्र का संतुलन बना रह सके तो प्राकृतिक संसाधन समाप्त होते चले जायेंगे—और जितनी तीव्रगति से हम आर्थिक विकास करेंगे उतनी तीव्र गति से दरिद्र भी होते चले जायेंगे। यह दरिद्रता एक सीमा के बाद घातक भी सिद्ध हो सकती है।

३. प्रश्न है प्रतिक्रिया का। कोई व्यक्ति हमारे प्रति दुष्टता का व्यवहार करता है अथवा हमारे अधिकार का हनन करता है तो सामान्यतः यही समझ में आता है कि हमें अपनी रक्षा के लिए हिंसा का प्रयोग करना पड़ेगा। जब इस प्रकार की स्थिति राष्ट्र के सामने आए तो प्रश्न और भी विकट इसलिए हो जाता है कि व्यक्तिगत हितों की तो हम कदाचित् बलि दे भी सकते हैं किंतु राष्ट्रीय हित की बलि तो दी ही नहीं जा सकती।

जहां तक व्यक्ति का प्रश्न है हमें मनोवैज्ञानिक तथ्य को समझना होगा कि जब हम क्रोध का उत्तर क्रोध से देते हैं तो उसके तीन परिणाम होते हैं—

१. हम अपना मानसिक संतुलन खोते हैं।
२. हम सामने वाले के क्रोध में अपने क्रोध द्वारा सहयोग करते हैं अर्थात् अपने क्रोध से उसके क्रोध को बढ़ावा देते हैं।
३. हम यह स्वीकार करते हैं कि हम इतने बलवान् नहीं हैं कि सामने वाला कितना भी क्रोध करे हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

जब हम क्रोध का उत्तर क्रोध से देते हैं तो आग को बुझाने के लिए आग ही डालते हैं। क्रोध का अर्थ है— असहिष्णुता। क्षमा का अर्थ है सामर्थ्य। जब हम किसी के क्रोध को सहन नहीं कर पाते हैं तो हम अपनी निर्बलता का परिचय देते हैं। जब हम क्षमा करते हैं तो हम अपनी यह सामर्थ्य प्रकट करते हैं कि सामने वाले व्यक्ति की दुष्टता हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकती।

दुष्ट और दुष्टता में अन्तर करना आवश्यक है। कोई व्यक्ति स्थायी रूप से दुष्ट नहीं होता है। करुणा के द्वारा उसकी साधुता को उभारा जा सकता है। यह दुष्टता को बढ़ावा देना नहीं है, दुष्टता का दीर्घगामी उपचार है।

४. अधिकार के लिए लड़ना चाहिए—यह सच है किंतु ज्यों-ज्यों मनुष्य जाति का विकास होता है वैसे-वैसे यह व्यवस्था बनती जाती है कि कोई किसी का अधिकार छीन ही न सके। अधिकार की लड़ाई का सही रूप यह है कि हम व्यवस्था ऐसी बनायें जिसमें सबको अपने अधिकार स्वतः प्राप्त हो जाएं। यदि किसी को अधिकार प्राप्त न हो तो वह न्यायालय का दरवाजा खटखटा सके यह संभावना बनानी चाहिए। इसके लिए न्याय प्रणाली सरती, सरल और त्वरित होनी चाहिए।
५. राष्ट्र की अवधारणा मनुष्यकृत है। प्रकृति ने पूरी पृथ्वी को एक बनाया है। सुविधा के लिए हमने उसे राष्ट्रों में विभक्त किया है। जब तक भेद के पीछे अभेद को न समझा जाये, तब तक राष्ट्र की अवधारणा हिंसा और शोषण का रूप धारण कर लेती है। अपने देश में देखें तो केवल दो सौ वर्ष पूर्व यह देश विभिन्न रजवाड़ों में बंटा हुआ था। हर रियासत की अपनी सेना थी, अपने किले थे और ये आपस में एक दूसरे से लड़ाई करते रहते थे। उस समय देशभक्ति का रूप अपने राजा के प्रति वफादारी था। जब किन्हीं दो रियासतों की सेनाएं आपस में लड़ती थीं तो उसे कर्तव्य पालन

समझ कर पुण्य का कार्य मानती थी। आज भी यह देश विभिन्न प्रान्तों में बंटा है लेकिन यदि उत्तरप्रदेश की पुलिस मध्यप्रदेश की पुलिस पर आक्रमण करे तो यह स्थिति हास्यास्पद मानी जायेगी। क्योंकि हमने यह समझा है कि उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश यह विभाजन सुविधा के लिए है, वस्तुतः वे दोनों एक ही राष्ट्र के अंग हैं।

अब हमें यह भी समझना होगा कि हमारी मातृभूमि वस्तुतः पूरी पृथ्वी है। राष्ट्रों का विभाजन केवल सुविधा के लिए है। एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण करना उतना ही हास्यास्पद है, जितना भारत के किसी एक प्रांत का दूसरे प्रान्त पर आक्रमण करना। रक्षा हमें पूरी पृथ्वी की करनी है; आधुनिक शस्त्रों का प्रयोग पूरी पृथ्वी के संतुलन को नष्ट करता है और इस प्रकार हम शस्त्र उठाकर कोई पुण्य नहीं करते अपितु पूरी भूमिमाता का हनन ही करते हैं।

६. साम्यवादी व्यवस्था ने यह माना कि शोषण के प्रतिकार के लिये यदि अहिंसक उपाय कारगर न हों तो हिंसक उपाय बरतना भी गलत नहीं है। इसका प्रयोग भी सोवियत संघ जैसे राष्ट्रों में किया गया और वह प्रयोग असफल हो गया। सोवियत संघ बिखर गया और लोहे की दीवार टूटने के बाद यह पता चला कि वहां गरीबी भी दूर नहीं हुई। कारण स्पष्ट है—शोषण एक बुराई है—हिंसा दूसरी बुराई है। दो बुराई मिलकर एक अच्छाई नहीं बन सकती बल्कि ग्यारह बुराइयों को जन्म देती हैं। दरिद्रता तो दूर हुई नहीं, स्वतंत्रता का अपहरण अवश्य हो गया। शोषण का प्रतिकार करुणा और अपरिग्रह से हो सकता है। यह सत्य है कि करुणा और अपरिग्रह अब तक शोषण को नहीं मिटा सके, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वे भविष्य में सफल नहीं होंगे। जैसे-जैसे मनुष्य की समझ बढ़ेगी, वैसे-वैसे पर्यावरण के परिप्रेक्ष्य में अपरिग्रह केवल धर्मोपदेश न रहकर वैज्ञानिक आवश्यकता भी बन जायेगा। जैसे-जैसे शिक्षा का प्रसार होगा, वैसे-वैसे शोषित वर्ग इतना प्रबुद्ध हो जायेगा, कि उसका शोषण संभव नहीं होगा।
७. हिंसा का अर्थ मार देना मात्र नहीं है। हिंसा का अर्थ है—प्रमादवश किसी को पीड़ा पहुंचाना। प्रमाद के बिना जीवनयापन किया जा सकता है।
८. मनुष्य और शेष पशु जगत् और वनस्पति जगत् के बीच भेदक रेखा हमारे मन की कल्पना है। प्रकृति में सभी भोक्ता हैं और सभी भोग्य भी हैं। मनुष्य अपने आपको कोई विशिष्ट स्थान नहीं दे सकता। वह प्रकृति का स्वामी नहीं बल्कि प्रकृति का एक भाग है।

६. अहिंसा यथारिति की पोषक नहीं है बल्कि आमूल-चूल परिवर्तन की संदेशवाहक है। कर्म सिद्धान्त यह नहीं कहता कि जो गरीब है, वह अपने पूर्वजन्म के पाप कर्मों के कारण गरीब है। गरीबी-अमीरी समाज व्यवस्था से नियंत्रित होती है, पूर्व जन्म के कर्मों से नहीं। गरीब की गरीबी को उसके पूर्वजन्म के पाप का फल बताकर यथारिति का समर्थन करना अहिंसा नहीं क्रूरता है।
१०. हमारा भोजन बिना जीव हिंसा के निष्पन्न नहीं हो सकता यह सच है किंतु भोजन के लिए की जाने वाली हिंसा में तरतमता अवश्य रहती है। मांसाहार की अपेक्षा शाकाहार में कम क्रूरता है। आर्थिक दृष्टि से भी मांसाहार प्राप्त करने के लिए प्रकृति के अधिक संसाधनों का व्यय होता है। और यह विवेक तो बरता ही जा सकता है कि आहार को जुटाने में कम से कम हिंसा का प्रयोग हो। दूध हमारे आहार का हिस्सा है और वह पशु से प्राप्त होता है। किंतु जिस पशु से हम दूध प्राप्त करते हैं, उस पशु के प्रति हमारा व्यवहार करुणापूर्ण हो, तो यह अहिंसा की दिशा में उठा हुआ एक कदम होगा।

महाप्रज्ञ उवाच

शक्तिशाली लोग सत्ता को हथियाते रहे हैं। उसके लिए हिंसा का सहारा भी लिया जाता है। आज की चुनावी हिंसा उसी का नया संस्करण है।

राजतंत्र राज्य विस्तार के आधार पर चलता था और लोकतंत्र दल विस्तार के आधार पर चल रहा है।

लोकतंत्र का अर्थ है—शक्ति का विकेन्द्रीकरण। यदि तंत्र विकेन्द्रित नहीं है, लोकतंत्र राजतंत्र से भी अधिक खतरनाक बन जाता है। चुनाव द्वारा सरकार का परिवर्तन—यदि लोकतंत्र की सीमा इतनी ही हो तो मानना होगा—यह सत्ता पर अधिकार करने का एक नया विकल्प है। राजतंत्र में सत्ता पर अधिकार पैतृकता से होता था और लोकतंत्र में सत्ता पर अधिकार पैतृकता से नहीं होता। यह अन्तर स्पष्ट है। सत्ता पर आसीन होने के पश्चात् जो अन्तर होना चाहिए, वह परिलक्षित नहीं है। सत्ता के विकेन्द्रीकरण के बिना वह संभव नहीं है।

बड़ी हिंसा भी सदा नहीं होती। छोटी-छोटी हिंसा सदा से चल रही है। इसका अर्थ है—आग बुझती नहीं उसकी चिनगारियाँ उछलती रहती हैं। वही आग कभी-कभी यहां ज्वाला बन महायुद्ध का रूप ले लेती है।

किसी पर शासन मत करो। यह अहिंसा का संदेश बहुत व्यापक और बहुत गुरुतर है। इतना गुरुतर भार हर आदमी शायद उठा न सके पर शासन विस्तार की भावना से बचा जाये तो विश्व शान्ति का मार्ग सीधा सरल हो जाता है।

मनुष्य सब प्राणियों में श्रेष्ठ है—इस धारणा के आधार पर उसके लिए सब कुछ करना क्षम्य मान लिया गया। वर्तमान चिकित्सा के क्षेत्र में लाखों-लाखों मूक पशु परीक्षण के लिए मारे जाते हैं। क्या इस हिंसा के आधार पर जीने वाला आदमी अहिंसा के विकास की बात सोच सकता है?

श्रेष्ठता की कसौटी कोरी बौद्धिकता नहीं है। सृष्टि का संतुलन बनाए रखने में जिनका योगदान है, उन सबकी अपनी श्रेष्ठता है। उन सारी श्रेष्ठताओं का योग ही यह जगत् है।

मार्क्स अहिंसा की दृष्टि से मुख्य चिन्तनधारा में नहीं थे। गांधी के पास अहिंसा के चिन्तन के अलावा कोई विकल्प नहीं था; किंतु दोनों का चिंतन बिंदु एक रहा और वह है आर्थिक समानता।

साम्यवाद ने प्रयोग किया, व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त करने का और गांधी ने प्रयोग किया ट्रस्टी शिप का। किंतु लगता है—दोनों ही प्रयोग सफल नहीं हुए।

यदि हम विधायक रूप में आर्थिक समानता की बात करेंगे तो इस समस्या का समाधान नहीं होगा। हम निषेध के द्वारा इस समस्या को समाधान दे सकते हैं। कहीं-कहीं निषेध बहुत काम का होता है। सब जगह विधायक बात सफल नहीं होती। अहिंसा की व्याख्या विधायक रूप में करे तो बड़ी उलझनें हैं। अपरिग्रह की व्याख्या भी विधायक रूप में करे तो उलझनें कम नहीं हैं। हमें निषेध से चलना होगा। “किसी को मत मारो”, एक गृहस्थ के लिए यह अहिंसा की सबसे अच्छी परिभाषा हो सकती है। इच्छा का परिमाण करो, एक गृहस्थ के लिए यह अपरिग्रह की सबसे अच्छी परिभाषा हो सकती है। गृहस्थ का अपरिग्रह मुनि का अपरिग्रह नहीं है। गृहस्थ के लिए है इच्छा परिमाण।

इच्छा का परिमाण करो। इच्छा, परिग्रह और आरम्भ का एक चक्र है। इच्छा अल्प होगी तो परिग्रह और आरंभ अल्प होगा। जब तक इच्छा को नहीं पकड़ेंगे तब तक न व्यक्तिगत स्वामित्व के सीमाकरण की बात सफल होगी, न ट्रस्टीशिप की बात सफल होगी। इन दोनों सूत्रों की सफलता तभी संभव है, जब उनकी पृष्ठभूमि में इच्छा के सीमाकरण का सूत्र हो। इच्छा को ज्यादा बढ़ाना अच्छा नहीं है, यह बात समझ में आने पर ही अपरिग्रह का सिद्धान्त समझ में आ सकता है। भीतर में इच्छा प्रबल है तो बाहर का उपदेश बहुत काम नहीं देगा।

इच्छा परिमाण और भोगोपभोग परिमाण—आर्थिक समस्या को समाधान दे सकते हैं। जब तक इच्छा और भोग का संयम नहीं होगा, तब तक न अहिंसक समाज संरचना का सपना साकार होगा और न ही आर्थिक समस्या सुलझ पायेगी। वर्ग संघर्ष की क्रान्तियां, हिंसक क्रान्तियां इसलिए होती हैं कि व्यक्ति लोभी और स्वार्थी बन जाता है। केवल अपने भोगोपभोग की ही चिंता

करता है, संग्रही और परिग्रही बन जाता है। वह अपने आस-पास की ओर ध्यान ही नहीं देता। यह स्थिति ही क्रांति को जन्म देती है।

पूरे समाज की न्यूनतम आवश्यकताएं पूरी हो जाएं। रोटी, कपड़ा और मकान, दवा और शिक्षा के साधन प्रत्येक व्यक्ति को सुलभ हो जाएं। आर्थिक समानता की बात छोड़ दें। सब व्यक्तियों का कमाने का अलग-अलग ढंग होता है, व्यावसायिक कौशल होता है। कोई अधिक कमाता है, कोई कम। आर्थिक समानता का यंत्रीकरण नहीं हो सकता। सब लखपति हों, यह कभी संभव नहीं है। इतना हो सकता है—जीवन की प्रारंभिक और मौलिक आवश्यकताएं सबको समान रूप से मिले। अपनी-अपनी विशेष योग्यता से व्यक्ति लाभ कमाए, उसमें दूसरों को आपत्ति न हो।

आर्थिक विकास पर बहुत बल दिया गया। अधिक उत्पादन, अधिक आय और समान वितरण पर—उन पर बहुत ध्यान दिया गया, किंतु उनके साथ दो बातों को जोड़ना चाहिए था—आर्थिक संयम और इच्छा का संयम।

* * * * *

विज्ञान

उत्पाद—व्यय—धौव्यात्मक सत्

सापेक्षता और अनेकांत : विज्ञान और दर्शन

मानव जाति के इतिहास में जो क्रान्तियां हुईं उनके अनेक स्रोत हैं। महावीर, बुद्ध और ईसा धर्म के माध्यम से वैचारिक क्रान्ति लाये। कालमार्क्स आर्थिक और राजनैतिक मंच से क्रान्ति लाये। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में एक क्रान्ति विज्ञान के माध्यम से आयी। १९०५ ई. में अल्बर्ट आईन्स्टीन ने सापेक्षता के जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उसने हमारी देश-काल संबंधी अवधारणाओं में ऐसे आमूलचूल परिवर्तन किये जिससे दार्शनिक चिन्तन भी अछूता नहीं रह सकता। Encyclopedia Britenica के अनुसार १८वीं शताब्दी तक साथ-साथ चलने वाले दर्शन और विज्ञान १९वीं शताब्दी में अलग-अलग हो गये थे किंतु सापेक्षता के सिद्धान्त ने उन्हें बीसवीं शताब्दी में परस्पर जोड़ दिया।^१

देश-काल-युति

दर्शन के अध्येताओं से बात छिपी नहीं है कि देश और काल की अवधारणाएं हमारी चिन्तन प्रणाली के मूल में रहती हैं—और इसलिए यदि हमारी देशकाल संबंधी अवधारणायें बदल जायें तो हमें अपने पूरे चिन्तन को बदलना पड़ जाता है। सापेक्षता के सिद्धान्त ने यही किया। जैसा कि आईस्टीन के गणित के अध्यापक Hermann Minowski ने कहा है—“सापेक्षता

1. By the beginning of the 20th Century science and philosophy had become quite distinct and a person expert in one was usually very ill informed in the other. The effect of the relativity theory was to re-establish physics on a philosophical basis.

सिद्धान्त के बाद अपने आप में देश और काल केवल एक छाया मात्र रह गये हैं। जो आज अस्तित्व में है—वह इन दोनों का समन्वित रूप है।^१

पदार्थ की लम्बाई और काल—दोनों सापेक्ष हैं

हमें देश और काल को अलग-अलग रूप में देखने का दीर्घकालिक अभ्यास है। इसलिए कहा जाता है कि देश और काल की सत्ता पृथक्-पृथक् नहीं है, बल्कि समन्वित है—तो यह बात हमारे सिर के ऊपर से गुजर जाती है। दूसरा आघात हमारे चिन्तन को उससे भी अधिक गहरा तब लगता है जब हमें यह कहा जाता है कोई छड़ कितनी लम्बी है अथवा किन्हीं दो घटनाओं के बीच में कितना समय बीता—यह इस बात पर निर्भर करता है कि उस लम्बाई व समय को देखने वाला व्यक्ति कितनी तीव्र अथवा मंद गति से चल रहा है।^२ हमारे मन में यह धारणा बद्धमूल है कि एक मीटर लम्बी छड़ हर परिस्थिति में एक मीटर ही लम्बी रहेगी और हमारी घड़ी की सुई के द्वारा दिखाया गया एक सेकेण्ड सदा एक सेकेण्ड ही रहेगा। किंतु सापेक्षता के सिद्धान्त ने हमें बताया कि हमारी यह धारणा सत्य नहीं है।

देखना यह है कि इस निष्कर्ष पर वैज्ञानिक कैसे पहुँचे और देशकाल की अवधारणा के परिवर्तन से हमारे चिंतन में कितना बड़ा क्रान्तिकारी परिवर्तन आने की संभावना बन गयी। ज्यों-ज्यों हम सापेक्षता के सिद्धान्त की गहराई में जायेंगे त्यों-त्यों यह बात स्पष्ट होती दिखायी देगी कि इस खोज में हमारे पूरे चिंतन को बदल देने की क्षमता अन्तर्निहित है।

जैन-सम्मत सापेक्षता

देश और काल पर प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में विचार हुआ है, किंतु देश और काल संबंधी अवधारणा को सापेक्षता से जोड़कर जितना चिंतन जैन परम्परा में हुआ उतना शायद किसी दूसरी परम्परा में नहीं हुआ। जैन परम्परा

- From now on space by itself and time by itself are mere shadows and only a blend of the two exists in its own right

-Hermann Minowski, Encyclopedia Americana
Vol. 23 page 337

- The length of a metre rod and the duration of a second on a clock depend on the state of motion of the observer with respect to the instrument

-Encyclopedia Britanica.
Vol. 8 page 96.

वस्तुवादी है और बहुत्ववादी है। जड़ के क्षेत्र में पुद्गल के अनन्तानंत परमाणु हैं और वे एक-दूसरे से अलग-अलग हैं। इसी प्रकार चेतना के क्षेत्र में अनन्तानंत जीव भी एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् अपना अस्तित्व रखते हैं। जैन चिंतन के अनुसार एक का दूसरे से यह पृथक्त्व चार दृष्टियों से बनता है—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अर्थात् स्वचतुष्टय की अपेक्षा है किंतु पर चतुष्टय की अपेक्षा नहीं है। इसी को एक अपेक्षा से होना—“स्याद् अस्ति”—और दूसरी अपेक्षा से न होना—“स्यान् नास्ति” कहा जाता है। इसी आधार पर एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ से पृथक् किया जाता है। सापेक्षता का एक दूसरा पक्ष यह है कि पदार्थ में अनन्त धर्म रहते हैं जिसमें जब हम किसी एक धर्म को बताते हैं तो शेष धर्मों को गौण कर देते हैं जिसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि शेष धर्म हैं ही नहीं, यह केवल हमारी भाषा की सीमा है कि हम युगपद् सभी धर्मों को नहीं कह सकते, किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि उन धर्मों का अस्तित्व भी नहीं है। जब हम यह कहते हैं कि यह वस्त्र काला है तो हमारे इस वक्तव्य की कुछ सीमाएँ हैं। प्रथम सीमा तो यह है कि हम इस वाक्य के द्वारा केवल वस्त्र का रूप बता रहे हैं, किंतु हमें यह पता है कि वस्त्र का रस, गंध और स्पर्श भी है। दूसरी सीमा यह है कि जब हम उसे काला कह रहे हैं तो यह एक सापेक्ष वर्णन भी हो सकता है और यदि कोई दूसरा वस्त्र उससे इतना अधिक काला हो तो शायद उसके मुकाबले में हम इसे अकृष्ण ही कहना चाहें। एक तीसरी सीमा यह है कि वस्त्र के रूप में भी वस्तुतः तो सभी रंग हैं, किंतु जब हम इसे काला कहते हैं तो उसका अर्थ केवल इतना है कि दूसरे सब रंग काले रंग में दब गये हैं और होते हुए भी दिखाई नहीं दे रहे हैं। सापेक्षता का यह सिद्धान्त जैन प्रमाण भीमांसा की आत्मा है।

सापेक्षता : बौद्ध और वेदान्ती दृष्टिकोण

जैनेतर भारतीय दर्शनों में वस्तुवादी दर्शन तो थोड़े-थोड़े मतभेद सहित कहीं न कहीं अनेकान्तवाद को स्वीकार कर लेते हैं किंतु क्षणिकवादी बौद्ध तथा मायावादी वेदान्ती को अनेकान्त कदापि स्वीकार नहीं है। डॉ० सात्करि मुखर्जी ने इस विषय का ऊहापोह करते हुए कुछ निष्कर्ष दिए। उनका कहना है कि हमारे तर्क के कुछ पक्ष स्वतः सिद्ध होते हैं और कुछ अनुभव-सापेक्ष होते हैं। उदाहरणतः यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि गुलाबी रंग लाल रंग से हल्का है तो इस वाक्य की सत्यता जानने के लिए अनुभव में जाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि गुलाबी का शब्दार्थ ही है—हल्का लाल। इसके विपरीत यदि कोई कहे कि देवदत्त का वजन ७० किलोग्राम है तो इस वाक्य की सत्यता को

जांचने के लिए हमें देवदत्त को तौलना होगा क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं है कि जिस व्यक्ति का नाम देवदत्त हो उसका वजन अनिवार्य रूप से ७० किलो हो। अतः इस वाक्य की सत्यता स्वतःसिद्ध नहीं है—अपितु अनुभव गम्य है।

डॉ० मुखर्जी का कहना है कि यह सत्य स्वतः सिद्ध है कि “देवदत्त है” और “देवदत्त नहीं है”— ये दोनों वाक्य एक साथ सत्य नहीं हो सकते क्योंकि ‘होने’ और ‘नहीं होने’ में परस्पर विरोध है—यह बात स्वतः सिद्ध है। जैन का कहना है कि हमें देवदत्त का स्वचतुष्ट्य से होना और परचतुष्ट्य से नहीं होना अनुभव से प्रत्यक्ष प्रतीति में आ रहा है। देवदत्त दिल्ली में है तो जयपुर में नहीं है। यदि उसकी अवस्था ६० वर्ष है और वह ३० वर्ष और जीवित रहने वाला है तो वह जन्म से मृत्यु पर्यन्त की ६० वर्ष की कालावधि में है; उस कालावधि से पहले या बाद में नहीं है। इस प्रकार देवदत्त का अस्तित्व देश और काल से सीमित है—शास्त्रीय भाषा में देशकालावच्छिन्न है। ऐसी स्थिति में उसके अस्तित्व को सर्वकालिक और सार्वदेशिक नहीं माना जा सकता। अतः हमें यही कहना होगा कि वह एक अपेक्षा से है और एक अपेक्षा से नहीं है।

इसके विपरीत वेदान्ती और बौद्ध का कहना है कि यदि हमारे अनुभव का स्वतः सिद्ध सत्य के साथ टकराव हो जाये तो हमें अपने अनुभव की सत्यता की पड़ताल करनी चाहिए कि कहीं हमारा अनुभव हमें धोखा तो नहीं दे रहा है। हमें प्रतिदिन अनुभव में आता है कि व्यक्ति बदलता है अर्थात् अनित्य है और हम फिर भी बदलते हुए व्यक्ति को देखकर यह नहीं मान बैठते कि वह कोई दूसरा व्यक्ति है अपितु यही मानते हैं कि भले ही वह बदल गया है किंतु व्यक्ति वही है। इस प्रकार हमारे अनुभव में अनित्यता और नित्यता दोनों युगपद आते हैं। किंतु तर्क का यह तकाजा है कि कोई पदार्थ या तो नित्य होना चाहिए या अनित्य। अतः हम अपने अनुभव में आने वाली नित्यता और अनित्यता में से एक को भ्रम मान लेते हैं। अनित्यता को वेदान्त भ्रम मानता है, और नित्यता को बौद्ध काल्पनिक मानता है।

जैन का कहना है कि जो प्रत्यक्ष दिख रहा है उसे किसी स्वतःसिद्ध सत्य के नाम पर “भ्रम” या “कल्पना” मान बैठना ठीक नहीं है। हमें सोचना यह चाहिए कि जिसे हम स्वतःसिद्ध सत्य कह रहे हैं, वही तो भ्रम नहीं है। हमारे अनुभव में तो निरन्तर नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता, भेद-अभेद जैसे युगल आ रहे हैं। अतः “दो विरोधी तत्व एक साथ नहीं रह सकते” यह कहना भी भ्रान्त है। डॉ० मुखर्जी का कहना है कि वेदान्ती और बौद्ध तथा जैन के बीच इस मतभेद का अन्तिम निर्णय लेना कठिन है। उनके अनुसार यह मामला व्यक्तिगत पसन्द का है कि हम अनुभव के आधार पर विरोधियों के सहअस्तित्व

को स्वीकार करें—या दो विरोधी एक साथ नहीं रह सकते इसे स्वतः सिद्ध सत्य मानकर अपने अनुभव का अपलाप करें। दर्शन के क्षेत्र में सापेक्षता की चर्चा आधुनिक युग में संक्षेप में इतनी ही दूर तक गई लगती है।

विज्ञान-सम्मत सापेक्षता

इधर विज्ञान की खोजों ने सापेक्षता को कुछ नये आयाम दे दिये हैं जिनकी संक्षिप्त चर्चा करना अप्रासंगिक न होगा। पांच फुट लम्बा व्यक्ति चार फुट लम्बे व्यक्ति की अपेक्षा लम्बा है और छह फुट लम्बे व्यक्ति की अपेक्षा छोटा है—यह बात बहुत स्पष्ट है किंतु आईन्सटीन ने जिस सापेक्षता का वर्णन किया है वह सापेक्षता यह बिल्कुल नहीं है। आईन्सटीन का कहना है कि पांच फुट लम्बा व्यक्ति कभी सवा पांच फुट का हो जाता है और कभी पौने पांच फुट का ही रह जाता है। इतना ही नहीं वह व्यक्ति एक ही अवधि में कभी पचास वर्ष का हो जाता है और कभी दस वर्ष का रह जाता है। यदि हम जानना चाहें कि वह व्यक्ति वस्तुतः कितना लम्बा है तो हम यह जान ही नहीं सकते। किसी पदार्थ की वास्तविक लम्बाई को जानने का प्रयत्न ऐसा ही है जैसे किसी व्यक्ति की जमीन पर पड़ने वाली परछाई की वास्तविक लम्बाई जानने का प्रयत्न। हम केवल इतना ही बता सकते हैं कि उसकी परछाई एक निश्चित समय और स्थान पर कितनी लम्बी होती है, किंतु यह बताना संभव नहीं है कि वह वस्तुतः कितनी लम्बी है क्योंकि समय और स्थान के अनुसार वह लम्बाई घटती और बढ़ती रहती है। सापेक्षता का यह अर्थ करना कि एक रेखा अपने से लम्बी रेखा की अपेक्षा छोटी है और अपने से छोटी रेखा की अपेक्षा लम्बी है—बहुत सामान्य-सी बात है। डॉ० नथमल टांटिया का कहना है यह तो “सिद्ध-साधन” है अर्थात् जो बात पहले से ही स्पष्ट है, हम उसे तर्कों द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

आईन्सटीन के सापेक्षता सिद्धान्त ने जो तथ्य उद्घाटित किया वह सर्वथा नवीन है अतः उसे थोड़ा विस्तार में समझना होगा। आईन्सटीन ने हमारे सामने तीन सिद्धान्त रखे—

१. कोई भी पदार्थ जैसे-जैसे अपनी गति तेज करता है उसका माप छोटा होता चला जाता है—यहाँ तक कि यदि वह प्रकाश की प्रति सेकेण्ड १,८६,००० मील वाली गति से चले तो उसका माप शून्य हो जाता है और वह दिखना बंद हो जाता है।
२. जैसे-जैसे पदार्थ की गति तेज होती है, उसका द्रव्यमान बढ़ता जाता है यहाँ तक कि प्रकाश की गति पर उसका द्रव्यमान अनन्त हो जाता है।

३. जैसे-जैसे गति तीव्र होती है, समय की गति मंद होती है और प्रकाश की गति पर समय की गति सर्वथा रुक जाती है।

उपर्युक्त तीनों मान्यताएं उस दर्शक की दृष्टि से कही गयी है जो स्वयं स्थिर है और जिसकी अपेक्षा पदार्थ गति करता है किंतु यदि दर्शक स्वयं भी पदार्थ के साथ गति करता हो तो उसके लिए समय, माप अथवा द्रव्यमान घटते-बढ़ते नहीं हैं, अपितु उतने ही रहते हैं। दूसरी बात ध्यान में देने की यह है कि उपर्युक्त मान्यताएं स्थूल स्तर पर दृष्टिगोचर नहीं होती। इन तथ्यों का प्रत्यक्षीकरण वहीं होता है जहां पदार्थ प्रकाश की गति से थोड़ी बहुत ही कम तीव्र गति से चल रहे हों।

प्रकाश की गति की निरपेक्षता

आईन्स्टीन के सामने दो ऐसे तथ्य थे जिसके कारण वे उपर्युक्त तथ्यों तक सापेक्षतावाद के सिद्धान्त के आधार पर पहुँच सके—

१. यह स्पष्ट नहीं हो रहा है कि यह कहने का क्या अर्थ है कि अमुक पदार्थ चलता है और अमुक पदार्थ नहीं चलता है। चलते हुए जहाज में यदि एक व्यक्ति दूसरे कुर्सी पर बैठे व्यक्ति के पास चलकर जा रहा हो तो कुर्सी पर बैठे व्यक्ति के लिए वह व्यक्ति चल रहा है और वह स्वयं कुर्सी में बैठा हुआ स्थिर है, किंतु जहाज से बाहर खड़े हुए व्यक्ति के लिए दोनों ही चल रहे हैं। इससे भी आगे जायें तो स्वयं पृथ्वी केवल अपने कक्ष के ही चारों ओर एक सेकेण्ड में १८ मील की गति से धूम रही है। स्वयं सूर्य भी गैलेक्सी के चारों ओर धूम रहा है। और स्वयं गैलेक्सी भी दूसरी गैलेक्सी के चारों ओर धूम रही है। इस प्रकार विश्व में कुछ भी पूर्णतः स्थिर नहीं है। अतः हम केवल एक की अपेक्षा दूसरे को स्थिर कह सकते हैं। इस बात का पता आईस्टीन से तीन सौ वर्ष पहले गैलेलियो लगा चुका था—और इस बात को समझने में कोई कठिनाई भी नहीं है।
२. आईस्टीन के सामने गति संबंधी नयी बात आयी वह यह कि प्रकाश की गति सभी स्थितियों में समान रहती है।

प्रकाश की गति की समानता का अर्थ समझना होगा ताकि हम उससे उत्पन्न होने वाली विचित्र स्थिति को समझ सकें। कल्पना करें कि—

१. हम एक स्थान पर खड़े हैं और दूसरे स्थान पर एक बल्ब जल रहा है तो स्पष्ट है कि प्रकाश हम तक १८६००० मील प्रति सेकेण्ड की गति से आयेगा। यहां तक कोई समस्या नहीं है।
२. हम जिस ओर से प्रकाश आ रहा है—उसी ओर १,००,००० मील प्रति सेकेण्ड की गति से चलें तो ऐसी स्थिति में प्रकाश की गति

$१८६०००+१०००००=२८६०००$ मील प्रति सेकेण्ड होनी चाहिए। (यदि हम रेल में यात्रा कर रहे हैं और सामने से बराबर की समानान्तर पटरी पर दूसरी रेल हमारी रेल से विपरीत दिशा में जा रही हो तो स्पष्ट अनुभव में आता है कि बराबर वाली रेल की गति बहुत तेज प्रतीत होती है—और वह रेल बहुत थोड़े से समय में हमारी रेल को पार कर जाती है—क्योंकि हमारी रेल की गति और सामने से आने वाली रेल की गति मिलकर जो गति बनती है उस गति से हमारी रेल को पार किया जाता है। अनुभव में आने वाले इसी उदाहरण के आधार पर यह कल्पना की गयी है।) आश्चर्य की बात यह है कि प्रकाश के साथ ऐसा नहीं होता—भले हम खड़े रहें—अथवा प्रकाश स्रोत की ओर चले—प्रकाश की गति १८६००० मील प्रति सेकेण्ड ही रहती है।

३. प्रकाश जिस ओर से आ रहा है हम भी उसी दिशा से १००००० मील प्रति सेकेण्ड की गति से चलें तो प्रकाश की गति $८६,०००$ मील प्रति सेकेण्ड होनी चाहिए। (यदि हम एक रेल में एक गति से एक ओर चल रहे हैं और दूसरी रेल भी पास की सामान्तर पटरी पर उसी ओर जा रही हो और उसकी गति हमारी रेल की गति से अधिक तेज है तब भी वह रेल हमें धीमी गति से ही रेंगती हुई दिखायी देती है—क्योंकि एक ही दूरी को वह भी पार कर रही है और हमारी रेल भी पार कर रही है—अतः उस रेल की गति कम होगी—उस रेल की गति से हमारी रेल की गति घटाने पर जो गति आती है उस गति से वह रेल हमारी रेल को पार करेगी। इसी आधार पर यह बात कही जा रही है।) किंतु ऐसा होता नहीं। इस स्थिति में भी प्रकाश की गति १८६००० मील प्रति सेकेण्ड ही रहती है।

प्रकाश की गति के संबंध में उपर्युक्त तथ्य एक अबूझ पहेली बने हुए थे। उपर्युक्त तथ्य हमारी सामान्य समझ से इतने विपरीत हैं कि इन पर विश्वास नहीं होता और ये परीकथा के समान कपोल कल्पित प्रतीत होते हैं किंतु विज्ञान में कोई भी बात बिना प्रयोग के स्वीकृत नहीं होती। १८८७ में अमेरिका के दो वैज्ञानिक अल्बर्ट माइकल्सन और एडवर्ड मोर्ले ने एक प्रयोग किया जिसके आधार पर यह तथ्य सामने आये।

आईस्टीन ने जब इस समस्या का सामना किया कि प्रकाश की गति उपर्युक्त प्रकार से सब दशाओं में समान कैसे रहती है तो उन्होंने यह निर्णय लिया कि देश और काल के संबंध में हमारी यह अवधारणा गलत है कि वह हर स्थिति में एक ही रहते हैं।

वस्तुतः गति को नापने के लिए हम समय और देश की दूरी को नापते हैं और यदि प्रकाश की गति हर स्थिति में एक ही रहती है जो कि हमारे तर्क के अनुसार नहीं रहनी चाहिए—तो इसका यह अर्थ होता है कि गति को मापने के दोनों साधन—समय और देश—एक जैसे नहीं रहते बल्कि बदल जाते हैं। समय और देश जो कि गति को मापने के साधन हैं गति के साथ बदलते हैं। परिणामतः प्रकाश की गति हर स्थिति में समान इसलिए रहती है कि उसके नापने के साधन—देश और काल—गति की तीव्रता के साथ बदल जाते हैं। अभिप्राय यह है कि प्रकाश की गति में जो अन्तर हमें दिखाई देना चाहिए था वह अन्तर तभी दिखाई देता जबकि प्रकाश की गति को नापने के दो पैमाने—देश और काल—हर स्थिति में एक जैसे ही रहते। किंतु आईस्टीन का निष्कर्ष यह है कि देश को नापने वाली छड़ तीव्र गति के साथ बदलने लगती है—और इसलिए देश और काल के मानदण्ड के बदल जाने से गति की नाप भी बदल जाती है।

इस संदर्भ में जिन दो बातों का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं वे महत्त्वपूर्ण हैं—

१. पहली बात तो यह है कि देश और काल का छोटा बड़ा होना प्रकाश के लगभग जितनी तेज गति पर ही होता है। हमारे अनुभव में आने वाली सामान्य गति में वह पकड़ में नहीं आता।
२. देश और काल का छोटा बड़ा होना उस व्यक्ति को नजर नहीं आयेगा जो देश को नापने वाले मानदण्ड और काल को नापने वाली घड़ी के साथ-साथ स्वयं भी चल रहा है। वह केवल उसी को नजर आयेगा जो केवल एक स्थान पर ही खड़ा है। इस आधार पर आईस्टीन ने देश और काल के दो नामकरण किये—जब हम स्थिर होते हैं और देश और काल को नापने वाली हमारी छड़ और घड़ी भी स्थिर होती है तब जो लम्बाई और कालावधि हमें प्राप्त होती है वह ठीक (Proper) लम्बाई और कालावधि है, किंतु जब हम स्वयं स्थिर होते हैं और हमारी अपेक्षा देश-काल को नापने वाली छड़ और घड़ी बहुत तेजी से चल रही होती है तो उस छड़ की लम्बाई और काल का माप सापेक्ष होता है।

१६६२ में उपर्युक्त स्थापना को वास्तविक प्रयोग करके जांचा गया। वायुयान में चार अत्यन्त सूक्ष्म समय देने वाली आणविक घड़ियाँ रखकर पूरब और पश्चिम दोनों दिशाओं में पृथ्वी के चारों ओर घुमाई गई और यह पाया गया कि पृथ्वी पर ही रखी घड़ियों का समय कुछ पीछे हो गया है।

इसका यह अर्थ होता है कि समय के न्यूनाधिक होने का तथ्य वास्तविक है, दृष्टि का भ्रम नहीं है।

द्रव्यमान की वृद्धि

यदि कोई पदार्थ प्रति सेकेण्ड १०० फुट गति से चल रहा है और उसे १०१ फुट प्रति सेकेण्ड की गति से चलाना चाहें तो इसके लिए जितनी अतिरिक्त ऊर्जा लगानी पड़ेगी—८००० फुट प्रति सेकेण्ड से चलने वाले पदार्थ की गति ८००१ फुट प्रति सेकेण्ड करने के लिए भी उतनी ही ऊर्जा लगनी चाहिए। किंतु ऐसा होता नहीं है। क्योंकि अधिक तेज चलने वाले पदार्थ में अधिक गतिज ऊर्जा (Kinetic Energy) आ जाती है, मानो उस पदार्थ का द्रव्यमान बढ़ जाता है। परापरमाण स्तर पर यह स्थिति वस्तुतः बन जाती है कि जब कण प्रकाश की गति जैसी तीव्र गति से चलते हैं तो उनका द्रव्यमान सचमुच बढ़ जाता है। इस तथ्य का पता हमें इस बात से चला कि परापरमाणविक कण (Sub-Atomic-Particles) भिन्न-भिन्न गतियों से चलते हैं—और उनकी गतियों के अन्तर से उनके द्रव्यमान में भी अन्तर आ जाता है।

काल की सापेक्षता

आईस्टीन ने एक प्रयोग मानसिक रूप से किया। कल्पना करें कि एक कमरा शीशे का बना हुआ है जिसके ठीक बीच-बीच बिजली का लट्टु लगा है और वह कमरा चल रहा है। एक व्यक्ति उस कमरे के बाहर है। बिजली का लट्टु रुक-रुक कर जलता है। जब वह जलता है तो कमरे के भीतर वाले व्यक्ति को वह प्रकाश कमरे की चारों दीवारों तक एक साथ पहुँचता हुआ दिखाई देता है। अब यदि वह कमरा प्रकाश जैसी तीव्र गति से चलने लगे तो बाहर वाले व्यक्ति को गति की विपरीत दिशा में बनी हुई अर्थात् पिछली दीवार पर प्रकाश पहले पहुँचता हुआ दिखाई देगा और गति की दिशा में बनी हुई अर्थात् अगली दीवार पर वह प्रकाश बाद में पहुँचता हुआ दिखाई देगा। जो एक के लिए पूर्वापर है—वह दूसरे के लिए युगपत है। इसका यह अर्थ हुआ कि विश्व में निरपेक्ष रूप में पहले, पीछे और एक साथ होने का कोई अर्थ नहीं है—क्योंकि ये सब दर्शक-सापेक्ष हैं।

आईस्टीन ने इस आधार पर एक नया सिद्धान्त बनाया कि देश और काल पृथक्-पृथक् नहीं हैं। अपितु दोनों मिलकर एक चतु: आयामी तत्व हैं। न्यूटन यह मान रहा था कि देश में लम्बाई-चौड़ाई और मोटाई ये तीन आयाम हैं—जो हर स्थूल पदार्थ में रहते हैं—और एक समय का चौथा आयाम है जिसमें ये तीन आयाम वाले पदार्थ परिणत होते रहते हैं। न्यूटन के अनुसार

समय गति करता है—अतीत से वर्तमान में होता हुआ भविष्य में जाता है। आईस्टीन के अनुसार देश काल मिलकर एक तत्त्व हैं—जो स्थैतिक (static) है। इस स्थैतिक देश-काल के पटल पर कुछ नया घटित नहीं होता, अपितु सब कुछ पहले से ही चित्रलिखित है। जब हम उसे देखते हैं तो वह केवल अभिव्यक्त होता है।

चतुः आयामी देश काल एक गणितीय स्थापना है। बोलचाल की भाषा में उसे कहने के लिए हम चतुः आयाम शब्द का प्रयोग करते हैं। पाइथागोरस प्रमेय (P-Theorem) के अनुसार समकोण त्रिकोण की दो भुजाओं के वर्ग का योग कर्ण के वर्ग के बराबर होता है। उदाहरणतः यदि एक समकोण त्रिकोण की एक भुजा ३ इंच और दूसरी भुजा ४ इंच है तो तीसरी भुजा $6+16=25 = 5$ इंच होगी। इसके समानान्तर देश और काल को देश-काल में परिणित करते समय वैज्ञानिकों ने यह माना कि देश और काल भले कुछ भी हो किंतु देश-काल और उन देश और काल के बीच अनुपात एक ही रहता है जैसे समकोण त्रिकोण के दो भुजाओं की लम्बाई कुछ भी क्यों न हो किंतु कर्ण की लम्बाई का उस लम्बाई के साथ अनुपातिक संबंध वही रहता है। आईस्टीन के गणित के गुरु Minowshi ने यह निष्कर्ष निकाला कि किसी भी व्यक्ति के अतीत और भविष्य अब और यहीं (Now and here) मिलते हैं।

पदार्थ और ऊर्जा की युति

आईस्टीन के सापेक्षता सिद्धान्त का एक दूसरा और महत्त्वपूर्ण पक्ष है—पदार्थ और ऊर्जा की एकता जिसे हम एक दूसरे परिप्रेक्ष्य में शारीर और मन की एकता भी कह सकते हैं। पूर्व और पश्चिम दोनों में भ्रम की चर्चा हुई है। भ्रम का यह अर्थ नहीं है कि पदार्थ है नहीं, किंतु भ्रम का यह अर्थ कि पदार्थ जैसा है हम उसे वैसा नहीं देख पा रहे हैं। इसके साथ ही पदार्थ है जैसा है—हम उसे भाषा में उस प्रकार कह नहीं पा रहे हैं। भारत में अन्न से मन बनने की बात कह कर एक अर्थ कहा गया कि पदार्थ का द्रव्यमान यदि प्रकाश की गति के वर्ग से गुणित किया जाये तो वह ऊर्जा बन जायेगा। सूत्र है— $E=MC^2$ । E का अर्थ है Energy (ऊर्जा), M=Mass (द्रव्यमान) और C प्रकाश की गति का द्योतक है। इसका यह अर्थ होता है कि पदार्थ के छोटे से छोटे कण में भी बहुत बड़ी मात्रा में घनीभूत ऊर्जा है। इसी कारण किसी सितारे के केंद्र में तारे की आकर्षण शक्ति से आकृष्ट होकर जब चार हाइड्रोजन के परमाणु मिलकर एक हीलियम परमाणु बनते हैं तो उस हीलियम

परमाणु का द्रव्यमान उन चार हाइड्रोजन परमाणुओं के द्रव्यमान से थोड़ा-सा कम होता है अर्थात् कुछ द्रव्यमान ऊर्जा अर्थात् ताप और प्रकाश में बदल जाता है। इस कारण वे तारे लाखों वर्ष तक चमकते रह सकते हैं। इसी आधार पर हाइड्रोजन बम का आविष्कार भी हुआ।

इस प्रकार जिस तरह सापेक्षता के सिद्धान्त से देश और काल एक ही तत्त्व के दो पक्ष सिद्ध हुए उसी प्रकार द्रव्यमान और ऊर्जा भी एक ही तत्त्व के दो पक्ष सिद्ध हो गये। इस सिद्धान्त के आधार पर कि 'पदार्थ न नया उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है'—यह सिद्धान्त बन गया कि "पदार्थ-ऊर्जा का समन्वित रूप न नया उत्पन्न होता है न नष्ट होता है।"

निष्कर्ष

विज्ञान द्वारा स्वीकृत सापेक्षता के सिद्धान्त की ऊपर दी गयी रूपरेखा के आलोक में यदि हम अनेकांत अथवा स्याद्वाद के सिद्धान्त को देखने का प्रयत्न करें तो कतिपय तथ्य हमारे सम्मुख आयेंगे—

१. बौद्ध एवं वेदान्ती का यह कथन है कि यदि कोई घटना स्वतः सिद्ध तर्क के विरुद्ध दिखायी दे तो हमें स्वतःसिद्ध तर्क को वरीयता देनी चाहिए और उस घटना की ऐसी व्याख्या करनी चाहिए की वह तर्क-विरुद्ध न रह जाये। उदाहरणतः हमें पदार्थ में नित्यता और अनित्यता दोनों दृष्टिगोचर होती है किंतु स्वतः सिद्ध तर्क का तकाजा है कि ये दोनों एक साथ नहीं रह सकती, अतः इनमें से या तो नित्यता ही सत्य है, अनित्यता मिथ्या है (जैसा कि वेदान्ती मानते हैं) अथवा अनित्यता ही सत्य है, नित्यता मिथ्या है (जैसा कि बौद्ध मानते हैं)। इसके विरुद्ध जैन का कथन है कि यदि हमारे अनुभव में कोई ऐसी घटना आती है जो हमारी समझ के विरुद्ध है तो हमें अपने अनुभव का अपलाप नहीं करना चाहिए—प्रत्युत अपनी समझ को बदलना चाहिए। आईस्टीन ने यही किया। हमने अपनी समझ यह बना रखी कि किसी भी पदार्थ की गति उस पदार्थ को देखने वाले के अनुपात में बदल जाती है—अर्थात् उस पदार्थ को देखने वाला यदि (१.) स्थिर है अथवा (२.) पदार्थ की ओर गति कर रहा है अथवा (३.) पदार्थ से विपरीत दिशा में गति कर रहा है तो तीनों दशाओं में पदार्थ की गति उस देखने वाले की परिस्थिति के अनुसार भिन्न होगी किंतु जब यह पाया गया कि प्रकाश के साथ ऐसा नहीं होता है तो आईस्टीन ने अनुभव का अपलाप नहीं किया बल्कि हमारी इस समझ को बदल दिया कि घड़ियों में कालावधि तथा मानदण्ड की लम्बाई सदा एक ही रहती है। परिणाम यह

हुआ कि सापेक्षता के सिद्धान्त का जन्म हो गया और प्रकाश की गति की हर परिस्थिति में एक समान रहने की पहेली का हल ढूँढ लिया गया। निश्चय ही यह जैन दृष्टिकोण का अवलम्बन लेने से हुआ। यदि अनुभव का ही अपलाप कर दिया जाता तो हम न्यूटन के युग में रह रहे होते और आईस्टीन का युग आता ही नहीं।

2. प्रत्ययवादी दर्शन मायावाद अथवा मानसिक कल्पना का सहारा लेकर दो विरोधी तत्त्वों में एक को—नित्यता अथवा अनित्यता को—मिथ्या अथवा दृष्टिभ्रम अथवा मन की सृष्टि मान लेते हैं। विज्ञान के आलोक में, ऐसी परिस्थिति में हमें एक तत्त्व को झूँठा कहने का अधिकार नहीं है। दृष्टिभ्रम का यह तो अर्थ हो सकता है कि हम पदार्थ को वैसा नहीं देख पा रहे हैं जैसा कि वह वस्तुतः है किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि पदार्थ है ही नहीं। जैन इसे व्यवहार नय तथा निश्चय नय के माध्यम से स्पष्ट करता है। उदाहरणतः यदि भ्रमर में सभी रंग हैं और हमें वह काला नजर आता है तो ये दोनों परस्पर विरोधी तत्त्व हुए किंतु इस कारण इनमें से किसी को झूँठा मानना उचित नहीं होगा। कहना यह होगा कि निश्चय नय से तो भ्रमर में सभी रंग हैं किंतु व्यवहार में वह काला ही दिखता है। ये दोनों दृष्टियाँ ही उपयोगी हैं। यदि हम निश्चय को न जानेंगे तो हम इस अज्ञान में ही जीते रहेंगे कि भ्रमर में केवल काला रंग है और यदि हम व्यवहार नय को मिथ्या माने लेंगे तो फिर यह कहना ही असम्भव हो जायेगा कि भ्रमर काला है।

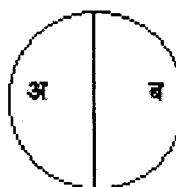
आज विज्ञान के क्षेत्र में यह बात उभर कर आयी है कि स्थूल स्तर पर हमारा समस्त व्यवहार न्यूटन के सिद्धान्तों के आधार पर चलता है और वह खरा भी उत्तरता है किंतु परा-परमाणु के स्तर पर न्यूटन के सिद्धान्त गलत सिद्ध होते हैं और वहां हमें आईस्टीन के सिद्धान्त लागू करने पड़ते हैं। न्यूटन के और आईस्टीन के सिद्धान्तों में परस्पर विरोध है किंतु क्या इस कारण हम इनमें से किसी एक को मिथ्या मान सकते हैं? वस्तुतः भिन्न-भिन्न परिप्रेक्ष्य में दोनों ही सिद्धान्तों को सत्य मानना होगा।

3. अब तक न्यूटन युग की अवधारणाओं में बंधे रहकर जो एक रेखा को दूसरी रेखाओं की अपेक्षा बड़ा-छोटा दोनों बताया जा रहा था वहां ऐसा लगता था कि सिद्ध-साधन दोष है। ५ फुट की रेखा ४ फुट की रेखा की अपेक्षा बड़ी तथा ६ फुट की रेखा की अपेक्षा छोटी है यह इतनी स्पष्ट बात है कि यह कहकर हम किसी गम्भीर तथ्य का उद्घाटन करने का दावा नहीं कर सकते थे। किंतु आईस्टीन द्वारा यह कहे जाने पर एक ही छड़

किसी परिस्थिति में छोटी और किसी परिस्थिति में बड़ी हो जाती हम एक ऐसे तथ्य को जान पाये हैं जो अब तक अज्ञात था। विज्ञान के सापेक्षता के सिद्धान्त द्वारा हमें अपूर्वार्थ का बोध होता है, उस पर सिद्ध-साधन का दोष नहीं लगाया जा सकता।

८. स्याद्वाद के अन्तर्गत जब हम यह कहते हैं कि “स्याद् घट है”, “स्याद् घट नहीं है”, “स्याद् घट अवक्तव्य है”, तो यह सब शब्दों का मायाजाल सा प्रतीत होता है। आईस्टीन के सापेक्षता सिद्धान्त के अनुसार स्याद्वाद की यह प्रणाली विज्ञान की उपलब्धियों को अभिव्यक्त करने में समर्थ एकमात्र प्रणाली है। उदाहरणतः खड़े हुए देवदत्त को किन्हीं दो घटनाओं के बीच का अन्तराल ५ घण्टे ज्ञात हो रहा है और प्रकाश की गति जैसी तीव्र गति से चल रहे यज्ञदत्त को उन्हीं दो घटनाओं के बीच का अन्तराल ३ घण्टे ज्ञात हो रहा है, तब इन दोनों समयों के बीच जो (५—३=२) घण्टे का समय है वह वास्तव में है या नहीं? उत्तर यही होगा कि देवदत्त की अपेक्षा वह समय है, तथा यज्ञदत्त की अपेक्षा वह समय नहीं है और यदि यह पूछा जाये कि वास्तव में वह समय है या नहीं तो यही उत्तर होगा कि यह बतलाना संभव नहीं है अर्थात् यह अवक्तव्य है। इन तीनों भागों के मेल (Permutation Combination) से सात भाग बन जायेंगे और सत्य को कहने का वही सर्वोत्तम उपाय सिद्ध होगा।

५. हमें यह कहने में संकोच नहीं होना चाहिए कि आईस्टीन ने सापेक्षता के कुछ ऐसे नये आयाम उद्घाटित किये हैं जो प्राचीन जैन आचार्यों को भी ज्ञात नहीं थे किंतु इससे अनेकान्त का सिद्धान्त और अधिक पुष्ट हुआ है और उसके मूलभूत ढांचे को कोई क्षति नहीं पहुंची है, यद्यपि देश और काल संबंधी जैन परम्परा में प्रचलित मान्यताओं में संशोधन करना आवश्यक हो गया है। दर्शन के क्षेत्र में ऐसे संशोधन पहले भी होते रहे हैं।
६. परापरमाणु के क्षेत्र में एक symmetry के सिद्धान्त ने विरोध में अविरोध देखने की दृष्टि दी। निम्न चार चित्रों को देखें—



इस चित्र में एक वर्तुल को दो भागों में बांटा गया है:—

अ. और ब। यदि यह पूछा जाये कि “अ” और “ब” भिन्न हैं या अभिन्न तो कहना होगा कि क्षेत्र की दृष्टि से “अ” और “ब” भिन्न किंतु आकृति की

दृष्टि से अभिन्न है। इन दोनों में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव है। उत्पाद और व्यय में परस्पर ऐसा ही बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव है। इनमें एक दूसरे के बिना नहीं रह सकता। वे विरोधी हैं किंतु इन दोनों का सहअस्तित्व भी बना है यही विरोध में अविरोधी की स्थापना है जिसे देखने की दृष्टि हमें अनेकान्त देता है।

७. साधना के क्षेत्र में देश-काल की समन्वित अवधारणा ने एक नयी दृष्टि दी है हम सबका देश और काल पृथक्-पृथक् है किंतु समन्वित देश-काल सबका एक है। यह समन्वित देश-काल “अब और यहीं” को एक मात्र सत्य मानता है जो कि व्यक्ति निरपेक्ष है। जब तक हम “अब और यहीं” अर्थात् वर्तमान में हैं तब तक हम वीतरागता की स्थिति में हैं जैसे ही हम भूत की स्मृति और भविष्य की कल्पना में जाते हैं वैसे ही राग-द्वेष हमें आकर घेर लेते हैं। राग-द्वेष में हमारी दृष्टि रञ्जित हो जाती है। अतः हम सबका सत्य अलग-अलग हो जाता है किंतु वीतरागता की दृष्टि से हम सबका सत्य एक ही रहता है।

द्वन्द्वों की दुनिया

पदार्थ का नाम और रूप उस पदार्थ को दूसरे पदार्थ से भिन्न बनाता है। भेद का आधार है—विषमता। यह विषमता ही द्वैत का आधार है। अंधकार है इसलिए प्रकाश का नाम प्रकाश है। अंधकार न हो तो प्रकाश शब्द ही न बन पाये। प्रकाश और अंधकार को साथ-साथ रहना होता है। यदि अंधकार में प्रकाश का अंश न हो तो अंधकार भी दृष्टिगोचर नहीं हो सकेगा। प्रकाश में भी तरतमता रहती है। प्रकाश की यह तरतमता प्रकाश में रहने वाले अंधकार के अंश के कारण है। अंधकार जैसे-जैसे कम होता जायेगा प्रकाश वैसे-वैसे बढ़ता जायेगा।

यह द्वन्द्व सब स्तरों पर काम कर रहा है। व्यक्ति के स्तर पर प्राण और अपान के बीच द्वन्द्व है। व्यान इन दोनों में समन्वय स्थापित करता है। जब यह सामज्जस्य टूट जाता है तो प्राण और अपान भी समाप्त हो जाते हैं और इनके समाप्त होने पर जीवन ही समाप्त हो जाता है।

पाप-पुण्य

आचार के क्षेत्र में पाप और पुण्य का द्वन्द्व है। जब तक पुण्य है, तब तक पाप भी है। साधक को यदि बंधन मुक्त होना है, तो उसे शुभ-अशुभ दोनों से परे जाना होगा।

ज्ञान-कर्म

दर्शन के और साधना के इतिहास में ज्ञान और कर्म का विरोध प्रसिद्ध है। प्रयत्न किया गया कि कर्म को छोड़ा जाये, क्योंकि वह बंधन का कारण है। किंतु इसमें सफलता नहीं मिल सकी। ज्ञान है तो कर्म भी होगा ही। इसलिए साधना में जागरूकता की बात आई, कर्म छोड़ने की बात नहीं। कर्म करें किंतु साक्षी भाव रखें। कर्म करें किंतु द्रष्टा बने रहें कि आप क्या कर रहे हैं—यही भावक्रिया है। भावक्रिया में ज्ञान और कर्म का समन्वय है। जहां समन्वय नहीं रह पाता वहां कर्म यान्त्रिक हो जाता है—यह बंधन का कारण है और यदि कोई कर्म को सर्वथा छोड़ देने का दुराग्रह कर बैठे तो उसका जीवन चलना ही संभव नहीं है।

प्रवृत्ति-निवृत्ति

हम इष्ट को स्वीकार करें—यह प्रवृत्ति है। अनिष्ट को अस्वीकार करें—यह निवृत्ति है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों जीवनरथ के दो पहिए हैं। एक भी पहिया हट जाये तो रथ नहीं चल सकता।

बिम्ब-प्रतिबिम्ब

Symetry का सिद्धांत अद्भुत है—यह जिन दो पदार्थों में रहती है—उनमें बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव रहता है। बिम्ब और प्रतिबिम्ब में बहुत समानता रहती है किंतु फिर भी वे एक दूसरे के विपरीत होते हैं। दर्पण में पड़ने वाले हमारे मुख का प्रतिबिम्ब हमारे बाह्य अंग को दाईं ओर तथा दाएं अंग को बाईं ओर प्रदर्शित करता है। उत्पाद और व्यय में, जन्म और मृत्यु में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव है। वे दोनों परस्पर विरोधी दृष्टिगोचर होते हैं, किंतु हीं दोनों एक दूसरे के बिम्ब। जन्म और मृत्यु एक क्षण-विशेष में नहीं होते प्रत्युत प्रत्येक क्षण होते रहते हैं। शरीर शास्त्र की भाषा में एक सेकेण्ड में हमारे शरीर की ५ करोड़ कोशिकाएं नष्ट हो रही हैं और उतनी ही कोशिकाएं नई उत्पन्न हो रही हैं। इस प्रकार जन्म और मृत्यु साथ-साथ चल रहे हैं।

दुःख-सुख

मुद्दे की बात यह है कि दुःख और सुख साथ-साथ चलते हैं। हमारा सारा पुरुषार्थ यह लक्ष्य लेकर चलता है कि सुख तो रहे किंतु दुःख न रहे हमने यह लक्ष्य ऐसा बना लिया है जिसकी प्राप्ति कभी संभव नहीं है। सुख रहेगा तो दुःख भी रहेगा ही। इस बात को समझकर लक्ष्य यह बनाया जाना चाहिए कि हम सुख और दुःख में व्याकुल न हों। दोनों को एक ही सत्य के दो रूप मानकर स्वीकार करें।

यथा आगत तथागत

हम प्रकृति के नियम के विरुद्ध नहीं जा सकते। विश्व की व्यवस्था ही ऐसी है कि उसके मूल में विरोधी युगल एक साथ रहते हैं। हमारी कठिनाई यह है कि हम उनमें से एक को अनुकूल और दूसरे को प्रतिकूल माने हुए हैं। हमने यह मान लिया है कि जीवन अनुकूल है, मृत्यु प्रतिकूल। हमें यह भी समझना चाहिए कि जीवन मृत्यु के बिना टिक नहीं सकता। जन्म होता रहे और मृत्यु न हो तो संसार नरक हो जाये। महात्मा बुद्ध का एक नाम है “तथागत”। “तथागत” का शब्दार्थ है जैसा आया वैसा गया। आना और जाना परस्पर पूरक हैं। न आने की प्रसन्नता, न जाने का दुःख—दोनों के प्रति केवल जैसे हैं, उस रूप में उन्हें जानने का भाव तथागतता है। कोई भी एक भाव एक क्षण के लिए टिकता है तो दूसरे क्षण उसका विरोधीभाव उसे पदच्युत कर देता है। इस क्षणिकता को समझकर महात्मा बुद्ध तथागत बन गये।

भेदाभेद

भेद में छिपे अभेद को तब जाना जा सकता है जब हम सूक्ष्मता में जायें। स्थूल स्तर पर भेद ही दृष्टिगोचर होता है। वस्तुस्थिति यह है कि पूरा सत्य स्थूल और सूक्ष्म जोड़कर बना है इसलिए जो सूक्ष्म को नहीं जान पाता उसके लिए भिन्नता शक्ति का पर्यायवाची बन जाती है। जब वह सूक्ष्म को जान लेता है तब भेद उसके लिए परिपूरकता का पर्यायवाची बन जाता है।

व्यक्ताव्यक्त

हममें से हर एक के व्यक्त रूप के पीछे एक अव्यक्त रूप भी छिपा है। परिवर्तन का अर्थ है—अव्यक्त का व्यक्त हो जाना और व्यक्त का अव्यक्त हो जाना। यही हमारे लिए नयी सम्भावनाओं का द्वार खोलता है। ध्यान इसलिए रूपान्तर का साधन बन सकता है कि वह हममें छिपे हुए को उद्घाटित कर सकता है। रोग एक पर्याय है। निरोगता उसके पीछे छिपी है इसलिए कोई भी रोगी स्वरथ हो सकता है। इस संभावना को समझकर आत्मविश्वास जगाने की आवश्यकता है।

प्रायः समझा जाता है कि जैन दर्शन द्वैतवादी है। वस्तुतः जैन दर्शन द्वैताद्वैतवादी है। इसी आधार पर प्राणी मात्र के अद्वैत को समझा जा सकता है। स्थावर-त्रस-पशु-मनुष्य ये सब व्यक्त पर्याय हैं और भिन्न-भिन्न हैं। इनके पीछे छिपी हुई एक ही चेतना है।

निश्चय-व्यवहार

स्थूल स्तर पर व्यवहार नय कार्य करता है सूक्ष्म स्तर पर निश्चय नय। दोनों को जोड़कर ही पूरा सत्य बन पाता है। विज्ञान के क्षेत्र में भौतिक स्तर पर हम सापेक्षता को समझते हैं किंतु आध्यात्मिक क्षेत्र में अनेकान्त का अर्थ है—वीतरागता।

सूक्ष्म को जानने का उपाय है—प्रेक्षा। देखते हम सब हैं किंतु देखने के साथ अपने पूर्वाग्रहों को जोड़े रखते हैं। ये पूर्वाग्रह राग-द्वेष जनित हैं। प्रेक्षा का अर्थ है पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर देखना।

पूर्वाग्रह केवल धर्म दर्शन के क्षेत्र में बाधक नहीं है, विज्ञान के क्षेत्र में भी बाधक है। देश काल के प्रति हमारा एक पूर्वाग्रह था कि वे बदलते नहीं हैं। प्रकाश की गति से उत्पन्न होने वाली समस्याओं का समाधान देशकाल की इन अवधारणाओं के साथ संभव नहीं था। आईस्टीन ने अपने आपको इन पूर्वाग्रहों से मुक्त किया तो विज्ञान के क्षेत्र में एक बहुत बड़ा सिद्धांत विकसित हो सका। बहुत बार जिन सत्यों को हम स्वतः सिद्ध मान लेते हैं वे वस्तुतः हमारे पूर्वाग्रह होते हैं। विज्ञान की सारी प्रगति इस आधार पर होती है कि पुरानी धारणाएं खण्डित हो जाती हैं और नयी स्थापित हो जाती हैं। यदि हम पुरानी धारणा छोड़ने के लिए तैयार नहीं तो नई धारणा प्रतिष्ठित ही नहीं हो सकती और इस प्रकार विकास अवरुद्ध हो जाता है।

विज्ञान के क्षेत्र में तो पुरानी अवधारणाओं को छोड़ना कई बार इतना कठिन नहीं भी होता, किंतु धर्म दर्शन के क्षेत्र में हमारी धारणाएं भावनाओं से मिली होती हैं और उन्हें छोड़ने के लिए अपना अतिक्रमण करना होता है, यही सच्चा रूपान्तरण है।

पूर्णता-अपूर्णता

सापेक्षता का एक आयाम है पूर्णता और अपूर्णता का सहअस्तित्व। परमार्थतः हम पूर्ण हैं अर्थात् अपने शुद्ध रूप में हम पूर्ण हैं। किंतु हमारे व्यावहारिक रूप में अपूर्णता रहती है। व्यवहार का आधार है विचार और भाषा। जैसे ही हम सत्य को विचार और भाषा में बांधना चाहते हैं वैसे ही वह सत्य खण्डित हो जाता है। यदि इस बात को समझ लें कि हम जो सोच रहे हैं या कह रहे हैं—वह सत्य का एक अंश हो सकता है, पूर्ण सत्य नहीं—तो हमारा दुराग्रह समाप्त हो जायेगा। खण्डित सत्य का अर्थ है सापेक्ष सत्य। जब हम निरपेक्षता पर जाते हैं तो भाषा अवरुद्ध हो जाती है। वहां न भाषा पहुंचती है, न बुद्धि, न तर्क। विचार का अपना महत्त्व है — वह सापेक्ष सत्य को जानता

है। निर्विचारता का अपना महत्त्व है—वहाँ निरपेक्ष सत्य प्रकट होता है। जहाँ सापेक्षता होगी वहाँ पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों रहेंगे जिसे हम मुख्य मान लेंगे—वह पक्ष हो जायेगा जिसे हम गौण मान लेंगे वह प्रतिपक्ष हो जायेगा।

विचार एक भौतिक पदार्थ है। जब हम विचार करते हैं तो कुछ परमाणु उसमें प्रभावित होते हैं और फिर वे परमाणु आकाश में फैल जाते हैं। यदि हम उन परमाणुओं को पढ़ना सीख सकें तो अतीत के विचार को भी वर्तमान में जान सकते हैं। यही सार्वभौम मन का अर्थ है। हर विचार अपने आने के साथ एक चित्र लेकर आता है। यदि दूरदर्शन के द्वारा एक स्थान का चित्र दूसरे स्थान पर आ सकता है तो केवल ज्ञान द्वारा अतीत और भविष्य का चित्र भी वर्तमान में देखा जा सकता है। इसीलिए केवली का भूतकाल और भविष्यकाल समाप्त हो जाता है। अनन्तज्ञान का यही अर्थ है।

अनाग्रह

अनेकान्त विचार का लचीलापन है। यह स्वीकार्य है, यह स्वीकार्य नहीं है—यह रागद्वेष की दृष्टि है। वीतरागता में स्वीकार्यता और अस्वीकार्यता—दोनों सापेक्ष हो जाती हैं। यह एक तीसरा मार्ग है—समता का मार्ग। समता के मार्ग में सोचा यह जाता है कि हम प्रत्येक परिस्थिति में कैसे अविचलित रह सकते हैं। यह नहीं सोचा जाता कि हम परिस्थिति को कैसे बदल सकते हैं। यदि हम कुछ समय के लिए परिस्थिति को अनुकूल बना भी लें तो वह अनुकूलता सदा रहने वाली नहीं है। फिर किसी दूसरे प्रकार की प्रतिकूलता आ धमकेगी और यह शूँखला कभी समाप्त नहीं होगी। परिस्थिति अपने आप में जैसी है वैसी है। उसमें अनुकूलता-प्रतिकूलता हम अपनी राग-द्वेष की दृष्टि के कारण आरोपित करते हैं। वह परिस्थिति का अपना धर्म नहीं है। यह अनेकान्त का साधना पक्ष है।

जन्म-मृत्यु

हमें दो चर्म-चक्षुओं से जन्म और मृत्यु दिखती है। यह उत्पाद-व्यय है। यदि पुनर्जन्म को जानना हो तो उत्पाद व्यय की लड़ी के बीच से गुजरने वाली ध्रुवता को जानना होगा उसके लिए तृतीय नेत्र खुलाना चाहिए। विज्ञान ने सूक्ष्म पर्यायों को उद्घाटित करके हमारे तीसरे नेत्र को खोलने में सहायता की है।

अनेकान्त हमें बताता है कि साधना में किसी के लिए ध्यान अनुकूल, किसी के लिए जप, किसी के लिए प्राणायाम। सबके लिए एक ही उपाय करना कारगर नहीं हो सकता क्योंकि सब व्यक्ति एक जैसे नहीं होते।

तृतीय नेत्र

इस प्रकार अनेकान्त के अनेक स्तर हैं। तत्त्व मीमांसा में वह अनित्यतायुक्त ध्रुवता है, आचार मीमांसा में वह समता है और विचार मीमांसा में वह तटस्थता। प्रसिद्ध है कि शिव के तीसरे नेत्र में से निकलने वाली अग्नि ने काम दहन कर दिया था। समझा जाता है कि स्त्री-पुरुष के परस्पर सम्पर्क में आने से कामवासना जागती है। यह एक कारण है। इसमें सूक्ष्म कारण है—पीनियल और पिच्युटरी ग्रन्थि के स्राव का गोनाड़स पर स्रवित होना। इसमें भी सूक्ष्म कारण है मोहनीय कर्म का उदय और उसमें भी सूक्ष्म है भाव संस्थान की सक्रियता। तृतीय नेत्र का पुराना नाम है—आज्ञाचक्र। वहीं पीनियल और पिच्युटरी ग्रन्थि है। इस स्थान पर ध्यान करने से पिच्युटरी और पीनियल ग्रन्थि के स्राव बदल जाते हैं और गोनाड़स पर नहीं जा पाते। तब कामवासना अपने आप समाप्त हो जाती है।

परिस्थिति-मनःस्थिति

परिस्थिति और 'मनःस्थिति' का भी निर्णय सापेक्ष दृष्टि से करना होगा। इन दोनों में से किसी एक पर दायित्व नहीं डाला जा सकता। इस प्रकार जहाँ भी दो मत हमारे सम्मुख आयें वहाँ उन दोनों के बीच सापेक्ष भाव से समन्वित दृष्टि अपनानी होगी। हमारी दृष्टि को सेराटोनिन रसायन प्रभावित करता है। यह प्रभाव शास्त्रीय भाषा में दर्शन मोहनीय और चरित्र मोहनीय कर्म का है। प्रसिद्ध मादक एल.एस.डी. में सेराटोनिन रसायन रहता है जो हमारी चेतना को मूर्छित करता है। यह मूर्छा ही दर्शन मोहनीय कर्म है। दर्शन मोहनीय चेतना के केन्द्रों पर ध्यान करने से मूर्छा का विघटन होता है और दृष्टि बदलती है। हम समझते हैं कि कामवासना और स्नेहभाव बंधन है, किंतु इन दोनों से भी बड़ा बंधन है दृष्टि के प्रति राग—

कामरागस्नेहरागौ ईष्टकरनिवारणौ
दृष्टिरागस्तु पापीयान्, दुरुच्छेदः सत्तामपि।

साधु गृहस्थी के बंधन को छोड़ देता है, पर शास्त्र में आसक्त हो जाता है। शास्त्र की आसक्ति का अर्थ है विचारों के प्रति आग्रह। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा कि मूल बात राग-द्वेष का समाप्त होना है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव या जिन, कोई भी हो जिसमें राग-द्वेष नहीं, वह वन्दनीय है—

भवबीजांकुरजननाः, रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा शिवो जिनो वा नमस्तस्मै।

इसी भावना को आचार्य हरिभद्र ने अपने शब्दों में प्रकट किया कि युक्ति संगतता के सम्मुख न कोई अपना है, न कोई पराया—

**पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥**

रागद्वेष से युक्त व्यक्ति युक्तिसंगत बात कर ही नहीं सकता और जो युक्तिसंगत बात करेगा, वह रागद्वेष में फंस ही नहीं सकता। धर्म के तर्क संगत होने का यही अर्थ है। तर्क का प्रयोग दर्शन शास्त्र में हुआ किंतु दर्शन का मुख्य अर्थ था—सत्य को देखना। जीवन की समस्याएं तर्क से नहीं सुलझती हैं। वे सुलझती हैं सत्य के साक्षात्कार से। जहां तर्क समाप्त होता है, वहां वार्तविक दर्शन—सत्य का साक्षात्कार—प्रारम्भ होता है।

तर्कातीत सत्य

तर्क का अपना उपयोग है। जो व्यवस्थाएं हमने बनाई हैं उनका आधार तर्क है और तर्क के आधार पर उन्हें बदला भी जा सकता है—बदला जाना भी चाहिए। सारी व्यवस्थाओं का विकास इसी प्रकार होता है। हम अराजकता से राजतंत्र पर और राजतंत्र से लोकतंत्र पर तर्क के सहारे आये हैं। ये हमारे विकास का इतिहास हैं। पशु ने ऐसा कोई विकास नहीं किया क्योंकि उसमें तर्क बुद्धि नहीं है। किंतु तर्क हमें पक्षपात से मुक्ति नहीं दिला पाता। तर्क का जितना उपयोग सत्य को सिद्ध करने के लिए हुआ है—असत्य को सिद्ध करने के लिए भी तर्क का उपयोग उससे कम नहीं हुआ। किंतु साक्षात्कार सदा सत्य का ही सहायक बना है।

संभावनायें और योजनायें

अनेकान्त हमें संशय में डाल सकता है—यह आक्षेप बहुत पुराना है। वस्तुतः अनेकान्त संशय में नहीं डालता अपितु संभावनाओं के द्वार खोलता है। निर्णय वर्तमान पर्याय के आधार पर किया जाता है किंतु यदि हम भविष्य की पर्यायों की संभावना पर ध्यान न दें तो विकास के लिए कोई योजना ही नहीं बना सकेंगे। कोई भी निर्णय जब तक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की समझ के साथ न लिया जाये तब तक वह निर्णय ठीक नहीं हो सकता। विज्ञान में संभावनावाद का सिद्धांत मान्य है। संभावना का अर्थ संशय नहीं है। संभावना का अर्थ है—बदल सकने की क्षमता। व्यवहार वर्तमान के आधार पर होगा, योजना भविष्य की संभावना के आधार पर बनेगी। जिस प्रकार भविष्य के लिए योजना बनाना आवश्यक है उसी प्रकार अतीत से सीखना भी आवश्यक है। वस्तुतः अतीत, वर्तमान और भविष्य का विभाजन हम अपनी अपेक्षा से करते हैं। काल

में ऐसा कोई विभाजन नहीं है। निरपेक्ष काल अविभक्त ही है। जब तक हम विभक्त काल को ही एकमात्र सत्य मान लेते हैं तो यह काल का एक पक्षीय दृष्टिकोण हुआ।

जड़-चेतन

जब जड़ और चेतन बंधे रहते हैं तो अन्योन्य सापेक्ष होते हैं। स्वतंत्र होने पर वे निरपेक्ष हो जाते हैं। इस प्रकार सापेक्ष की भी सत्प्रतिपक्ष निरपेक्षता है। निश्चय और व्यवहार की अनेक परिभाषाएं हैं। एक परिभाषा यह भी है कि अतीन्द्रिय ज्ञान निश्चय नय का विषय है, इन्द्रिय ज्ञान व्यवहारनय का विषय है। निश्चय सूक्ष्म को पकड़ता है, व्यवहार स्थूल को पकड़ता है—पूर्ण सत्य दोनों के समन्वय से प्राप्त होता है।

अस्तित्व के आधार पर केवल अभेद है क्योंकि अस्तित्व सबमें समान रूप से है। विशेष गुणों की अपेक्षा सबमें भेद है। उसके बिना किसी पदार्थ की अलग से सत्ता ही नहीं बन सकती।

महाप्रज्ञ उवाच

अमेरिकन भौतिक विज्ञान वेत्ता ए.ए. माइकलसन और ई. डब्ल्यू. मोरले ने १८८१ में एक भव्य परीक्षण किया। उनके परीक्षण के पीछे निहित सिद्धान्त काफी सीधा था। उनका तर्क था कि यदि सम्पूर्ण आकाश केवल ईथर का एक गतिहीन सागर है तो ईथर के बीच पृथ्वी की गति का ठीक उसी तरह पता लगाना चाहिए और पैमाइश होनी चाहिए, जिस तरह नाविक सागर में जहाज के वेग को मापता है। जैसा कि न्यूटन ने इंगित किया था, जहाज के अन्दर के किसी यान्त्रिक परीक्षण द्वारा शांत जल में चलने वाले जहाज की गति मापना असम्भव है। नाविक जहाज की गति का अनुमान सागर में एक लड्डा फेंककर और उससे बंधी रस्सी की गांठों के खुलने पर नजर रखकर लगाते हैं। अतः ईथर के सागर में पृथ्वी की गति का अनुमान लगाने के लिए माइकलसन और मोरले ने लड्डा फेंकने की क्रिया सम्पन्न की। अवश्य ही यह लड्डा प्रकाश की किरण के रूप में था। यदि प्रकाश सचमुच ईथर में फैलता है, तो इसकी गति पर पृथ्वी की गति के कारण उत्पन्न ईथर की धारा का प्रभाव पड़ना चाहिए। विशेष तौर पर, पृथ्वी की गति की दिशा में फेंकी गयी प्रकाश-किरण में ईथर की धारा से उसी तरह हल्की बाधा पहुंचानी चाहिए, जैसी बाधा का सामना एक तैराक को धारा के विपरीत तैरते समय करना पड़ता है, इसमें अन्तर बहुत थोड़ा होगा, क्योंकि प्रकाश का वेग (जिसका ठीक-ठीक निश्चय सन् १८४१ में हुआ) एक सेकेण्ड में १,८६,२८४ मील है, जबकि सूर्य के चारों ओर अपनी धुरी पर पृथ्वी का वेग केवल बीस मील प्रति सेकेण्ड होता है, अतएव ईथर धारा को विपरीत दिशा में फेंके जाने पर प्रकाश किरण की गति १,८६,२८४ मील होनी चाहिए और यदि सीधी दिशा में फेंकी जाए तो १,८६,३०४ मील। इन विचारों को मस्तिष्क में रखकर माइकलसन और मोरले ने एक यंत्र का निर्माण किया, जिसकी सूक्ष्मदर्शिता इस हद तक पहुंची हुई थी कि वह प्रकाश के तीव्र वेग में प्रति सेकेण्ड एक-एक मील के अंतर को

भी अंकित कर लेता था। इस यंत्र में, जिसे उन्होंने “व्यतिकरणमापक” (Intererometer) नाम दिया, कुछ दर्पण इस तरह लगाए हुए थे कि एक प्रकाश किरण को दो भागों में बांटा जा सकता था और एक साथ ही दो दिशाओं में उन्हें फेंका जा सकता था। यह सारा परीक्षण इतनी सावधानी से आयोजित और पूरा किया गया कि इसके परिणामों में किसी तरह के संदेह की गुंजाइश नहीं रह गयी। इसका परिणाम सीधे—सादे शब्दों में यह निकला “प्रकाश-किरणों के वेग में, चाहे वे किसी भी दिशा में फेंकी गयी हों, कोई अन्तर नहीं पड़ता।”

* * * * *

शिक्षा

आहंसु विज्ञा चरणं पमोकर्खं

शिक्षा का नया आयाम

शरीर के लिए पदार्थ चाहिए। किंतु मनुष्य जीवन के लिए केवल पदार्थ ही पर्याप्त नहीं है। मनुष्य स्वभाव से ही यह जानना चाहता है कि इस विश्व का क्या स्वरूप है और इसमें उसका क्या स्थान है। इस ज्ञान के बिना समस्त आवश्यक पदार्थ भी मनुष्य को संतुष्ट नहीं कर सकते। कठोपनिषद् में कहा गया है कि मनुष्य धन से तृप्त नहीं हो सकता। बाईबल कहती है कि मनुष्य केवल भोजन से ही जीवित नहीं रहता है। जिन लोगों के पास जीवन की सारी सुविधाएं हैं वे भी न केवल असंतुष्ट हैं या न केवल दुखी हैं अपितु दिड्मूढ़ भी हैं।

वर्तमान शिक्षा जानकारी दे रही है, संस्कार नहीं

शिक्षा का काम मनुष्य को संस्कार देना माना जाता रहा है। इन संस्कारों का आधार एक दृष्टि है। विज्ञान के विकास के साथ शिक्षा में केन्द्रीय स्थान विज्ञान को प्राप्त हो गया। विज्ञान हमें जानकारी देता है किंतु विज्ञान यह नहीं बता पाता कि इस जानकारी का उपयोग किस उद्देश्य के लिए किया जाए। परिणाम यह हुआ कि आज कि शिक्षा ने हमें सूचनाएं तो बहुत सी दे दी किंतु यह नहीं बता पाई कि इन सूचनाओं का उपयोग क्या हो। इससे एक दिड्मूढ़ता पैदा हो गई। हमारे पास सूचनाएं हैं किंतु हम यह नहीं जानते कि इन सूचनाओं का उपयोग क्या करें। विज्ञान का विषय भौतिक पदार्थ रहे और उन भौतिक पदार्थों के संबंध में विज्ञान ने हमें बहुत सी सूचनाएं दी। प्रकृति के अनेक रहस्य उद्घाटित किए जिसके फलस्वरूप अनेक यंत्रों का निर्माण हुआ और नई तकनीक विकसित हुई किंतु इन सब तकनीकों के बावजूद शिक्षा हमें वह दृष्टि नहीं दे पाई जिससे हम यह समझ पाएं कि हमें करना क्या है। विज्ञान ने यह बताया कि कैसे किया जाए किंतु यह नहीं बताया कि क्या किया जाए। फलस्वरूप विज्ञान के द्वारा प्रदत्त तकनीक का मनुष्य मनमाना प्रयोग करने लगा। जिसके परिणाम स्वरूप पर्यावरण प्रदूषण जैसी चिंताजनक

समस्याएं खड़ी हो गई। वस्तुस्थिति यह है कि जितना महत्त्व इस बात का है कि हम कैसे करें उससे कम महत्त्व इस बात का भी नहीं है कि हम क्या करें।

शिक्षा का अवमूल्यन हुआ है

जैसे आदिमकालीन मनुष्य विज्ञान और तकनीक से वंचित होने के कारण सारे कार्य अनगढ़ तरीके से करता था वैसे ही मूल्यविहीन शिक्षा के अभाव में हम अनगढ़ तरीके से सोचते हैं और अनगढ़ तरीके से व्यवहार करते हैं। जिस प्रकार आदिमकालीन मनुष्य के काम करने का अनगढ़ तरीका उसे शारीरिक कष्ट में डाले हुए था उसी प्रकार अनगढ़ तरीके से विचार करने का उपक्रम हमें मानसिक रूप से कष्ट में डाले है। हमें अपने जीवन का न कोई महत्त्व अनुभव होता और न जीवन का कोई गंभीर अर्थ ही प्रतीत होता है।

हम केवल तथ्यों को नहीं जानना चाहते और न केवल प्रशिक्षण या सूचनाएं प्राप्त करना चाहते हैं अपितु यह भी जानना चाहते हैं कि हमारे जीवन का प्रयोजन क्या है। कहा जा सकता है कि इस प्रश्न का उत्तर पाना एक दार्शनिक उपक्रम है और आवश्यक नहीं है कि सभी दार्शनिक हों। वास्तविकता यह है कि प्रकृति में कहीं भी शून्य नहीं रहता है। जब हम यह नहीं जानते हैं कि हमारे जीवन का प्रयोजन क्या है तो हमारा मस्तिष्क स्वेच्छा से हमारे सामने कोई न कोई लक्ष्य प्रस्तुत कर देता है। इन लक्ष्यों का निर्धारण हम स्वेच्छापूर्वक नहीं करते। परिणाम यह होता है कि हमारा मस्तिष्क हमारे सम्मुख अत्यन्त तुच्छ लक्ष्य घड़ कर रख देता है। उदाहरणतः रोटी कपड़ा मकान का जुगाड़ करना हमारे जीवन का लक्ष्य बन जाता है। किंतु साथ ही हम यह भी अनुभव करते हैं कि रोटी कपड़ा मकान हमारे अस्तित्व को बनाये रखने का साधन भले ही हो किंतु वह हमारे अस्तित्व का उद्देश्य नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में हम सदा दुविधा में जीते रहते हैं। हमें अपने जीवन का लक्ष्य उन्हीं चीजों को मानना पड़ता है जिन चीजों को हम हृदय से अपने जीवन का लक्ष्य स्वीकार नहीं कर सकते। परिणाम स्वरूप रोटी कपड़ा मकान के लिए किया गया संघर्ष एक लक्ष्य विहीन नीरस नाटक बन कर रह जाता है।

पशु नहीं है मनुष्य

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है और उसे पग-पग पर यह सोचना होता है कि वह क्या करे और क्या न करे। यही मनुष्य जीवन है। पशुओं के सामने प्रायः यह दुविधा आती ही नहीं है और आए भी तो प्रकृति उन्हें घड़े-घड़ाए उत्तर दे देती है। उन्हें तब तक किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं होती जब

तक कि मनुष्य ही उन्हें अपने किसी प्रयोजन या स्वार्थ से शिक्षित न करना चाहे।

विज्ञान की सीमा

वस्तुस्थिति यह है कि हमें अपने जीवन के लिए विज्ञान के केवल उन्हीं पक्षों को जानने की आवश्यकता है जिन पक्षों से हमें उन कार्यों में सहायता मिलती हो जिन कार्यों को मनुष्य स्वयं अपने जीवन में करना चाहता है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति संगणक पर कार्य करना चाहे तो उसे वायुविमान के सिद्धांत जानना बिल्कुल आवश्यक नहीं है। इसलिए विज्ञान में विशेषज्ञता का महत्व दिया जाता है, किंतु जहां तक जीवन के प्रयोजन का प्रश्न है उसका जानना सभी के लिए आवश्यक है।

कठिनाई यह है कि आज हम हर चीज विज्ञान के द्वारा जानना चाहते हैं। जब तक कोई चीज प्रयोग के द्वारा सिद्ध न हो जाए हम उसे मानने के लिए तैयार नहीं हैं। स्पष्ट है कि जीवन का उद्देश्य क्या है यह प्रयोग के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। फलतः हम यह मान बैठे हैं कि दर्शन अथवा धर्म एक काल्पनिक वस्तु है, वास्तविक तो विज्ञान ही है। विज्ञान को यह महत्व देने का परिणाम यह हुआ कि विज्ञान ने हमें एक भ्रांत दर्शन देना भी प्रारम्भ कर दिया।

दर्शन और विज्ञान

विज्ञान ने जो दर्शन हमें दिया उसकी कुछ महत्वपूर्ण किंतु भ्रांत मान्यताएं इस प्रकार हैं—पहली भ्रान्त मान्यता यह है कि मनुष्य पशु का ही एक विकसित रूप है, इसलिए मनुष्य और पशु में परिमाणात्मक अन्तर तो है किंतु गुणात्मक अंतर नहीं है। पशु के जीवन का एक ही पक्ष है—शरीर यात्रा का निर्वहन। वह सत्यम्, शिवम् अथवा सुन्दरम् की खोज नहीं करता है। मनुष्य जाति का इतिहास भौतिक संपदा के लिए संघर्ष का इतिहास है। किंतु मनुष्य उस संघर्ष को छिपाने के लिए धर्म या दर्शन का आवरण ओढ़े रहता है। भौतिक संघर्ष में विजय उसकी होती है जो शक्तिशाली है। मनोवैज्ञानिकों ने भौतिक संघर्ष के साथ यह भी जोड़ दिया कि मनुष्य की समस्त प्रवृत्तियाँ कामना से प्रवृत्त होती हैं। स्पष्ट है कि विज्ञान द्वारा प्रदत्त इस दृष्टिकोण में इस बात के लिए कोई स्थान नहीं था कि मनुष्य अपने से ऊपर भी उठ सकता है। मान यह लिया गया कि विज्ञान के द्वारा प्रदत्त यह दृष्टि वैज्ञानिक है किंतु यदि थोड़ी गंभीरता से देखें तो इन मान्यताओं में ऐसा वैज्ञानिक कुछ भी नहीं है जिसे वस्तुनिष्ठ कहा जा सके। मनुष्यजाति के इतिहास में ऐसे असंख्य

उदाहरण भरे पड़े हैं जहां मनुष्य लोभ से ऊपर उठा है और उसने काम पर विजय पाई है। विज्ञान ने जो मान्यताएं हमें दी उन्होंने जीवन को कोई गहरा अर्थ नहीं दिया। वस्तुस्थिति यह है कि जीवन की और अस्तित्व की जो गहराई है उसे इसलिए प्रदर्शित नहीं किया जा सकता कि वह सूक्ष्म है और विज्ञान की यह जिद है कि जो प्रदर्शित न हो सके वह सत्य ही नहीं है।

जीवन के प्रति विज्ञान की इस दृष्टि ने हमारी शिक्षा व्यवस्था को खोखला कर दिया है। दर्शन और धर्म हमें वे दृष्टि और विश्वास देते हैं जो जीवन का मार्ग प्रशस्त कर सके। पहली बात तो यह है कि विज्ञान केवल कुछ प्राक् कल्पनाएं देता है सिद्धान्त नहीं। उन प्राक् कल्पनाओं के आधार पर कुछ कार्य सिद्ध हो सकते हैं। इस प्रवृत्ति ने हर क्षेत्र में काम चलाऊ नीति अपनाने की मानसिकता दे दी है। परिणामस्वरूप आज राजनीति सिद्धांत विहीन हो गई है। उस पर अवसरवादिता सवार है। जिसे विज्ञान प्राक् कल्पना (Hypothesis) कहता है वह मूल्यों के क्षेत्र में वस्तुतः अवसरवादिता बन जाती है। पदार्थ जगत् में तो प्राक् कल्पनाओं से काम चल सकता है किंतु जीवन इतना सस्ता नहीं है कि उसे सिद्धान्त के बिना काम चलाऊ मान्यताओं के आधार पर चलाया जा सके।

जीवन के लिए हमें उसका केन्द्र निर्धारित करना होता है। वह केन्द्र काम चलाऊ नहीं होता। हमारे समस्त विचार उस केन्द्र के ही ईदगिर्द घूमा करते हैं। यदि वह केन्द्र निर्धारित नहीं है तो हमारे सारे विचार बिखर जाते हैं। विचार के बिखरने पर हमारे कर्म भी बिखर जाते हैं। ऐसे जीवन में और पशु के जीवन में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। अस्तित्व में और जीवन में अन्तर है। अस्तित्व का अर्थ है—बने रहना। जीवन का अर्थ है किसी प्रयोजन के लिए प्रयत्नशील रहना। पशु का अस्तित्व होता है जीवन नहीं क्योंकि उसका कोई प्रयोजन नहीं होता। यदि मनुष्य भी प्रयोजनहीन है तो उसका भी अस्तित्व हो सकता है जीवन नहीं।

जीवन की अनेक पहेलियों में एक पहेली है विरोधों के बीच सामंजस्य बैठाना। सवेरे से शाम तक हमारे सामने विरोधी तत्त्व और विचार आते रहते हैं। हमें उन विरोधी विचारों के बीच में से अपना रास्ता चुनना होता है। विरोधी विचारों के बीच में से समन्वय का रास्ता निकालने की प्रक्रिया ही वस्तुतः जीवन है। यह समन्वय का मार्ग बना बनाया नहीं है हर एक को अपना मार्ग स्वयं बनाना होता है। विज्ञान में हम जहाँ तक हमारे पूर्ववर्ती पहुंचे हैं वहां से आगे चलना होता है। किंतु जीवन में हमें सबको प्रारम्भ से चलना होता है।

ऐसा संभव नहीं है कि जहाँ तक जीवन में मेरे पिता पहुँचे थे मैं अपना जीवन उससे भी आगे प्रारम्भ कर दूँ। इसलिए हर एक को अपना जीवन अपने ढंग से जीना होता है यही जीवन की विविधता है सरसता है। जीवन यांत्रिक नहीं हो सकता।

मनुष्य अतीत से सीखता है भविष्य की योजना बनाता है इससे उसकी दृष्टि में व्यापकता आती है। दृष्टि की इस व्यापकता का नाम ही नैतिकता है। नैतिकता ऊपर से लादे गये आदेशों का पुलन्दा नहीं है। मनुष्य ने अपने अतीत के अनुभव से यह जाना है कि वह पशुओं से गुणात्मक रूप से भिन्न है। इसलिए जंगल के नियम उस पर लागू नहीं होते। वह समाज बनाकर रहने में इसीलिए समर्थ हुआ है कि वह स्वार्थ से ऊपर उठ सकता है; केवल दूसरों के लिए त्याग कर ही नहीं सकता अपितु दूसरों के लिए बलिदान होने में सुख का अनुभव भी कर सकता है। जब तक मनुष्य इस मूलभूत बात को नहीं समझेगा तब तक उसकी दिड़मूढ़ता दूर नहीं हो सकती।

शिक्षा का काम केवल उन शाश्वत सत्यों को उजागर करना ही नहीं है जिनका साक्षात्कार प्रज्ञावान् पुरुषों ने किया है अपितु अपने अनुभवों से वर्तमान संदर्भ में उन मूल्यों की प्रासंगिता का विश्लेषण करना भी है। मूल्य शाश्वत है किंतु उनका विनियोग शाश्वत नहीं है। शिक्षा हमें बताती है कि शाश्वत मूल्यों का विनियोग वर्तमान परिस्थितियों में किस प्रकार किया जाए।

ऊपर हमने धर्म दर्शन का महत्त्व बताया; विज्ञान की अपूर्णता की ओर भी इंगित किया किंतु उसका यह अर्थ न माना जाए कि विज्ञान अनुपयोगी है। पदार्थ जगत् में विज्ञान की खोजों का महत्त्व असंदिग्ध है। विज्ञान की खोजों ने एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि हमें रथूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ने में सहायता दी। विज्ञान अपने आप में भले ही मूल्यों के प्रति तटस्थ रहा किंतु वैज्ञानिक भी मूल्यों के प्रति तटस्थ रहे यह आवश्यक नहीं है। जिन वैज्ञानिकों ने विज्ञान के माध्यम से उद्घाटित होने वाले रहस्यों पर विचार किया उन्होंने मनुष्य जाति को मूल्यवान् विचार भी दिए। धर्म दर्शन तो पहले ही रथूल की अपेक्षा सूक्ष्म को महत्त्व देता था किंतु विज्ञान भी जैसे-जैसे प्रगति करता गया वह सूक्ष्म-केन्द्रित हो गया। परिणाम यह हुआ कि विज्ञान और अध्यात्म एक दूसरे के बहुत निकट आ गए।

हमने ऊपर अस्तित्व और जीवन के भेद की जो चर्चा की है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भले ही समस्त अस्तित्व जीवन न जी रहा हो किंतु जो जीवन जी रहा है उसका भी अस्तित्व तो है ही। इसलिए विज्ञान ने जब अस्तित्व की सुरक्षा और सुविधा के उपाय जुटाये तो उसने एक प्रकार से

जीवन को भी समृद्ध बनाने में सहायता की। जहां कहीं विज्ञान ने केवल अस्तित्व की चिंता की और जीवन की उपेक्षा की वहां प्रबुद्ध विचारकों ने—जिनमें स्वयं वैज्ञानिक भी शामिल हैं—उसके विरुद्ध आवाज उठाई। विचारकों ने और वैज्ञानिकों ने यह भी अनुभव किया कि एक सीमा के बाद विज्ञान पर्यावरण प्रदूषण जैसे खतरों के द्वारा अस्तित्व को भी संकट में डाल देता है।

विज्ञान हमें पद्धति देता है। यह पद्धति विचार करने में भी सहायक सिद्ध होती है। वैज्ञानिक विचार पद्धति की एक सीमा अवश्य है क्योंकि कुछ सत्य तर्कातीत होते हैं किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि तर्क का कोई महत्त्व ही नहीं है। धर्म और दर्शन हमें करुणा प्रदान करता है तो विज्ञान तथ्यों के विश्लेषण द्वारा प्रकृति पर नियंत्रण रखने की शक्ति प्रदान करता है। धर्म दर्शन की करुणा और विज्ञान की शक्ति के मिलने पर एक नृसिंहावतार का जन्म होता है। इस समन्वय को शिक्षा के अतिरिक्त किसी और माध्यम से नहीं साधा जा सकता। जब शिक्षा इस समन्वय को साध लेती है तो मनुष्य के विचार और व्यवहार में तर्क और प्रेम तथा विश्लेषण और संश्लेषण के बीच एक संतुलन पैदा होता है। उस संतुलन के साथ मनुष्य जीता तो बाहर है किंतु रहता अन्दर है।

शिक्षा का उद्देश्य : चतुर्मुखी विकास

हम चार वाक्यों पर विचार करें—

- मैं मोटा/पतला हूँ।
- मैं भोजन करना/नहीं करना चाहता हूँ।
- मैं यह बात समझ/नहीं समझ रहा हूँ।
- मैं दुखी/सुखी हूँ।

उपर्युक्त चारों वाक्यों में ‘मैं’ का प्रयोग है, किंतु वह प्रयोग चारों वाक्यों में भिन्न-भिन्न संदर्भों में किया गया है। पहले वाक्य में ‘मैं’ का अभिप्राय शरीर है। दूसरे वाक्य में ‘मैं’ का अभिप्राय मन है। तीसरे में बुद्धि और चौथे में भावना। इसका यह अर्थ होता है कि हम ‘मैं’ का प्रयोग इन चारों अर्थों में करते हैं ऐसा इसलिए होता है कि हमारे व्यक्तित्व के शरीर मन, बुद्धि और भावना ये चार घटक हैं। यदि शिक्षा का प्रयोजन हमारा विकास है तो शिक्षा को हमारे चारों ही प्रकार का विकास करना चाहिए—शारीरिक विकास, मानसिक विकास, बौद्धिक विकास और भावनात्मक विकास।

हमारे विकास की भी तीन दिशाएं हैं। हम जो नहीं जानते हैं उसे जान लें यह ज्ञान का विकास है। हमें जो नहीं मिला है वह मिल जाए, यह आर्थिक

विकास है। हम जो नहीं कर पाये हैं उसे कर सकें यह क्रियात्मक विकास है और हम जैसा बनना चाहते हैं वैसे अभी नहीं हैं किंतु भविष्य में वैसे बन जाएं। यह भावनात्मक विकास है। शरीर को पदार्थ चाहिए। मन को इच्छाओं की पूर्ति चाहिए। बौद्धि कुछ जानना चाहती है और हमारी भावना यह रहती है कि हम पहले से कुछ ज्यादा अच्छे बन जायें।

हमारे व्यक्तित्व के घटक और विकास की दिशाओं पर विचार करें तो यह बात स्वतः स्पष्ट हो जाएगी कि हमारी शिक्षा का क्या रूप होना चाहिए। आज इस बात पर बहुत बल दिया जा रहा है कि शिक्षा व्यवसाय मूलक होनी चाहिए। व्यवसाय मूलक शिक्षा आजीविका में सहायक होती है और आजीविका से उपार्जित धन हमारी शारीरिक आवश्यकता को पूरी करता है। वर्तमान शताब्दी में ज्ञान का विस्फोट हो गया है। शिक्षा प्रणाली में प्रतिदिन पाठ्यक्रमों में इस प्रकार के परिवर्तन किए जा रहे हैं कि उसमें नवीनतम् ज्ञान का समावेश हो सके। इस प्रकार शारीरिक विकास और बौद्धिक विकास के लिए हमारी शिक्षा निरन्तर प्रयत्नशील है।

इसके बावजूद हम यह नहीं कह सकते कि शिक्षा हमारा मानसिक और भावनात्मक विकास भी कर रही है। ऊँची से ऊँची शिक्षा पाने वालों में मानसिक विक्षेप और भावनात्मक असंतुलन के प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध हो रहे हैं। उच्चतम् शिक्षा पाकर अत्यन्त उच्च पद पर प्रतिष्ठित भी अनेक व्यक्ति मादक द्रव्यों का प्रयोग किए बिना सोने के लिए शैव्या पर नहीं जाते। ऐसा नहीं है वे मादक द्रव्यों के दुष्प्रभावों से परिचित न हों बल्कि उनमें से अनेक तो डाक्टर होने के नाते मादक द्रव्यों के दुष्प्रभावों से सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक परिचित हैं तथापि वे उस व्यसन को छोड़ नहीं सकते। इसे उनके ज्ञान की कमी न मानकर मन की कमजोरी ही मानना होगा। भावना के क्षेत्र में तो शिक्षित व्यक्तियों का व्यवहार भी अत्यन्त बचकाना जैसा रहता है। व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए समाजहित तथा राष्ट्रहित की उपेक्षा तो हम करते ही हैं अपने परिवार में भी अपनों के साथ ही हमारा व्यवहार सबके लिए दुखदायी हो जाता है। हम स्वयं भी ऐसे व्यवहार के लिए मन ही मन पश्चाताप भी करते हैं किंतु अवसर आने पर फिर चूक जाते हैं। स्पष्ट है कि हमारी भावनाओं पर नियंत्रण नहीं है।

ऊपर जो चित्र हमने दिया है वह आधुनिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति का है। प्रश्न यह है कि इस शिक्षा प्रणाली से पहले भी क्या कोई प्रणाली थी। हम इतिहास में जाएं जो उपनिषद् कहते हैं कि विद्याएं दो प्रकार की हैं और उन दोनों ही प्रकार की विद्याओं को जानना चाहिए— पराविद्या और अपराविद्या।

अपराविद्या के अन्तर्गत ज्ञान विज्ञान की वे सभी शाखाएं आती हैं जो आधुनिक शिक्षा के अन्तर्गत पढ़ाई जा रही है। उन विद्याओं के पढ़ने से व्यक्ति अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ होता है। उपनिषद् में प्रश्न उठाया गया कि भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति अपरा विद्याओं से हो सकती है तो पराविद्या की क्या आवश्यकता है। उत्तर यह दिया गया कि अपराविद्या के अध्ययन कर लेने पर भी मनुष्य अपने स्वरूप को नहीं जान पाता और न दुख से मुक्त हो पाता है। यह तभी संभव है जब वह अपराविद्या के साथ पराविद्या का भी अध्ययन करे।

प्रश्न होता है कि पराविद्या के अन्तर्गत वे कौन-कौन से उपाय बताये गए हैं जिनके द्वारा मनुष्य स्वयं को जान सके और दुख से छुटकारा पा सके अथवा आधुनिक शब्दावली का प्रयोग करे तो कह सकते हैं, कि मनोविकारों से और भावनात्मक असंतुलन से बचने के क्या उपाय हैं।

संतुलन का पहला उपाय है मरितिष्क के बाएं और दायें भाग में संतुलन स्थापित करना। बायां भाग तर्क प्रवर है और दायां भाग प्रज्ञा का उन्नायक है। तर्क से विज्ञान का विकास होता है। प्रज्ञा से अध्यात्म विकसित होता है। इन दोनों के बीच संतुलन रहना चाहिए। इस संतुलन का उपाय है कि हम प्राणधारा को संतुलित करें। प्राण के दो प्रवाह हैं— इड़ा और पिंगला। इनके समकक्ष आधुनिक युग में पेरासिंपेथेटिक नर्वस् सिस्टम तथा सिंपेथेटिक नर्वस् सिस्टम है। प्राणायाम द्वारा प्राणधारा का संतुलन बनाया जा सकता है। यह पराविद्या का प्रथम पाठ है। योगासन भी प्राणधारा को ही संतुलित करते हैं। प्राणधारा के संतुलन से प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच संतुलन स्थापित होता है। यह संतुलन न तो व्यक्ति को इतना सक्रिय होने देता है कि उसकी सक्रियता तोड़फोड़ की निषेधात्मक प्रवृत्तियों में बदल जाए और न ही इतना निष्क्रिय होने देता है कि व्यक्ति निकम्मा ही हो जाए। आसन और प्राणायाम की उपयोगिता आज वैज्ञानिक परीक्षणों से सिद्ध हो चुकी है किंतु हम उसका समावेश अपनी शिक्षा की मुख्य धारा में नहीं कर पाए हैं।

पराविद्या का दूसरा आयाम है—श्रद्धा। किसी दूसरे में श्रद्धा का विषय विवादास्पद हो सकता है क्योंकि सबके इष्ट अलग-अलग होते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जिनका कोई इष्ट है ही नहीं। किंतु हमारा श्रद्धा से अभिप्राय यह है कि व्यक्ति अपने पर आस्था रखे। आज विज्ञान ने हमारे सामने यह रहस्य खोल दिया है कि हमारे शरीर में और मरितिष्क में बहुत अधिक क्षमता है। हम उस क्षमता का बहुत थोड़ा भाग ही उपयोग में लेते हैं। आत्मा की क्षमता तो

अनन्त है ही पर हम उतनी दूर तक न भी जाएं तो कम से कम शरीर और मस्तिष्क की क्षमताओं को जानकर उनका अधिकतम उपयोग करना तो सीखें। अपने में छिपी शक्ति का परिचय और साक्षात्कार करवाना पराविद्या का दूसरा अंग है। उसके लिए ध्यान की प्रक्रिया विहित है। ध्यान का भी प्रभाव हम पर क्या पड़ता है यह निरन्तर विज्ञान के द्वारा उद्घाटित किया जा रहा है।

तीसरा उपाय है— भावनाओं का परिष्कार। एक ही घटना को देखने के कई तरीके हो सकते हैं। यह बात तो सर्वविदित है कि हमें ऐसी परिस्थितियों का, ऐसी व्यवस्थाओं का निर्माण करना चाहिए जो हमारे लिए साधक हों बाधक नहीं किंतु यह बात गौण है। प्रथम रथान इस बात का है कि जो भी परिस्थिति हमें मिलती है उसके प्रति क्या हमारी प्रतिक्रिया इस प्रकार की होती है जो हमारी अवनति का कारण बने या हमारी प्रतिक्रिया इस प्रकार की होती है कि वह प्रतिक्रिया हमारी उन्नति का कारण बने। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जीवन में जो लोग भी सफल हुए हैं, वे इसलिए सफल नहीं हुए हैं कि परिस्थितियां उनके अनुकूल थीं बल्कि इसलिए सफल हुए कि उन्हें प्रतिकूल परिस्थिति में से अपना मार्ग बनाने की कला आती थी। हमारी शिक्षा में यह कला सिखाई जानी चाहिए।

विज्ञान का यंत्रों पर बहुत विश्वास है किंतु यंत्रों का संचालन करने वाला भी मनुष्य ही है। यदि मनुष्य के तंत्र ठीक न हों तो यंत्र ही साधक की जगह बाधक बन सकते हैं। मनुष्य के पास चार तंत्र हैं—शरीर, श्वास, वाणी और मन। शरीर में पृष्ठरज्जु सबसे अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इसके ऊपर का भाग ज्ञान से भरा है और नीचे का भाग शक्ति से भरा है। शक्ति जब ज्ञान से समन्वित होती है तो अपूर्व सर्जन करती है। इसे ही योग की भाषा में कुण्डलिनी का जागरण कहते हैं। यह कोई चमत्कार नहीं है अपितु एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है। प्राचीन काल में इन सब प्रक्रियाओं को गोपनीय रखा जाता था और कुछ विशिष्ट शिष्टों तक ही सीमित थी। आज लोकतंत्र का युग है। प्राचीन समय में जो चीजें कुछ विशिष्ट व्यक्तियों तक सीमित थीं आज वह जनसाधारण में प्रचारित हो रही है। समय आ गया है कि योग की इन विधियों को शिक्षा की मुख्य धारा का अंग बना लिया जाए।

शरीर के बाद श्वास का स्थान है। श्वास अन्तर्जगत् और बाह्यजगत् का सेतु है। उसका मन से गहरा संबंध है। तीसरा तत्त्व वाणी है जो विचारों के आदान-प्रदान का माध्यम बनकर मनुष्य को सामाजिक बनाती है। चौथा तत्त्व मन है। अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पना का आधार यही मन है। यदि हमारे यह चार तंत्र सध जाएं तो हमारे सब क्रियाकलाप सध जाते हैं।

इन चार तंत्रों के सधने का अर्थ है कि यह चारों हमारे मार्ग में सहायक बनें। शिक्षा में इन चारों को शिक्षित करने की प्रक्रिया अपनानी चाहिए। सक्षेप में इनके शिक्षित करने की चार प्रक्रियाएं हैं। प्रथम प्रक्रिया है—तटस्थ भाव से देखना, रागद्वेष रहित होकर सारे पूर्वाग्रहों को छोड़कर पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही देखा जाए। हमें आश्चर्य होगा कि जब हम केवल देखते हैं तो अनेक ऐसे तत्त्व हमारे सम्मुख आते हैं जो विचारों में उलझे रहने के कारण हमें दिखते ही नहीं हैं। शरीर में इतने स्पंदन हो रहे हैं कि हमें उनकी कुछ खबर ही नहीं। प्रेक्षा में वे दिखने लगते हैं। दूसरा उपाय है अनुप्रेक्षा—जो कुछ हमने प्रेक्षा के द्वारा देखा उसके संबंध में अनुचिंतन आवश्यक है। हमें अपने अन्दर कमियां दिखती हैं। निरन्तर यह चिंतन करें कि हमारी वे कमियां दूर हो रही हैं। विचार की अपनी शक्ति है। हमारे इस चिंतन से वे कमियां सचमुच दूर हो जाती हैं। तीसरा उपाय है शिथिलीकरण। जब हमारी पकड़ शरीर पर मजबूत होती है तो तनाव पैदा होता है। इस पकड़ को छोड़ना कायोत्सर्ग अथवा शिथिलीकरण है। चौथा उपाय भावक्रिया है। हम हर समय प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा या शिथिलीकरण नहीं कर सकते किंतु जीवन के दूसरे जो भी कार्य करें उन्हें जागरूकतापूर्वक करें तो हमारे कर्मों में स्वतः ही परिष्कार आ जाएगा। पराविद्या की यह विशेषता है कि वह केवल सैद्धान्तिक ही नहीं है अपितु प्रायोगिक भी है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति का जोड़ा है। हम श्वास लेते हैं तो निकालते भी हैं। आहार करते हैं तो नीहार भी करते हैं। हम कभी यह नहीं सोचते कि विचार करते हैं तो निर्विचारता में भी जाएं। बोलते हैं तो मौन में भी जाएं। विचार से विचार नहीं उत्पन्न होता है। विचार उत्पन्न होता है निर्विचारता से। हमारा वार्तविक अस्तित्व निर्विचारता और मौन के स्तर पर है। यदि हम बदलना चाहते हैं तो हमें वास्तविक स्तर पर जाकर बदलना होगा। रात दिन चलने वाले संकल्प विकल्पों से हम स्वयं ही परेशान हो जाते हैं। कभी-कभी तो यह स्थिति विक्षिप्तता तक ले जाती है। बौद्धिक विकास के लिए विचार महत्वपूर्ण हैं। हमारी शिक्षा बौद्धिक विकास को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देती है, इसलिए निर्विचारता का भाव पिछड़ गया है। हम नहीं जान रहे हैं कि विचार हमें केवल सत्य की छाया पकड़ा सकता है, सत्य को तो निर्विचारता ही पकड़ सकती है।

मूल बात है संयम और अनुशासन की। असंयम का प्रश्न प्राणशक्ति के अपव्यय का प्रश्न है। जहां स्वच्छन्द योनाचार को अनुमति मिली है वहां विक्षिप्तता बढ़ी है। चित्त का असंतुलन प्राणशक्ति का अपव्यय करता है।

समता प्राणशक्ति को सुरक्षित रखती है। इस बात को हमारी शिक्षा नहीं समझा पा रही है।

हमें सुख सुविधा चाहिए पर हम इस बात को भुला रहे हैं कि सुविधा हमारी शक्ति को कम करती है। हमारी आंतरिक शक्ति को सहिष्णुता बढ़ाती है। प्राचीन शिक्षा पद्धति में विद्यार्थी को कठोर जीवन जीने की प्रेरणा दी जाती थी। इस कारण वह जीवन का संघर्ष झेल सकता था। आज विलासपूर्ण जीवन का आकर्षण बढ़ा है और तपस्यापूर्ण जीवन मूर्खता समझा जा रहा है। परिणाम यह हुआ कि मनुष्य की शक्ति क्षीण हो गई। वह एक दुष्क्र में फंस गया। ज्यों-ज्यों वह अधिक सुविधाओं का भोग करता है त्यों-त्यों उसकी आंतरिक शक्ति क्षीण होती है। शिक्षा के अन्तर्गत ऐसी जीवन पद्धति सिखानी होगी कि मनुष्य इस दुष्क्र से निकल सके।

* * * * *

महाप्रज्ञ उवाच

पतंजलि से पूछा गया—चित्त का निरोध कैसे होता है ?

उन्होंने कहा—चित्त-निरोध के दो उपाय हैं—अभ्यास और वैराग्य ।

अर्जुन ने कृष्ण से पूछा—मन का निरोध कैसे हो सकता है ?

कृष्ण ने कहा—पार्थ ! अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मनोनिग्रह साधा जा सकता है ।

आज अभ्यासात्मक शिक्षा छूट गई । करने का कौशल शिक्षा से प्राप्त होता है । होने या बदलने का पराक्रम भी शिक्षा के द्वारा प्राप्त होता है और जानने का माध्यम भी शिक्षा से ही प्राप्त होता है ।

शिक्षा के चार आयाम हैं—शारीरिक विकास, मानसिक विकास, बौद्धिक विकास और भावनात्मक विकास । इन चारों में व्यक्तित्व-निर्माण से सम्बन्धित सभी विकास समाविष्ट हैं । आज शिक्षा की जो निष्पत्तियां प्रत्यक्ष हो रही हैं, उन्हें देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि आज की शिक्षा कोई फल नहीं दे रही है । जिस विषय की आज शिक्षा दी जा रही है, उसकी निष्पत्तियां आ रही हैं । अच्छे डॉक्टर, अच्छे वकील, अच्छे इंजीनियर, अच्छे शिक्षक अपने-अपने विषय में निष्णात होकर समाज में आ रहे हैं । इस स्थिति में हम कैसे मानें या कहें कि शिक्षा प्रणाली दोषपूर्ण है, त्रुटिपूर्ण है ?

हमारी शिक्षा-प्रणाली संतुलित नहीं है । संतुलित शिक्षा-प्रणाली वह होती है जिसमें व्यक्तित्व के चारों आयाम संतुलित रूप से विकसित होते हैं । शरीर का विकास भी अपेक्षित है, मन का विकास भी अपेक्षित है तथा बुद्धि और भावना का विकास भी अपेक्षित है । आज की शिक्षा में इन चार आयामों में से दो आयामों पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है । वे दो आयाम हैं—शारीरिक विकास का आयाम और बौद्धिक विकास का आयाम । शेष दो आयाम उपेक्षित पड़े हैं । आज शारीरिक विकास बहुत हुआ है और बौद्धिक विकास भी प्रतिदिन बढ़ रहा है किंतु मानसिक विकास और भावनात्मक विकास—ये दोनों अविकसित रहे रहे हैं ।

पहला तथ्य है—प्राणधारा का संतुलन ।

मानसिक और भावनात्मक विकास के लिए प्राणधारा का विकास और संतुलन आवश्यक है। प्राण के दो प्रवाह हैं—इड़ा और पिंगला। ये प्राचीन योगशास्त्रीय नाम हैं। आज के शरीर शास्त्रीय भाषा में एक का नाम है—पेरा-सिंपेथेटिक नर्वस् सिस्टम और दूसरे का नाम है—सिंपेथेटिक नर्वस् सिस्टम। प्राण के इन दोनों प्रवाहों में जब तक संतुलन नहीं होता तब तक हम जिस प्रकार के विद्यार्थी की परिकल्पना करते हैं, वह परिकल्पना सार्थक नहीं होगी।

मस्तिष्क का बायां हिस्सा बौद्धिक विकास के लिए उत्तरदायी है, अध्यात्म, अन्तश्चेतना का विकास, आन्तरिक वृत्तियों का विकास यह सब दार्द मस्तिष्क का काम है।

आज असंतुलन हो गया। बायां हिस्सा अधिक सक्रिय हो गया और दायां हिस्सा सोया का सोया रह गया। ऐसा हो गया कि आदमी का एक हाथ आकाश को छूने लग गया और एक हाथ बौना ही रह गया।

विज्ञान भी इसी निष्कर्ष तक पहुंचा है कि हमारे मस्तिष्क में अनंत क्षमताएं हैं परंतु आदमी उन क्षमताओं का पांच-सात प्रतिशत ही उपयोग कर पाता है। जो दस प्रतिशत उपयोग करने लग जाता है, वह महान् व्यक्ति बन जाता है।

रोटी आवश्यक है, पर इस तथ्य को विस्मृत नहीं करना चाहिए कि रोटी विहीन आस्था से काम नहीं चलता तो आस्थाहीन रोटी भी आदमी को कभी-कभी खाने लग जाती है, भयंकर बन जाती है। दोनों का संतुलन हो। रोटी भी हो और आस्था भी हो।

उत्थान के तीन कारण हैं—सम्यग् दृष्टिकोण, सम्यग् व्यवहार और सम्यग् भाव। पतन के तीन कारण हैं—मिथ्यादृष्टिकोण, मिथ्याव्यवहार और मिथ्याभाव। ये उत्थान-पतन के मूलभूत कारण हैं। अवान्तर कारण सैकड़ों-हजारों हो सकते हैं, पर वे मूल के उपजीवी हैं।

जब तक हाइपोथेलेमस पर ध्यान केन्द्रित नहीं करेंगे, तब तक ग्रंथियों से स्रवित होने वाले स्राव का परिष्कार नहीं होगा और जब तक यह ग्रंथि-स्राव परिष्कृत नहीं होगा तब तक दृष्टिकोण, व्यवहार और भाव का परिष्कार नहीं होगा।

परिष्कार की प्रक्रिया के बिना शिक्षा प्रणाली को संतुलित नहीं कहा जा सकता। हमारा यह आग्रह नहीं है कि यह परिष्कार प्रेक्षाध्यान की प्रणाली से ही आ सकता है। अनेक प्रणालियां हो सकती हैं, पर परिष्कार का विकल्प हमारे पास होना चाहिए।

हमारे जीवन में चेतना और शक्ति—ये दो महत्वपूर्ण तत्त्व हैं। दोनों को दो ध्रुव सम्भाले हुए हैं। एक ध्रुव है—मस्तिष्क या ज्ञान केन्द्र और दूसरा ध्रुव है—शक्ति केन्द्र। इनका संतुलित विकास होता है तो हमारी प्रवृत्ति का संचालन बहुत सहजता और सरलता से होता है।

वस्तुतः वाणी, मन और नाड़ी-संस्थान—इन सब में प्राण का संचार करने का माध्यम बनता है—श्वास। श्वास एक महत्वपूर्ण तत्त्व है जो बाह्य जगत् में भी रहता है और अन्तर्जगत् में भी रहता है। बाहर आता है और फिर भीतर जाता है। बाह्य और अन्तर—दोनों के बीच सेतु बना हुआ है हमारा श्वास। श्वास की प्रक्रिया बहुत छोटी लगती है, किंतु बहुत महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। श्वास के प्रयोग हमारे प्राणवायु को सम्पूर्ण करते हैं। ऑक्सीजन जाता है श्वास के माध्यम से। कार्बन-डाइऑक्साइड निकलता है श्वास के माध्यम से। श्वास भर जाता है तो प्राण तत्त्व लेकर जाता है और बाहर आता है तो दूषित तत्त्व को लेकर आता है।

श्वास हमारी चेतना के जागरण में भी बड़ा सहयोगी बनता है। चेतना के सूक्ष्म स्पंदनों को सक्रिय बनाने में श्वास का बड़ा योग होता है।

वाणी हमारी प्रवृत्ति का और सामाजिकता का मुख्य माध्यम है। यदि वाणी नहीं होती तो समाज नहीं होता। पशुओं का समाज नहीं है। वह इसलिए नहीं है कि उनके पास भाषा नहीं है। वाणी के अभाव में समाज नहीं बनता।

मन स्मृति, कल्पना और चिन्तन का माध्यम बनता है। हमारी जीवन की यात्रा इन तीनों के आधार पर चलती है। स्मृति के अभाव में यात्रा दुर्भर हो जाती है। कल्पना के बिना विकास की कोई बात नहीं सोची जा सकती। चिन्तन के बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता। इन तीनों का संशक्त माध्यम है, हमारा मन।

हमारी शारीरिक रचना के आधार पर यदि श्वास हो तो मैं समझता हूं कि एक मिनट में ७-८ से ज्यादा श्वास नहीं होने चाहिए। किंतु पन्द्रह-सोलह श्वास आते हैं। क्योंकि हमारी शारीरिक संरचना के साथ-साथ हमारी मानसिक वृत्तियां भी काम करती हैं और उनसे प्रभावित होकर श्वास छोटा बन जाता है।

देखना सीखें, ध्वनि तरंग पैदा करना सीखें, शिथिलीकरण का अभ्यास करें, शिथिल होना सीखें और जागरूकता का अभ्यास करें।

भारतीय दर्शन देखने का दर्शन है। आज दर्शन का अर्थ बदल गया। कॉलेजों में, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में जो दर्शन पढ़ाया जा रहा है वह अनुमान प्रधान और तर्कप्रधान दर्शन है, किंतु जो प्राचीन दर्शन रहा है वह है देखना, प्रत्यक्षीकरण, साक्षात्कार। अनुमान नहीं, तर्क नहीं, हेतु नहीं, व्याप्ति नहीं, किंतु साक्षात्कार, प्रत्यक्षीकरण। यह दर्शन है।

बहुत बार ऐसा होता है कि सुबह त्याग लेते हैं, संकल्प लेते हैं और शाम होते-होते टूट जाता है। बड़ी कठिनाई है। परिस्थिति आती है और त्याग टूट जाता है, क्योंकि वृत्तियां तो भीतर हैं।

आदत काम कर रही है अवचेतन मन के माध्यम से और हम संकल्प कर रहे हैं, चेतन मन के माध्यम से। जब तक हमारी बात अवचेतन मन तक नहीं पहुंच जाएगी, तब तक चेतन की जो अर्जित आदत है वह नहीं बदलेगी। इस समस्या से निपटने के लिए अनुप्रेक्षा यानी भावना का सहारा लेना बहुत जरूरी है।

हम आज के इस एलोपैथिक और मेडिकल साइंस के जमाने में जी रहे हैं। इन सारी बातों को बहुत अच्छी तरह जानते हैं कि सारी कठिनाइयां मानसिक तनाव से पैदा होती हैं। बीमारियां, जटिल आदतें और चिंतन की विकृतियां इन सबके लिए जिम्मेवार होता है—मानसिक तनाव। शिथिलीकरण या कायोत्सर्ग एक प्रक्रिया है तनाव विसर्जन की।

कोरी प्रवृत्ति पागलपन की ओर ले जाती है। कोरा काम आदमी को निकम्मा बना देता है। अनेक लोग प्रवृत्ति में बहुत विश्वास करते हैं। वे प्रवृत्ति करते-करते अपनी शक्ति को इतना खर्च कर डालते हैं कि अति प्रवृत्ति उनके लिए वरदान नहीं, अभिशाप बन जाती है। कोरी निवृत्ति भी निकम्मापन लाती है। जब शरीर है तो निवृत्ति से काम नहीं चल सकता। सक्रियता और निष्क्रियता, चिंतन और अचिंतन, विचार और निर्विचार, विकल्प और निर्विकल्प, स्मृति और विस्मृति, भाषा और अभाषा—इन सबका संतुलन अपेक्षित है।

आदमी का ध्यान निमित्तों पर अटक गया। उसने उपादान को भुला दिया। आज सबसे बड़ी समस्या है उपादान और निमित्त की। आज का आदमी निमित्तों को बदल कर सब कुछ करना चाहता है। वह उपादान की ओर ध्यान ही नहीं देता।

एक पतला-दुबला आदमी हड्डे-कड्डे आदमी से भिन्न कर उसे नीचे गिरा देता है। गिराने वाली शक्ति शरीर की नहीं होती, वह होती है प्राण की। आज की शिक्षा पद्धति में प्राण की शक्ति का कोई प्रशिक्षण नहीं है। उस पर विचार भी नहीं किया गया है।

आज की पूरी पश्चिमी सभ्यता में जो एक मानसिक विक्षेप आया है, उसका सबसे बड़ा कारण है यौन की स्वच्छन्दता। वहां काम-सेवन पर न सामाजिक प्रतिबन्ध है और न आंतरिक प्रतिबन्ध है। उसका परिणाम यह हुआ है कि वहां पागलपन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।

एक बहुत बड़ी शक्ति है—सहिष्णुता। सहिष्णुता का विकास तब होता है जब सहारे की बात नहीं सोची जाती। जो कष्ट सहते हैं, कठिनाइयां झेलते हैं वे सहिष्णुता का विकास कर लेते हैं।

चक्रों की सारी कल्पना का मूल उद्देश्य है—शरीर को चुम्बकीय क्षेत्र बना लेना। सहिष्णुता और समझाव बृद्धि के प्रयोग, उपवास, आसन, प्राणायाम, आतापना, सर्दी-गर्मी को सहने का अभ्यास इन सारी प्रक्रियाओं से शरीर के परमाणु चुम्बकीय क्षेत्र में बदल जाते हैं और वह क्षेत्र इतना पारदर्शी बन जाता है कि उस क्षेत्र से भीतर की चेतना बाहर झांक सकती है।

बाह्य जगत् और अन्तर जगत् में संतुलन स्थापित करना आवश्यक है। बाह्य जगत् और अन्तर जगत्—दोनों वास्तविक हैं। दोनों को स्वीकार करना है। व्यवहार को भी स्वीकार करना है और निश्चय को भी स्वीकार करना है। दोनों के बीच संतुलन स्थापित करना, यह ध्यान है, यह जीवन का विज्ञान है और यह शिक्षा प्रणाली का अनिवार्य अंग होना चाहिए।

मन की सत्ता बहुत बड़ी है। बुद्धि का साम्राज्य बहुत विशाल है। इन्द्रियों की शक्ति बहुत विपुल है। भाषा और प्राण का बल भी अन्यून है। ये सब हमारे सामने हैं तो क्या शिक्षा मात्र इतनी ही है कि जिससे शरीर को पोषण मिले और उसकी आवश्यकताएं पूरी हो जायें?

शिक्षा के माध्यम से मानसिक और बौद्धिक विकास होता है पर अनुशासन का विकास नहीं होता। क्यों नहीं होता, इस पर भी ध्यान दें। अनुशासन आता है बुद्धि से परे और शिक्षा रह जाती है बुद्धि की सीमा में ही।

* * * * *

साहित्य

काव्यं शिवेतरक्षतये

काव्यालोचन

मूंद कर आँखें निहारो सत्य उजला सा लगेगा
खोल कर आँखें निहारो सत्य धुंधला सा लगेगा

—आचार्य महाप्रज्ञ

आँखें मूंदकर देखना वह सम्यगदर्शन है। जिस सम्यगदर्शन की गौरव-गाथा से शास्त्रों के पन्ने रंगे पड़े हैं—जिसने सम्यगदर्शन प्राप्त कर लिया उसने क्या प्राप्त नहीं कर लिया क्योंकि उसने तो मुक्ति की गारन्टी प्राप्त कर ली। कोई उसे आँखें मूंदकर देखना कहता है तो कोई उसे गर्दन झुकाकर देखना कहता है—

दिल के आइने में है तस्वीरे यार,
जब जरा गर्दन झुकायी देख ली।

शब्दों का खेल है। कोई आँखें मूंदने को कह रहा है, कोई गर्दन झुकाने को, पर महादेवी वर्मा तो सारा दायित्व आकाश में टिमटिमाते तारों पर डाले दे रही हैं जिनकी चकाचौंधि प्रिय-मिलन में बाधक हैं—

मेरे प्रिय को भाता है तम के पर्दे में आना
हे नभ की दीपावलियों ! तुम क्षण भर को बुझ जाना।

उपनिषद् के ऋषि को कुछ और ही लग रहा है। उसे लग रहा है कि सत्य का मुख सोने के ढकने से ढका है। ढकना उघड़े तो सत्य का दर्शन हो—

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्
तत्त्वं पूषन्पावृणु सत्यधर्मय दृष्टये।

सत्य धर्म का दर्शन कहो या सम्यग्दर्शन कहो। सोने का ढकना कहो या मोहनीय कर्म कहो। दर्शन मोहनीय जाये तो सम्यग्दर्शन हो, सोने का ढकना हटे तो सत्य धर्म का दर्शन हो।

किंतु, सोना तो सबको चाहिए न? इसलिए हम सोने के ढकने को मजबूती से पकड़े बैठे हैं। एक बार किसी ने सोने की कामना की थी। कहानी आचार्य महाप्रज्ञ की ही जुबानी सुनिये—

मेरे देव ! ... मेरी सारी धरती सोने की हो जाए

“यह किसलिये ?”

इसलिए मेरे देव ! कि प्रजा सुखी हो जाए

किसान को बीज बोना न पड़े

मजदूर को भार ढोना न पड़े

सबको आराम हो जाए मेरे देव !

और सारी धरती सोने की हो गई

जहाँ देखो वहीं सोना-ही-सोना

सोना इतना सस्ता हो गया कि

अब सोना, सोना ही नहीं रहा

* * * * *

बरसात हुई

और किसान गए बीज बोने

पर कहां बोएं

चारों ओर सोने की धरती थी

अन्न भण्डार पूरा हो गया

हाहाकार होने लगा

लोग भूख से तड़पने लगे

* * * * *

वह दौड़ा..... सिर झुका प्रार्थना करने लगा—

मेरी सारी धरती मिट्टी की हो जाए

यह किसलिए ?

इसलिए मेरे देव !

प्रजा सुखी हो जाए

किसान बीज बोए

मजदूर काम करें

और अपना पेट भरें
आराम कोई न करे।

एक श्रमण की प्रार्थना यहीं तो हो सकती है कि—आराम कोई न करे, सब अप्रमाद में जियें। अप्रमादी ही अभय को प्राप्त हो सकता है। लू तो चलेगी। ऋतु-चक्र को कौन रोक सकता है ? लेकिन फिर भी

क्या यह नहीं हो सकता कि

जेठ नहीं आये
वह आये भी तो
लू न चले।
और वह चलने लगे तो
तत्काल
श्रम की बूँदें
समेट ले उसे
अपनी बाहों में।

आदमी सोना इसीलिये तो चाहता है कि काम न करना पड़े, पर श्रमण का आहवान तो श्रम करने का ही हो सकता है। श्रमण ही क्यों, ब्राह्मण भी तो यहीं धुन लगाये हैं—चरेवैति चरेवैति। फिर भी मनुष्य सोना चाहता है कि उसे काम न करना पड़े। कारण ? कारण भी आचार्य महाप्रज्ञ ने बतला दिया है—

“धन क्या है ? यह सोचता रहा हूँ पर समाधान नहीं मिला है। मनुष्य बुद्धिशील प्राणी है। इसलिए उसकी बुद्धि पर सहसा अविश्वास करना भी उचित नहीं पर मनुष्य मोहशील प्राणी है, उसकी मूढ़ता पर भरोसा करना भी अनुचित नहीं है।

मनुष्य ने सोना, चांदी, मणि आदि पार्थिव वस्तुओं को धन मान रखा है। मानना बुद्धि का काम है, किंतु जो तद्रूप नहीं, उसे तद्रूप मानते रहना मोह का संरक्षकार है। खान-पान जैसी आवश्यक वस्तुओं को धन मानना कुछ प्रयोजन रखता है, किंतु जिनका जीवन के लिए कोई उपयोग नहीं, उन्हें धन मानना कुछ भी अर्थवान् नहीं लगता। जिसने सोने को धन की संज्ञा दी, उसने मनुष्य जाति का हित नहीं किया।”

जो तद्रूप नहीं, उसे तद्रूप मानते रहना जैन परम्परा का मोह है, वेदान्त परम्परा का अज्ञान है और बौद्ध परम्परा की अविद्या है। बात छोटी सी है, सरल भी है पर सत्य तो सदा सीधा और सरल ही होता है—

“सहज सरल जीवन की पोथी, बड़ा जटिल अनुवाद हो गया।”

इस सहज सरल जीवन की पोथी का अनुवाद जब तर्क की भाषा में किया गया तो दर्शन-शास्त्र बन गया, जिसकी जटिलता जग-जाहिर है। लेकिन द्रष्टा दार्शनिक से भिन्न है। द्रष्टा प्रत्यक्ष देखता है, दार्शनिक अनुमान प्रमाण से जानता है। दोनों ही प्रक्रियाओं के अपने-अपने मजे हैं। आचार्य महाप्रज्ञ जब द्रष्टा होते हैं तो उन्हें शिकायत रहती है कि “अन्तःदर्शन लुप्त और यह चंचल मन आजाद हो गया, श्रद्धा है संगुप्त और यह, तर्क एक उन्माद हो गया।”

तर्क का उन्माद वाद को जन्म देता है, श्रद्धा हार्द को पकड़ती है—

वाद लेकर तुम चलो वह डगमगाता-सा लगेगा

हार्द लेकर तुम चलो वह जगमगाता-सा लगेगा

डगमगाते मन की चंचलता का क्या कहना—

चपलता को जोड़ देखो सत्य अस्थिर सा लगेगा

चपलता को छोड़ देखो सत्य सुस्थिर सा लगेगा।

यह तो हुई द्रष्टा की वाणी। दार्शनिक के रूप में आचार्य महाप्रज्ञ कुछ और ही कह रहे हैं—

स्पष्ट नहीं अनुमान चाहिए,

पास नहीं व्यवधान चाहिए

मधुर कल्पना संजोने को,

निर्गुण को साकार मान लूँ

प्यार करो तो हार मान लूँ।

एक दार्शनिक की अनुमान-प्रियता तो समझ में आती है क्योंकि कहा जाता है, तर्क-रसिक प्रत्यक्ष विषय को भी अनुमान द्वारा ही भोगना चाहते हैं—प्रत्यक्षमपि विषयम् अनुमानेन बुभुत्सन्ति तर्करसिकाः, लेकिन प्यार करो तो हार मान लूँ—का यह शहद में ढूबा स्वर एक बार चौंका देता है। शब्द कभी-कभी धोखा दे सकते हैं। अहिंसा प्यार ही तो है और प्रतिक्रमण हार ही तो है—जीत तो आक्रमण में है, प्रतिक्रमण में तो हम लौट आते हैं, जीतने के लिए तो आगे बढ़ना होता है, लौट आना तो हार जाना ही है। लेकिन अहिंसक—प्यार करने वाला—सदा प्रतिक्रमण ही करता है, आक्रमण कभी नहीं करता। वह सांसारिक दृष्टि से सदा हारता है। तब ही तो अहिंसक पर पलायनवाद का आरोप लगाया जाता है। लेकिन संसार के सभी प्रेमियों ने हार को ही चुना है। विजय की कामना कभी नहीं की। विजिगीषा—जीतने की

इच्छा—सप्राद् किया करते हैं, प्रेमी नहीं। प्रेमी सदा छोटा रहना चाहता है—तृणादपि सुनीचेन जनेन सेव्यः सदा हरिः। जीतने की इच्छा दूसरे को मिटाने की इच्छा है, दूसरे को नीचा दिखाने की इच्छा है—प्रेमी जिससे प्रेम करता है उसे मिटाने की या नीचा दिखाने की इच्छा कैसे पैदा कर सकता है? फिर जिसे प्रेम मिला उसे और चाहिए भी क्या जिसके लिए आक्रमण करे या जीतने की इच्छा करे। प्रेम की गली में कोई जा सकता है तो अपना अहं खोकर ही जा सकता है। कबीर ने बाजार में लकुटि लेकर यही तो हांक लगायी थी—

प्रेम गली अति सांकरी ता में दो न समाई।

मैं हूं तो हरि है नहीं, हरि है तो मैं नाहीं ॥

आचार्य महाप्रज्ञ इस अद्वैत तक पहुंचने के मार्ग भी सुझाते हैं। सारे द्वंद्व विषमता में हैं, समता द्वंद्वातीत है। हार-जीत भी एक द्वंद्व है, हानि-लाभ, मान-अपमान—ये सब द्वंद्व हैं। जहां तक द्वंद्व है वहां तक जगत् है, जहां द्वन्द्वातीतता है वहां भगवत्ता है। हार मानने को आचार्य महाप्रज्ञ तैयार हैं, लेकिन हार और जीत को परस्पर विरोधी मानने को वे तैयार नहीं। अमृत और विष दोनों भाई-भाई हैं, विरोधी नहीं—

विषम मार्ग जब मन चुनते हैं, हार-जीत वह ही बनते हैं

गरल-सुधा दोनों भाई हैं, विघ्नों को आभार मान लूँ

प्यार करो तो हार मान लूँ

विघ्नों को आभार मानने का आधार है—इतिहास।

पृष्ठ पढ़ इतिहास के, इतिहास-स्रष्टा जो बने हैं

प्राण से खेले सदा वे और शोणित से सने हैं।

सुकरात के जहर का प्याला और ईसा मसीह की सूली से लेकर मीरां के जहर के प्याले और मोहनदास करमचंद गांधी की छाती पर लगी गोलियों तक के इतिहास के पन्ने हमारे सामने बिखरे पड़े हैं। महावीर की कथा निराली है—वे चाहे जब जान-बूझकर जान को जोखिम में डालते रहे। एक अनहोना अभिग्रह कर लिया, हाथ-पैरों में बेड़ियां हों, सिर मुँडा हो और आँखों में आँसू हो तो ऐसी स्त्री के हाथों से आहार लेंगे नहीं तो आहार ही ग्रहण नहीं करेंगे।

आपाततः कोई अर्थ समझ में नहीं आता ऐसे दुराग्रहों का। पर अर्थ है—

अग्नि जलती है

पर इसलिए नहीं कि

वह सब कुछ निगल जाये
 वह जलती है
 इसलिए कि
 चैतन्य में से
 धुँआ निकल जाये।

चैतन्य में से धुँआ निकल जाने को ही तो तत्त्ववेत्ता निर्जरा कहते हैं। समझना यह है कि अस्ति और नास्ति सहोदर भाई ही नहीं हैं, एक सिक्के के दो पहलू भी हैं—एक के बिना दूसरे की सत्ता असंभव है। अन्धकार न होता तो प्रकाश का कोई अर्थ ही न होता—“प्रकाश” यह शब्द ही न होता। “अन्धकार नहीं है”— यह बताने के लिए ही तो हम प्रकाश शब्द का प्रयोग करते हैं। अंधकार ही न होता तो प्रकाश शब्द के द्वारा हम किसका अभाव घोटित करते ?

विघ्न है तो पुरुषार्थ है, पुरुषार्थ है तो जीवन की सार्थकता है। फिर विघ्नों का आभार क्यों न माना जाये? लेकिन पुरुषार्थ का अर्थ विघ्नों से लड़ना नहीं है, पुरुषार्थ का अर्थ है अपनी कमजोरियों से लड़ना—

वक्र बनो तो और अदृङ्गा, शक्र बनो तो और लदृङ्गा
 चक्र बनो तो रेखा को ही जीवन का आधार मान लूँ
 प्यार करो तो हार मान लूँ

ज्यामिति की सभी आकृतियों में चक्र ही एक परिपूर्ण आकृति है—अखण्ड मण्डलाकार। वर्तुल जिन दो अर्धवृत्तों के मेल से बनता है, वे दोनों अर्धवृत्त सर्वथा एक-दूसरे के समान होते हैं। जीवन के अर्धवृत्त हैं—सुख-दुःख, जय-पराजय, लाभ-हानि, मान-अपमान। जिसने इन दो अर्धवृत्तों को समान बना लिया वह अखण्ड मण्डल बन गया, शेष सभी वक्र होकर रह गये। रेखा का एक ही आयाम है—लम्बाई। उसकी न ऊँचाई है, न चौड़ाई। वर्तमान एक रेखा है, वही जीवन का आधार है। भूत और भविष्य की स्मृतियों और कल्पनाओं में खोया रहने वाला काल-कवलित ही होता रहा, कालजयी केवल वर्तमान-जीवी बन पाया है। इसलिए आचार्य महाप्रज्ञ अतीत में नहीं उलझे, बल्कि उन्होंने तो अतीत को सदा वर्तमान के द्वारा नकारे जाते हुए ही देखा है—

वर्तमान हर अतीत को निरर्थक साबित कर देता है
 चार शताब्दी पूर्व
 इन किलों का कितना बड़ा अर्थ था
 किंतु इस हवाई जहाज के जमाने में

वे कैसे निरर्थक हो गये हैं।

यह नहीं है कि पुराने को सम्मान न दें, पर उसे ओढ़कर न बैठ जायें और याद रखें कि—

पतझड़ को रोका नहीं जा सकता
कोंपल को टोका नहीं जा सकता
पुराने वस्त्र को
सम्मान दिया जा सकता है
पर ओढ़ा नहीं जा सकता।

पीढ़ियों के अन्तर की बात आज बहुत चलती है। “जेनरेशन गैप” मिट सकता है यदि हम मान लें कि—

फूल को चाहिए कि
वह कली को स्थान दे
कली को चाहिए कि
वह फल को सम्मान दे।

लोग शिकायत करते हैं कि उनका मन एकाग्र नहीं होता। मन भटकता है इसलिए कि हम राजपथ पर नहीं चलते, पगड़ण्डियों में भटकते रहते हैं। अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पना पंख बन सकती है वर्तमान के यथार्थ में उड़ान भरने के लिए। वर्तमान है—

अतीत के सागर में
एक छोटा सा द्वीप।
भविष्य की तमिला में
एक छोटा सा द्वीप।
अतीत और भविष्य की
अन्तहीन पगड़ण्डियों के बीच
एक इच का राजपथ।
स्मृति और कल्पना के
विशाल परों से
यथार्थ के आकाश में
उड़ने वाला छोटा-सा पंछी।

वर्तमान का अर्थ है—वर्तमान समय। वर्तमान समय के एक समय इधर भूत है, एक समय उधर भविष्य। भूत और भविष्य के दो समयों के बीच

वाला समय वर्तमान है। कहीं उस समय में रहना ही तो सामायिक नहीं है ? यह ठीक है कि सामायिक समता है लेकिन विषमता के लिए दो समय चाहिए। जब वर्तमान एक समय का ही है तो उसमें विषमता को स्थान कहां मिल पायेगा? जो सामायिक में ढूब गया वह राग-द्वेष के समुद्र से पार हो गया। यही समयसार है।

हम समय में टिक नहीं पाते। राग-द्वेष की हिलोरे स्मृतियों और कल्पनाओं के झूले में हमें झुलाती रहती हैं। सत्य हमारे सामने इसी क्षण में है, पर हम क्षण को देख पायें तो सत्य को देख पायें। सत्य का यह हाल है कि—

दौड़ते तुप जो चलो वह दूर जाता सा लगेगा
धैर्य से तुम जो चलो वह पास आता सा लगेगा

सत्य के और हमारे बीच कुछ आवरण तो प्रकृति ने डाल रखे हैं और कुछ दीवारें स्वयं मनुष्य ने बना ली हैं—

आदमी-आदमी को इसलिए नहीं पहचानता कि
वह उससे कभी मिला ही नहीं
उन दोनों के बीच
वर्ण जाति और सम्प्रदाय की दीवारें
इतनी बड़ी खड़ी हैं कि
पत्थर पर फूल कभी खिला ही नहीं
दीवार को तोड़ कोई
इस ओर न आ जाये
इसी डर से वह तलवार को
आकाश में उछाल रहा है
यदि ये दीवारें टूट जातीं तो
आदमी के हाथ से तलवार
अपने आप गिर जातीं
पर मुसीबत है कि
उनकी नींव का पत्थर कभी हिला ही नहीं।

एक सम्प्रदाय का आचार्य सम्प्रदाय को दीवार तो बता सकता है, पर क्या स्वयं उस दीवार को लाँघ भी सकता है? आचार्य महाप्रज्ञ उस समय सम्प्रदाय की ही दीवार को नहीं अपितु दार्शनिक घेराबंदी को भी लाँघकर खुले आकाश में खड़े हो जाते हैं जब वे वस्तुवादी दर्शन के अनुयायी होकर भी प्रत्ययवादी की भाषा बोलने लगते हैं—

बीज में विस्तार होता, बीज क्या विस्तार क्या है
 चित्त में संसार होता, चित्त क्या संसार क्या है
 मृत् सलिल का योग पाकर बीज ही विस्तार बनता
 वासना का भोग पाकर चित्त ही संसार बनता।

जिसे अनेकान्त का अभय प्राप्त है, वही यह साहस जुटा सकता है कि वस्तुवादी होकर भी यह कह दे कि “चित्त ही संसार बनता” ऐसा साहस पहले भी आत्मख्याति के रचयिता अमृतचन्द्र सूरि दिखा चुके हैं जब द्वैतवाद के अनुयायी होकर भी उन्होंने यह घोषणा कर दी थी कि अनुभूति के स्तर पर द्वैत का कहीं पता ही नहीं चलता—

किमधिकमभिदध्मः धाम्नि सर्वङ्गकषेऽस्मिन् ।
 अनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥

अनेकान्ती यथार्थवादी होता है। वह सत्य को स्वीकार करता है, चाहे देखने में वह सत्य कितना भी अटपटा क्यों न लगे। विरोध है, इसलिए अनुभव का अपलाप करना अनेकान्ती को प्रिय नहीं।

आचार्य महाप्रज्ञ के यथार्थवाद के तेवर कुछ और ही हैं। गंगा बनकर उन तक पहुंचने वाला हिमालय उन्हें प्रिय है किंतु जो उन तक कभी नहीं पहुंचेगा वह सोने का सुमेरु उन्हें आकृष्ट नहीं करता। उन्हें सूरज का सहज प्रकाश चाहिए, स्वर्ग की कल्पना नहीं। बादल बनकर बरसने वाला समुद्र चाहिए, क्षीर सागर नहीं। नीम चाहिए, कल्पवृक्ष नहीं, क्योंकि—

मैं उस नीम की पूजा करता हूं
 जो हवा के रथ पर
 बैठ धूमता है
 और मुझ तक पहुंचता है
 मेरे मन में कोई उत्साह नहीं है
 उस कल्पवृक्ष की पूजा करने के लिए
 भला फिर वह
 सब कुछ देने वाला हो
 (किंतु)
 जीवन और मौत की भाँति
 मेरी और उसकी दूरी
 कभी नहीं मिटेगी।

यह कथा दूसरी है कि आचार्य महाप्रज्ञ स्वयं कल्पवृक्ष होकर भी हवा के रथ पर बैठकर धूम रहे हैं और सब तक पहुंच रहे हैं, अपने कर्म की निःस्पृहता से, अपने वचन की प्रखरता से और अपने मन की ऋजुता से। इस अलौकिकता के मूल में है आचार्य जी का तप। उन्हें आज के आदमी से एक शिकायत है—

आज का आदमी
ताप से इतना घबराता है
कि उसके मकान की
सारी खिड़कियाँ और
सारे दरवाजे बंद हैं
वह कोरा प्रकाश चाहता है
ताप बिल्कुल नहीं।

ताप से इतने अधिक भयभीत मनुष्य की नियति पशु से भिन्न कहाँ हो सकती है—

जो गवाँकर मान अपना ध्यान रोटी में रमाते
और “जी हूँ” की लगन में मौज मनमानी उड़ाते
मनुज के आकार में वे जिन्दगी पशु की बिताते
शूल पर चल भूल मत तू फूल ये तुझको गिराते
कष्ट ही है सार जग जो चेतना की लौ जलाते

मनुष्य की दुर्दशा का कारण है कि समस्यायें उसने खुद पैदा की हैं और उनका हल वह कहीं बाहर ढूँढ रहा है। महावीर ने तो घोषणा कर दी थी कि हे पुरुष ! तू अपना मित्र अपने आप में है, बाहर मित्र क्यों ढूँढता है—पुरिसा तुमसेव तुम मित्त, किं बहिया मित्तमिच्छसि। आचार्य महाप्रज्ञ ने इसी वाणी का अनुवाद कर दिया—

बीज तुम्हीं हो और तुम्हीं फल
तुम ही नौका तुम ही नाविक और तुम्हीं हो अतुल अतल जल।
तुम्हीं चरण हो पथ हो तुम ही, उलझन तुम ही और तुम्हीं हल ॥

ज्ञान का सार है कि किसी को पीड़ा न दी जाये—“जं ण हिंसई किंचन”

धर्म का सार भी तो यही है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्

पर उस बुद्धिमान के लिए क्या कहा जाये जो अपनी बुद्धि का उपयोग दूसरों का शोषण करने के लिए कर रहा है—

यदि मैं भगवान् होता
 तो इस धरती पर एक भी आदमी बुद्धिमान् नहीं होता
 क्या सर्वव्यापी प्रभु
 सृष्टि इसलिए रचता है कि
 बुद्धिमान् बुद्धिहीन का शोषण करता रहे ?

आचार्य जी कहते हैं कि मैं युगद्रष्टा हूं। उन्होंने दुनिया को बहुत करीब से देखा और रंग-बिरंगे कई गीत गुनगुनाये पर फिर भी उन्हें लगा होगा कि कितना भी गाओ, सत्य को अभिव्यक्त करने के लिए तो अन्ततोगत्वा मौन का ही सहारा लेना होगा—

गीत मत तुम गुनगुनाओ, मौन होकर बोलना ही बोलना है।

वस्तुतः उनके समस्त गीत मौन में से झरें हैं, जैसे निराकार से समस्त आकार उपजते हैं—

मुझे पता क्या महाशून्य ने ही सबको आधार दिया है
 मुझे पता क्या निराकार ने ही सबको आकार दिया है।

* * * * *

महाप्रज्ञ उवाच

प्यार करो तो हार मान लूं।

मधु मिश्रित मुस्कान भरो तो, कांटों को उपहार मान लूं,
निश्छल मन से विष भी दो तो, उसे सुधा की धार मान लूं।

विषम मार्ग जब मन चुनते हैं, हार-जीत तब ही बनते हैं,
गरल-सुधा दोनों भाई हैं, विषों को आभार मान लूं।

वक्र बनो तो और अङूँगा, शक्र बनो तो और लङूँगा,
चक्र बनो तो रेखा को ही, जीवन का आधार मान लूं।

जीवन की परिभाषा आशा, चातक बस बूँदों का प्यासा,
अन्तर् के इस बंधन को भी, महामुक्ति का द्वार मान लूं।

दीपक ऊपर से जलते हैं, फूल सदा ऊपर खिलते हैं,
नख-शिख का एकत्व बनो तो, चरण-धूलि को सार मान लूं।

चाहे भार हरो न हरो फिर, चाहे जैसे घाव करो फिर,
आत्मा पर अधिकार करो तो, घावों का उपचार मान लूं।

लघु कण बन जो घुल जाता है, कठिन हृदय भी खुल जाता है,
चट्टानों के छेदों को फिर, निर्झर का सत्कार मान लूं।

हत्-तंत्री का तार हिले तो, रथों का आकार मिले तो,
भग्न हृदय के रुखे रवर को, वीणा की झंकार मान लूं।

स्पष्ट नहीं अनुमान चाहिए, पास नहीं व्यवधान चाहिए,
मधुर कल्पना संजोने को, निर्गुण को साकार मान लूं।

मैं ही होऊँ मेरा सब कुछ, मुझको सब संसार चाहिए,
और कल्पना की कूंची से, रंगने का अधिकार चाहिए।

मुझे प्रगति के लिए सत्य का, सतत सहज आधार चाहिए,
और सत्य को भी तो अपना, कोई स्फुट आकार चाहिए।

दूर भले हो क्षेत्र काल ये, जुड़ा कि मन का तार चाहिए,
निरी सभ्यता निरा कि धोखा, अन्तर् का उद्गार चाहिए।

सूख न पाए सरिता का जल, प्रवहमान यह धार चाहिए,
सुखद सृष्टि की नव रचना में, मानव का शृंगार चाहिए।

मंडराएं मधुकर चाहे पर, नहीं चरण का भार चाहिए,
दूर रहें उपकार सभी इस, मिट्टी का आभार चाहिए।

अभिशापों की इस जगती में, जलधर को उपहार चाहिए,
पर बूंदों को ममतामय इस, मिट्टी का ही प्यार चाहिए।

* * * * *

परमार्थ खण्ड

समाधान—सूत्रम्

परिभाषाधिकरणम्

रूपान्तरणप्रक्रियाधिकरणम्

साधनान्तरायाधिकरणम्

विभूत्यधिकरणम्

परिभाषाधिकरणे समस्यापादः

○ महत्समाधानं समस्यायाः प्रेक्षा

दुःख को कम करने का महामंत्र है—समस्या को देखना।

○ मानवमस्तिष्ठके तस्याः मूलम्

○ तत्रैव तस्याः जन्म समाधानञ्च

समस्या का मूल है—मानव का मस्तिष्ठ।

समस्या का जन्म और समस्याओं का समाधान मानव मस्तिष्ठ में ही है।

○ असंतुलनं महत्तमा समस्या

○ तच्च व्यवस्थाजीवनयोरुभयोः

○ व्यवहारेऽद्य स्पर्धा, न तु समता

○ समताध्यात्मसूत्रम्

सबसे बड़ी समस्या है असंतुलन की। न जीवन में संतुलन, न व्यवस्था में संतुलन। मनुष्य ने अपना संतुलन खो दिया है। आज व्यावहारिक जीवन में समता का सूत्र नहीं मिलता, उसमें मिलता है स्पर्धा का सूत्र। प्रत्येक क्षेत्र में कदम-कदम पर स्पर्धा चलती है। समता का सूत्र अध्यात्म का सूत्र है।

○ प्रियता वा महत्तमा समस्या

○ सा चाप्रियताजननी, सापेक्षत्वात्प्रियताप्रियतयोः

○ लोभो न धनस्यैव, सत्ताया अपि

समस्या लोभ या राग की है। प्रियता सबसे बड़ी समस्या है। अप्रियता तो प्रियता के कारण पैदा होती है। यदि किसी एक व्यक्ति के प्रति मन में प्रियता का भाव है, तो निश्चित है कि दूसरे के प्रति अप्रियता का भाव पैदा होगा।

लोभ केवल धन का ही नहीं होता, वह सत्ता का भी होता है।

○ द्वेषापगमेऽपि रागोऽवशिष्यते

○ रागोपजीवित्वाद् द्वेषस्य

अप्रियता छूट जाती है प्रियता शेष रह जाती है, द्वेष छूट जाता है, राग बच जाता है। राग मूल बीमारी है, द्वेष उसका उपजीवी है। यह मूल बीमारी नहीं है।

○ रागद्वेषाभावो यथार्थवबोधोऽनासक्तियोगश्च वैराग्यम्

वैराग का अर्थ है— न राग और न द्वेष।

वैराग्य का अर्थ है—सच्चाई का बोध, यथार्थ का अवबोध।

वैराग्य का नाम है—निष्काम कर्म, अनासक्ति योग।

○ अनपेक्षितमपि सङ्गृहीतुकामः रागयुक्तः

○ सामाजिकतावृद्धौ रागवृद्धिः

○ तत्त्वसुविधापेक्षिता

रागात्मक प्रवृत्तिवाला व्यक्ति संग्रह करता है, चाहे आवश्यक हो या न हो। जब समाज का विकास हुआ, तब रागात्मक वृत्ति का भी विकास हुआ, साथ ही साथ संग्रह की भावना भी बढ़ी। रागात्मक वृत्ति के कारण ही व्यक्ति सुख-सुविधाओं को बटोरता है।

○ परिग्रहो दुःखम्

दुःख का उत्पादक यहीं परिग्रह की भावना है।

○ त्यागोऽध्यात्मम्

अध्यात्म का अर्थ है—छोड़ते चलो, त्यागते चलो।

○ मूर्च्छाहानौ तापत्रयान्मुमुक्षा।

शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक ये तीन ताप हैं। इन तापों से जब व्यक्ति तप्त होता है तब उसमें मुमुक्षा पैदा होती है। मूर्च्छा में छिद्र होने पर यह मुमुक्षा का भाव पैदा होता है। संवेग पैदा होता है कि मुझे दुःख से मुक्त होना है। एक इच्छा पैदा होती है संवेग, मुमुक्षा—यह एक नई इच्छा पैदा हो गई। आज की मूर्च्छा के सघन वातावरण में यह इच्छा कभी पैदा नहीं हुई कि मुझे मुक्त होना है। जैसे ही मूर्च्छा में थोड़ा सा छिद्र बना वैसे ही एक नई इच्छा पैदा हो गई।

० मूर्च्छेकैव बहुरूपिणी

प्राकृतिक चिकित्सा का सिद्धान्त है कि बीमारी एक ही है। शरीर में विजातीय तत्त्व संचित हो जाता है और वह बीमारी का रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार मूर्च्छा एक ही है। कारण-भेद के अनुसार वह अनेक प्रकार की हो जाती है। आहार के प्रति आसवित होती है, वह आहार संज्ञा कहलाती है। परिग्रह के प्रति आसवित होती है, वह परिग्रह संज्ञा कहलाती है। वास्तव में मूर्च्छा एक ही है।

० द्वन्द्वं संसारः

० तत्त्वं सुखदुःखे, जीवनमरणे, निन्दाप्रशंसासे, मानापमाने, हानिलाभौ चेति पञ्चविधम्

द्वन्द्वों का जीवन संसार का जीवन है। हमारे जीवन में बहुत सारे द्वन्द्व हैं, सुख और दुख एक द्वन्द्व है, जीवन और मरण एक द्वन्द्व है, निन्दा और प्रशंसा एक द्वन्द्व है, मान और अपमान का एक द्वन्द्व है, लाभ और हानि एक द्वन्द्व है—ये पांच प्रकार के द्वन्द्व हैं। द्वन्द्व मुक्त जीवन है अध्यात्म का जीवन।

० विषमता वा संसारः

० समताध्यात्मम्

जहाँ चित्त की विषमता है—वह है व्यवहार का संसार और जहाँ चित्त की विषमता नहीं है, समता है, वह है अध्यात्म का संसार, वास्तविक संसार।

० जीवनं प्रकम्पनबहुलम्

० तत्तु बाह्यमाध्यन्तरज्य

० वस्तुना तत्संयोगः सुखं दुःखञ्च, न तु वस्तुमात्रम्

हमारा सारा जीवन प्रकंपनों का जीवन है। बाह्य जगत् में प्रकंपन है वाइब्रेशन्स है और भीतरी जगत् में भी प्रकंपन है। प्रकंपन ही सुख दुःख पैदा करते हैं। केवल वस्तु से सुख या दुःख नहीं होता। वस्तु और प्रकंपन—इन दोनों का योग होता है तब सुख या दुःख होता है।

० चिन्तातुरस्य न सुखं न दुःखम्

आदमी अनमना है, चिंतातुर है या कोई बाहरी रोग से ग्रस्त है या आपत्ति में है, उस समय भी वह खाता है, किंतु स्वाद का अनुभव नहीं करता। अनमने व्यक्ति को न सुख का अनुभव होगा और न दुःख का। प्रकंपन पैदा हुआ और हमारा ध्यान उस प्रकंपन से जुड़ जाता है, तब सुख या दुःख का अनुभव होता है।

- ज्ञानस्य भावनायाः क्रियायाश्च परिष्कारो जीवनस्य विज्ञानम्।
- तेषामपरिष्कारस्समस्यानां मूलम्।

हमारे जीवन के तीन पहलू हैं—ज्ञानात्मक, भावनात्मक एवं क्रियात्मक। हम जानते हैं यह हमारा ज्ञानात्मक पहलू है। हम भावना से जुड़े हुए हैं—यह हमारा भावनात्मक पक्ष है। हम आचरण करते हैं—यह हमारा क्रियात्मक पक्ष है। जीवन विज्ञान का लक्ष्य है कि ये तीनों पक्ष परिष्कृत हों। जीवन की सारी समस्या अपरिष्कृत दृष्टिकोण, भाव एवं आचरण से पैदा होती है।

- धृणा-भय-क्रोध-हर्ष-शोक-प्रेमेति षडावेगः
- क्रोध-मान-माया-लोभाश्चेति कषायाः
- हास्य-रति-अरिति-भय-शोक-जुगुप्सा-स्त्रीवेद-पुरुषवेद-नपुंसकवेदाः नोकषायाः

मानस शास्त्र के अनुसार आवेग हैं—भय, क्रोध, हर्ष, शोक, प्रेम और धृणा।

कर्म शास्त्र ने मोहनीय कर्म के चार आवेग माने हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। इन्हें “कषाय चतुष्टयी” कहा जाता है। ये चार मुख्य आवेग हैं। कुछ उप-आवेग हैं। उनकी संख्या सात या नौ है। हास्य, रति, अरिति, भय, शोक, जुगुप्सा और वेद—ये सात या वेद को स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद में हम विभक्त करें तो उप-आवेग नौ हो जाते हैं। इन्हें “नो कषाय” कहा जाता है। ये पूरे कषाय नहीं हैं। कषायों के कारण होने वाले नो कषाय हैं, मूल आवेगों के कारण होने वाले उप-आवेग हैं।

○ ईर्ष्यादियस्तु सम्मिश्रणादावेगानाम्

मानसशास्त्रीय परिभाषा के अनुसार ईर्ष्या आदि मूल आवेग नहीं हैं, ये सम्मिश्रण हैं। मिश्रित आवेग हैं। इनमें अनेक आवेगों का एक साथ मिश्रण हो जाता है। ये मूल नहीं हैं।

- सुविधासुखयोर्भेदः
- समस्यादुःखयोर्भेदः
- राग-द्वेष-मोह-श्रद्धा-बुद्धि-वितर्कात्मकानि चरितानि

सुविधा और सुख एक नहीं है। समस्या और दुःख भी एक नहीं है। चरित्र छह प्रकार का होता है—रागात्मक, द्वेषात्मक, मोहात्मक, श्रद्धात्मक, बुद्ध्यात्मक और वितर्कात्मक।

○ प्रियतयासक्तिः

जहाँ प्रियता होती है वहाँ आसक्ति जमा होती जाती है।

० शुद्धचेतना वीतरागता

शुद्ध चेतना का अर्थ है—वीतरागता ।

० प्रतिकूलघटनोद्भवं तत्सृत्युद्भवञ्चेति द्विविधं दुःखम्

० प्रथमं ससीमम् द्वितीयमसीमम्

दुःख दो प्रकार का होता है । एक प्रतिकूल घटनाओं के कारण होने वाला दुःख, दूसरा है उन घटनाओं के आधार पर संवेदना से ढोया जाने वाला दुःख ।

घटना का दुःख ससीम होता है, थोड़ा होता है । संवेदना का दुःख असीम होता है ।

० सुखसामग्री सुखसंवेदनं सुखचेतना चेति तिस्रोऽवस्थाः

० दुःखसामग्री दुःखसंवेदनञ्चेति द्वेऽवस्थे

० आत्मनि दुःखस्यात्यन्ताभावः

सुख की तीन अवस्थाएं हैं—सुख की सामग्री, सुख का संवेदन और सुख चेतना की आंतरिक अनुभूति । दुःख की दो ही अवस्थाएं हैं—दुःख की सामग्री और दुःख का संवेदन । आत्मा में दुःख है ही नहीं ।

० समस्योत्पादकः परो न तु दुःखोत्पादकः

दूसरा कोई व्यक्ति समस्या पैदा कर सकता है, पर दुःखी नहीं बना सकता ।

॥ इति परिभाषाधिकरणे समस्यापादः ॥

परिभाषाधिकरणे ज्ञानपादः

० अज्ञानं स्वयं दुःखम्

नहीं जानना स्वयं दुःख है।

० स्वास्तित्वानुभूतिज्ञानम् । तदनुरागो विरागः ।

ज्ञान का अर्थ है अपने अस्तित्व की तीव्र अनुभूति। अपने अस्तित्व के प्रति अनुराग होने का नाम ही विराग है।

० ज्ञानं बाह्यम् । प्रज्ञानमान्तरम् ।

ज्ञान वह है जो बाहर से लिया जाता है। प्रज्ञान वह है जो भीतर में जागता है।

० अज्ञानं स्वीकरोतीति ज्ञानी, न स्वीकरोतीत्यज्ञानी ।

ज्ञानी वह है जो अपने अज्ञान को जानता है, स्वीकार करता है। अज्ञानी वह है जो अपने अज्ञान को नहीं जानता, नहीं स्वीकार करता।

० अप्रमत्तो युवा, प्रमत्तो वृद्धः । अप्रमत्तस्य धर्मरतिः । निरुत्साही वृद्धः ।

युवा वह होता है जो अप्रमत्त होता है। बूढ़ा वह होता है जो प्रमत्त होता है। जो अप्रमत्त होगा उसमें धर्म के प्रति उत्साह होगा। बूढ़ा वह होता है जिसका उत्साह मर जाता है।

० दृष्टिविमलता विवेकः

विवेक है दृष्टि की स्पष्टता।

० सत्यसान्निध्यं निवृत्तिः

सत्य के निकट हो सकें इसी का नाम निवृत्ति है।

० आत्मकर्मणोः क्षेत्रैव्यं बन्धः

बंध का मतलब है—आत्मा और कर्म का प्रभाव क्षेत्र।

○ **किञ्चनता खण्डितचेतनाहेतुः**

खंडित चेतना होने का कारण है—किञ्चनता। किञ्चनता का अर्थ है—मेरे पास कुछ है ?

○ **वीतरागताखण्डचेतना**

अखण्ड चेतना का अर्थ है—अनावृत चेतना, वीतराग चेतना।

○ **चैतन्यलक्षण आत्मा**

चैतन्य लक्षण, चैतन्य स्वरूप या चैतन्य गुण पदार्थ का नाम आत्मा है।

○ **आत्मनि न स्मृतिर्न कल्पना**

जहाँ कोई स्मृति नहीं है, जहाँ कोई कल्पना नहीं है उस बिंदु का नाम है—आत्मा या अस्तित्व।

○ **पूर्णतायां निराङ्गकाक्षा, ततोऽभयम्, ततोऽहिंसा**

पूर्णता का अर्थ है आकांक्षा का न होना। आकांक्षा के न होने का अर्थ है भय का न होना। भय के न होने का अर्थ है अहिंसा का होना।

○ **आक्रमण आस्थावान् हिंसावादी**

आक्रमण में विश्वास रखने वाले हिंसावादी हैं।

○ **प्रत्याक्रमण आस्थावान् मध्यमः**

प्रत्याक्रमण में विश्वास रखने वाले मध्यममार्गी हैं।

○ **अनाक्रमण आस्थावानहिंसकः**

अनाक्रमण में विश्वास रखने वाले अहिंसावादी हैं।

○ **अणुव्रतेन नाहिंसाविभाजनम्, किन्तर्हि ? तारतम्येनावाप्तिः।**

अणुव्रत अहिंसा की विभक्ति नहीं किंतु पहुँच का तारतम्य है।

○ **निरपेक्षो ममास्तित्वम्। अस्मीत्यनुभूये, न त्वनुभूयत इत्यस्मि**

मैं हूँ—यह निरपेक्ष अस्तित्व है। दूसरे मुझे अनुभव करते हैं, इसलिए मैं नहीं हूँ किंतु मैं हूँ : इसलिए दूसरे मुझे अनुभव करते हैं। मैं अपने आप में अपना अनुभव करता हूँ इसलिए मैं हूँ।

○ **व्यक्तमास्तित्वस्योर्मयोऽस्तित्वं तदाच्छल्नम्।**

जो व्यक्त है वह अस्तित्व नहीं है। वह अस्तित्व की ऊर्मि—माला है। अस्तित्व उसके नीचे है।

○ अस्तित्वे ममत्वाच्छन्ने सत्यनवच्छिन्नमवच्छिद्यते

मनुष्य ने जहाँ अस्तित्व को ममत्व से आबद्ध किया है, वहाँ असीम सीमा में बंधा है।

○ अस्तित्वोपलब्धिरध्यात्मम्

अध्यात्म का अर्थ है—अपने अस्तित्व की उपलब्धि।

○ अध्यवसायः स्पन्दनात्मकः

○ लेश्या रेखात्मिका

○ चिन्तनं चित्रात्मकम्

○ वैखरी शब्दात्मिका

अध्यवसाय की भाषा तरंग की भाषा है, स्पन्दन की भाषा है।

लेश्या की भाषा रेखांकन की भाषा है।

मन की भाषा चित्र की भाषा है।

आदमी की भाषा लिपि की भाषा है—अक्षरात्मक भाषा है।

○ अस्तित्वं सम्पूर्णम्

○ व्यक्तित्वमपूर्णम्

○ अस्तित्वेऽखण्डचेतना

○ व्यक्तित्वे खण्डत्वेतना

अस्तित्व का मतलब है होना और व्यक्तित्व का मतलब है कुछ होना। अस्तित्व की अनुभूति में अखण्ड चेतना काम करती है। व्यक्तित्व की अनुभूति में खण्ड चेतना सक्रिय होती है।

○ अस्तित्वं सत्यम्

जो अस्तित्व है, वही सत्य है।

○ अदृश्यं सत्यं, न तु दृश्यम्

○ बुद्धेः परं तत्सत्यं, न तु बुद्धिग्राह्यम्।

जो दृश्य है वह सत्य नहीं है, सत्य वह है जो अदृश्य है। जो बुद्धिग्राह्य है वह सत्य नहीं है, सत्य वह है जो बुद्धि से परे है।

○ इन्द्रियैर्न यथार्थवबोधः

○ निरपेक्षचेतनया तदवबोधः

यथार्थ का दर्शन इन्द्रियों से नहीं, किंतु निरपेक्ष चेतना से होता है।

- परं प्रति प्रामाण्यं प्रामाणिकता
- आत्मनं प्रति प्रामाण्यं परमप्रामाणिकता

दूसरों के प्रति सच्चा रहना प्रामाणिकता तो है किंतु प्रामाणिकता की सच्ची परिभाषा है अपने प्रति सच्चा रहना।

- सुप्तचेतनोत्थानं साक्षात्कारः

साक्षात्कार का अर्थ है, सुप्त चेतना का जागना।

- दृष्टिपरिवर्तनं सत्यसाक्षात्कारः

दृष्टि बदलने का अर्थ है—सत्य का साक्षात्कार होना।

- दृष्टिपरिवर्तनं स्वात्मनि शान्तिगवेषणा

दृष्टिकोण बदलने का अर्थ है—भीतर में शान्ति की खोज। आनंद की खोज, ज्ञान की खोज।

- निर्विचारे विलीने सति विचारे समग्रसत्याभिव्यक्तिः

जहाँ विचार निर्विचार में विलीन हो जाते हैं, वहाँ सत्य समग्र होकर प्रकट होता है।

- मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना

- मतिभेदे स्वातन्त्र्यम्

- मतिभेदसमाप्तिप्रयासः स्वातन्त्र्ये हस्तक्षेपः

हर मनुष्य विचार से बंधा हुआ है। जितने मनुष्य, उतने विचार, इस प्रतिपाद्य में कोई असत्य नहीं है। स्वतंत्रता से जुड़ी हुई है विचार की भिन्नता, इसलिए विचारों को एक करने का प्रयत्न स्वतंत्रता की सीमा में हस्तक्षेप है।

- ज्ञानं सत्यसाक्षात्कारः

- मतं सत्यारोपणम्

जानना है—सत्य का साक्षात्कार।

मानना है—सत्य का आरोपण।

- अपूर्ण इति सापेक्षोऽहम्

मैं अपूर्ण हूं इसलिए सापेक्ष हूं।

- कर्ता विकर्ता स्वयमेव व्यक्तिः

अच्छा-बुरा जैसा है, प्रत्येक कार्य के लिए व्यक्ति स्वयं उत्तरदायी है।

- इन्द्रिय-मनो-बुद्धिभिज्ञायते व्यक्तिः

व्यक्तित्व को जानने के तीन साधन हैं—इन्द्रियां, मन और चित्त या बुद्धि।

○ मनसि व्यवहारे च प्रवर्जना

○ न तु भावे,

व्यक्तित्व के पहचान की कसौटी यह मानस जगत् और व्यवहार जगत् नहीं है किंतु भाव जगत् है, जहाँ कोई धोखा नहीं हो सकता। जो जैसा है वैसा ही रूप वहाँ मिलेगा।

○ हस्तं स्वमार्कर्षति

○ न तु व्यापकम्

स्व जितना छोटा है, उसका उतना ही आकर्षण है। वह जैसे-जैसे व्यापक होता है वैसे-वैसे आकर्षण कम होता जाता है।

○ सापेक्षव्यवहारस्सहानुभूतिः

सापेक्ष व्यवहार अर्थात् सहानुभूति पूर्ण व्यवहार।

○ ममत्वे विसर्जिते तद्विस्तरः

○ तद्विस्तरे तद्विसर्जनम्

ममत्व के विसर्जन से ममत्व का विस्तार हो जाता है, और ममत्व के विस्तार से ममत्व विसर्जित हो जाता है।

○ भेदविज्ञानं सम्यग्दर्शनम्

भेदविज्ञान यानि शरीर और आत्मा के पृथक् अस्तित्व का स्वीकार, यही सम्यक् दर्शन है।

○ अहम्बद्धं दानम्, अहंविमुक्तस्त्यागः

दान और त्याग में बड़ा अन्तर है। दान में अहं बद्ध होता है, जबकि त्याग में वह मुक्त होता जाता है।

○ आन्तरिकचेतनायां व्यक्तित्वस्याखण्डता

आन्तरिक चेतना के धरातल पर अखण्ड व्यक्तित्व का निर्माण किया जा सकता है।

○ मिथ्यादर्शनाकर्षणमूर्च्छा—रागद्वेषापगमे चेतनानावरणम्

अखण्ड व्यक्तित्व की दिशा में प्रस्थान का क्रम यह है—मिथ्या दृष्टिकोण, आकर्षण, मूर्च्छा और राग-द्वेष। इन चारों के समाप्त होने पर पांचर्वीं भूमिका में चेतना सर्वथा अनावृत हो जाती है।

० भौगोलिकानुवंशिकसामाजिकशारीरिकमानसिकापरामानसिकमिति षड्विधं
व्यक्तित्वविभाजनम्

हमारा व्यक्तित्व छह खण्डों में विभाजित है। ये छह खण्ड हैं—
भौगोलिक व्यक्तित्व, आनुवंशिक व्यक्तित्व, सामाजिक व्यक्तित्व, शारीरिक
व्यक्तित्व, मानसिक व्यक्तित्व, परामानसिक व्यक्तित्व।

० गुण-दोषः पितृभ्याम्

आनुवंशिकता का भी व्यक्तित्व में बहुत बड़ा अवदान होता है। माता-पिता
के गुण-दोष संतान में संक्रान्त होते हैं।

० व्यवहारस्समाजतः:

वेशभूषा, व्यवहार और आचार-विचार—ये सारे हमारे सामाजिक व्यक्तित्व
के कारक हैं।

० शरीराकृतिश्शरीरावधारणातः:

शरीर की अवधारणाओं के आधार पर शरीर की दीप्ति के अनुसार एक
व्यक्तित्व निर्मित होता है।

० दायित्वनिर्वहणं मनसः:

सभी प्रकार के व्यक्तियों के दायित्वों को वहन करना, प्रतिक्रियाओं को
झेलना, क्रियाओं का उत्सर्जन करना—यह सब मानसिक व्यक्तित्व करता है।

० परामानसं तिरोहितम्

परामानसिक व्यक्तित्व, यह छिपा हुआ है, प्रकट नहीं है।

० तत् सूक्ष्मे कार्मणे वा शरीरे

हमारे समूचे व्यक्तित्व के पीछे, व्यक्तित्व में घटित होने वाली घटनाओं
के पीछे जो रहस्यमय सत्ता छिपी हुई है वह है सूक्ष्म शरीर या कर्म शरीर की
सत्ता या सूक्ष्म शरीरीय चेतना की सत्ता। इसे हम परामानसिक सत्ता कहते हैं।

० जरायां वियोगे रोगे वानाक्रान्तो धार्मिकः

धार्मिक वह है जो बुढ़ापा आने पर, वियोग होने पर, रोगग्रस्त होने पर
भी दुःखी नहीं होता।

० सक्रियता आसनम्

० तत्र निवृत्तिरपेक्षिता

आसन का अर्थ है सक्रियता। किंतु जिस आसन के साथ निवृत्ति जुड़ी
हुई नहीं है वह आसन अच्छा नहीं होता।

- जीवतीति जीवनम्
- तदिन्द्रियप्राणसंयोगेन

आदमी जीता है वही जीवन है। इन्द्रिय और प्राण के संयोग से ही वह बनता है।

- जीवनं शरीर-सापेक्षम्
- शरीर-मुक्ते न जीवनं न मृत्युः

जीवन शरीर-सापेक्ष है। शरीर मुक्त आत्मा में जीवन मौत जैसा कुछ भी नहीं होता।

- यत्र जीवनं तत्र तर्कः
- यत्र न जीवनं तत्र न तर्कः

तर्कवाद या मायाजाल जीवन से गुंथा हुआ है। जहाँ जीवन नहीं वहाँ तर्क नहीं होता।

- पदार्थ उपयोगीति सत्यम्
- पदार्थ एव सर्वभिति न

भौतिकवादी दृष्टिकोण का अर्थ है—पदार्थवादी दृष्टिकोण। यह सच है कि जब तक शरीर है तब तक पदार्थों को सर्वथा नहीं छोड़ा जा सकता। हमारा अनिष्ट तब होता है जब हम पदार्थवादी बन जाते हैं। पदार्थों का होना, पदार्थ का उपयोग करना और पदार्थवादी होना—ये दो पृथक्-पृथक् बातें हैं। पदार्थ का उपयोग है और वह उपयोग सर्वसम्मत है, असम्मत नहीं है, यह एक बात है और पदार्थवादी बन जाना, यह दूसरी बात है।

- पदार्थवादे चैतन्योपेक्षा

भौतिकवादी दृष्टिकोण की पहली निष्पत्ति है चैतन्य की उपेक्षा। आज चैतन्य गौण है और पदार्थ मुख्य है।

॥ इति परिभाषाधिकरणे ज्ञानपादः ॥

परिभाषाधिकरणे अहिंसापादः

० अनन्ता मैत्री अहिंसा

अहिंसा का स्वरूप है मैत्री का अनन्त प्रवाह।

० सर्वेऽभ्योऽभयमहिंसा

अहिंसा की मर्यादा है सबकी सुरक्षा—प्राणी मात्र की सुरक्षा। एक की सुरक्षा और दूसरे की असुरक्षा यह अहिंसा की मर्यादा का भंग है।

० अहिंसा बलवच्छस्त्रम्

अहिंसा का अस्त्र आणविक अस्त्र से भी अधिक शक्तिशाली है किंतु उसका प्रयोग शक्तिशाली व्यक्ति ही कर सकता है।

० शुद्धि-शान्ती फलमहिंसायाः

० न तु भौतिकोपलब्धिः

भौतिक उपलब्धि अहिंसा का परिणाम नहीं है। उसका परिणाम है आत्म-शुद्धि और मानसिक-शान्ति।

० अनेकतायामेकतादर्शनं सहास्तित्वमूलम्

शान्ति का आध्यात्मिक सिद्धांत सह-अस्तित्व का विचार है। अनेक धाराएं भी सह-अस्तित्व का विकास होने पर एक धारा की भाँति व्यवहार कर सकती है।

० न मूर्च्छा शान्तिः

० आत्मन्यात्मविलीनताजन्या शक्तिशशान्तिः

शान्ति चेतना की नकारात्मक स्थिति नहीं है। वह मन की मूर्च्छा नहीं है। वह अन्तःकरण की क्रियात्मक शक्ति है। अन्तःकरण जब अन्तःकरण का स्पर्श करता है, मन जब मन में विलीन होता है और चैतन्य का दीप जब चैतन्य

के स्नेह से प्रदीप्त होता है तब क्रियात्मक शक्ति प्रकट होती है। वही है मन की शान्ति।

० सत्यामेव शान्तौ सर्वं सुखकरम्

० नान्यथा

हमारे जीवन में शब्दकोश का सबसे मूल्यवान् शब्द है—शान्ति। पैसे और रोटी का, घर और कपड़े का या अन्य पदार्थों का मूल्य तभी है जब मन में शान्ति है। शान्ति नहीं होती है तो सारे मूल्य मूल्यहीन बन जाते हैं।

० एकान्तसेवन-मौन-कार्यव्यापृतता-श्वासनिरोधाः क्रोधशमनोपायाः

क्रोध की विफलता के चार सूत्र हैं—

जहां क्रोध आए वहां से उठकर एकान्त में चले जाना। मौन हो जाना। किसी काम में लग जाना। एक-दो क्षण के लिए श्वास को रोक देना।

० अनाग्रह-सापेक्षता-स्थायित्व-परिवर्तनशीलता-सौहार्द-एकतानुभूतयः शान्तिसूत्रम्

शान्ति के सूत्र—

निरपेक्ष या आग्रहपूर्ण नीति का परित्याग।

सापेक्ष या तटस्थ नीति का स्वीकरण।

स्थिति का स्थायित्व की दृष्टि से मूल्यांकन।

स्थिति का परिवर्तन की दृष्टि से मूल्यांकन।

आत्म-विश्वास और पारस्परिक सौहार्द का विकास।

मानवीय एकता की तीव्र अनुभूति।

० आत्मौपम्य-एकतानुभूति-सत्यैकतानेकतैकता-मैत्री-स्वामित्वसङ्कोच-अनर्थहिंसा-विरमण-संयमाः विश्वबंधुत्वसूत्रम्।

विश्व-बंधुत्व के आधार सूत्र—

आत्मौपम्य की भावना का विकास।

मनुष्य जाति की एकता में विश्वास।

धर्म की मौलिक एकता में विश्वास।

राष्ट्रीय अथवा विभक्त भूखण्ड के नीचे रहे हुए अखण्ड जगत् की अनुभूति।

मैत्री और करुणा का विकास।

व्यवित्तगत स्वामित्व की सीमा।

शस्त्र के प्रयोग की सीमा।

अनावश्यक हिंसा की वर्जना।

संयम का विकास।

- इच्छाकेन्द्रं मनः
- मनःकेन्द्रं स्वातन्त्र्यम्

सारी इच्छाओं का केन्द्र मन है और मन की इच्छा का केन्द्र है स्वतंत्रता।

- मानवीया प्रजा
- विस्तरवादी राजा

जनशक्ति हमेशा मानवता का समर्थन करती है। किंतु राज-शक्ति का ध्यान हमेशा विस्तार और प्रसार की ओर केन्द्रित रहता है।

- अहिंसा-अपरिग्रह-सत्यानि सापेक्षताजन्यानि

सपेक्षता को न जानने वाला शान्ति का मर्म जान ही नहीं पाता। अहिंसा, अपरिग्रह और सच्चाई—ये सब सापेक्षता के ही परिणाम हैं।

॥ इति परिभाषाधिकरणे अहिंसापादः ॥

रूपान्तरणप्रक्रियाधिकरणे साधनापादः

० सम्यग्दृष्टिः कषायविसर्जनञ्च श्रद्धा

श्रद्धा को व्यापक संदर्भ में देखें तो श्रद्धा का अर्थ होगा – सम्यक् दृष्टिकोण और कषाय का विसर्जन।

० अभेदचेतनया दर्शनं भेदचेतनया च ज्ञानम्

दर्शन होता है अभेदात्मक चेतना से और ज्ञान होता है भेदात्मक चेतना से।

० आत्मावबोधो निश्चयसम्यक्त्वं, तत्त्वावबोधो व्यावहारिकम्

आत्मा का बोध होना निश्चय सम्यक्त्व है और तत्त्वों का बोध होना व्यावहारिक सम्यक्त्व है।

० कर्मकेन्द्रविन्दुमूर्च्छा साधनाकेन्द्रविन्दुर्जागरणम्

कर्म का केन्द्र बिंदु है—मूर्च्छा। साधना का केन्द्र बिंदु है—जागरण।

० आत्मसम्प्रेक्षा शुद्धचेतनानुभवो वा जागरणम्

जागरण का अर्थ है—आत्मा की संप्रेक्षा, शुद्ध चेतना का अनुभव।

० स्वशक्तिप्रत्यभिज्ञा साधना

साधना का अर्थ है—अपनी शक्तियों को पहचानने का प्रयत्न।

० अनासवित्तयोगो निष्कामकर्म च प्रेक्षा

प्रेक्षाध्यान की साधना अनासक्त योग और निष्काम कर्म की साधना है।

० चित्ताखण्डताभ्यासः साधना

साधना की परिभाषा है—चित्त की अखण्डता का अभ्यास। खण्ड-खण्ड में बंटे चित्त को जोड़कर अखण्ड कर लेना ही साधना है।

० दृष्टिपरिवर्तनं प्रत्यगात्मेक्षणं वा साधना

साधना का अर्थ है—दिशा का परिवर्तन। आँख की दिशा का परिवर्तन। आँख के मध्यम से बाहर जाने वाली चेतना के आकर्षण का परिवर्तन।

० न द्वित्वं द्वैतं तद्विद्योस्संयोगः, इन्द्रियाणि तत्साधनम्।

व्यवहार के मंच पर द्वैत का अर्थ दो का होना नहीं किंतु सम्पर्क का होना है। सम्पर्क का पहला सूत्र है—इन्द्रिय।

० निर्जरा साधना, न योगक्षेमम्

साधना का अर्थ है—खोना यानि निर्जरा करना। जब तक पाने का विकल्प शेष रहता है तब तक निर्विकल्प साधना का मर्म हम नहीं समझ पाते। खोना ही साधना का मार्ग है।

० होरात्रयमेकस्थितिरासनसिद्धिः

आसन सिद्धि का अर्थ है—एक ही आसन में तीन घंटे बैठे रहना।

० शरीरममत्वविसर्जनं कायोत्सर्गः

कायोत्सर्ग का अर्थ है—शरीर का उत्सर्ग कर देना, शरीर को छोड़ देना ममत्व का विसर्जन है।

० श्वाससंयमः प्राणायामः

प्राणायाम का अर्थ है—श्वास का निरोध। आयाम का एक अर्थ है—विस्तार। प्रस्तुत संदर्भ में आयाम शब्द का तात्पर्य है—श्वास पर नियंत्रण करना।

प्राणायाम का अर्थ है—वायुकोषों को प्राणवायु से भरना।

० अनुप्रेक्षा-जप-स्वाध्यायासन-प्राणायाम-तपांसि ध्यानोपकारकाणि

अनुप्रेक्षा, जप, स्वाध्याय, आसन, प्राणायाम, तपस्या—ये सब ध्यान परिवार के सदस्य हैं।

० तैद्वन्द्वसहिष्णुत्वं प्रकाशावरणनिवारणञ्च

समस्त विकास का अर्थ है—ध्यान को और उसके परिवार के सब सदस्यों को एक साथ आमंत्रित करें, सबका सर्वांगीण प्रयोग चले, जिससे द्वन्द्वों को सहन करने की शक्ति भी जागे, हम प्रकाश के आवरण को भी दूर कर सकें।

० मनसो बुद्धेश्च परतः प्रज्ञा

मन और बुद्धि से परे की चेतना का नाम प्रज्ञा है।

० ध्यानं चेतनावबोधो, न तु शून्यता

ध्यान का अर्थ शून्यता नहीं है। ध्यान का अर्थ है—चेतना के प्रति जागना और फिर उसका साक्षात्कार करना।

० चेतनप्रवाहैक्यमेकाग्रता

चेतना का एक ही प्रवाह में प्रवाहित हो जाना एकाग्रता है।

० त्यागी विरक्तो ध्यानाधिकारी

त्याग और वैराग्य शब्द भिन्न, पर तात्पर्यार्थ में एक हैं। जिसमें त्याग और वैराग्य की भावना जाग गई, वह अध्यात्म की ओर अभिमुख हो गया। वही यथार्थ में ध्यान का अधिकारी है। हम त्याग और वैराग्य को मजबूत बनायें, तभी ध्यान की निर्मल धारा आगे बढ़ेगी और जीवन में नया आनंद, नया अनुभव और नई सरसता पैदा करेगी। इससे जीवन में निरन्तर प्राणसंचार होता रहेगा और तब व्यक्ति शक्ति और प्रेम का जीवन जीने में समर्थ होगा।

० निषेधात्मकभावनिवारणार्थं प्रेक्षाध्यानम्

प्रेक्षाध्यान के प्रयोग का अर्थ है—निषेधात्मक भाव से बचना।

० स्वं प्रति जागरण ध्यानम्

ध्यान का मतलब है—अपने प्रति जागरूक रहना।

० द्वन्द्वसहिष्टुत्वार्थं ध्यानम्

ध्यान का अर्थ है—उस चेतना का विकास, जिसके द्वारा प्रिय और अप्रिय; अनुकूल और प्रतिकूल स्थितियों को समान भाव से झेल सकें।

० चलं ज्ञानमचलं ध्यानम्

चंचलता ज्ञान है। अचंचलता ध्यान है।

० ध्यानप्रसङ्गे देवपिशाचरक्षांसि निषेधात्मकभावाः

प्राचीन साहित्य में देवों के साथ जुड़ी हुई घटनाओं का प्रचुर विवरण मिलता है। यदि ध्यान और साधना के संदर्भ में इनकी व्याख्या की जाए तो वहां देव, पिशाच या राक्षस नहीं टिकेंगे वे सारी घटनाएं निषेधात्मक भावों की घटनाएं होंगी। देव, राक्षस और पिशाच यह हमारा निषेधात्मक विचार ही है।

० ॐ यसायो ज्ञानस्रोतः । सो वनस्पतौ विशेषः । तेन परचित्तज्ञानम् ।

हमारे ज्ञान का सबसे बड़ा स्रोत है—अध्यवसाय। वनस्पति में अध्यवसाय का सीधा परिणाम होता है, इसलिए उन जीवों में जितनी पहचान, जितनी

स्मृति और दूसरों के मनोभावों को जानने की जितनी क्षमता होती है, वैसी क्षमता बहुत सारे मनुष्यों में भी नहीं होती।

○ **आत्मा कषायोऽध्यवसायश्च स्थूलशरीरात्परतरा:**

आत्मा, कषाय-तंत्र और उसके बाद अध्यवसाय का तंत्र है। यहाँ तक स्थूल शरीर का कोई संबंध नहीं रहता।

○ **शब्दशून्योऽर्थस्पर्शो दर्शनम्**

दर्शन तब जब अर्थ का स्पर्श हो, शब्द का स्पर्श न हो।

○ **रागद्वेषविकल्पशून्यं दर्शनम्**

दर्शन प्रियता-अप्रियता आदि से शून्य।

○ **बाह्याभिमुखं ज्ञानमन्तरभिमुखं दर्शनम्**

ज्ञान है बाह्य केन्द्रित चेतना और दर्शन है आत्म केन्द्रित चेतना।

○ **दर्शनज्ञाने स्वस्वरूपम्**

दर्शन और ज्ञान आत्मा का सहज स्वरूप।

○ **विवेचनं विवेकः**

विवेक का अर्थ है विवेचन करना, पृथक् करना, अलग-अलग करना।

○ **भावक्रियाप्रवणोऽप्रमत्तो ध्यानी**

ध्यानी होने का अर्थ है—सतत अप्रमत्त रहना, सतत जागृत रहना, सतत भावक्रिया में संलग्न रहना। जिसकी मूर्छा टूट गई वह है ध्यानी।
एकाग्रता है प्रतिशोधक शक्ति।

○ **निर्मलीकरणमनुप्रेक्षा**

अनुप्रेक्षा है सफाई।

○ **विषविसर्जनं शरीरप्रेक्षा**

शरीर प्रेक्षा है विष विसर्जन।

○ **लक्ष्यरूपेण परिणमनं तन्मयता**

तन्मूर्ति ध्यान है—लक्ष्य रूप में स्वयं का परिणमन।

○ **उदासीनदर्शनज्ञाने ध्यानम्**

ध्यान है उदासीन दर्शन। उदासीन ज्ञान ध्यान है।

○ **अन्तरतमेक्षणं प्रेक्षा**

प्रेक्षा है—भीतर की गहराई में देखना।

० मनसा चेतनाऽयोगशशुद्धोपयोगः। तत्र ध्यानं सहजम्।

मन के साथ चेतना का योग न हो तो ध्यान की कोई आवश्यकता नहीं है। फिर हम स्वयंसिद्ध बन जाते हैं। चेतना मन के साथ जुड़ी हुई नहीं है: इसका अर्थ है—मन सक्रिय होता ही नहीं। उस स्थिति में कोई संकल्प-विकल्प चिंता होती ही नहीं है। मन का यंत्र मृतवत् पड़ा रहता है। यह सहज ध्यान की भूमिका है। शुद्ध उपयोग की भूमिका है।

० एकाग्रतया क्रियासिद्धिः

क्रिया की सिद्धि का अर्थ है—एकाग्रता, स्थिरता। जब व्यक्ति एक घंटे की एकाग्रता साध लेता है तब उसे अपना मार्ग स्वयं दिखने लग जाता है।

० एकावलम्बनमेकाग्रता

एकाग्रता—एक आलम्बन पर सतत स्मृति का रहना एकाग्रता है।

० चित्तप्रवाहैकतानता ध्यानम्

ध्यान—चित्त का वह संतति-प्रवाह जो अवलम्बित विषय के अतिरिक्त दूसरे विषयों का स्पर्श नहीं करता, ध्यान कहलाता है।

० विषयान्तरारपर्शवती चित्तसंततिधर्यानम्।

० कर्मप्रकम्पनं निर्जरा

निर्जरा के लिए एक शब्द है—विधूननम्—प्रकंपित कर देना। जैसे पक्षी पंखों को हिलाकर सारे रजःकणों को धुन डालता है, हिला डालता है, वैसे ही जो निर्जरा करने वाला है, वह अपनी सत्प्रवृत्ति के द्वारा कर्मरजों को धुन डालता है, प्रकंपित कर, झाड़ कर साफ कर देता है। निर्जरा प्रकंपन की प्रक्रिया है।

० प्रकम्पननिरोधसंवरः:

एक प्रक्रिया है संवर की। इससे प्रकंपन बंद हो जाते हैं। सामायिक संवर की प्रक्रिया है। इसमें प्रकंपन निरुद्ध हो जाते हैं, शांत हो जाते हैं। जैसे ही मन सम्भाव की स्थिति में जाता है, वैसे ही प्रकंपन बंद हो जाते हैं।

० सुप्तोत्थानं साक्षात्कारः:

साक्षात्कार का अर्थ है—सुप्त चेतना का जागना।

० सत्यसाक्षात्कारो दृष्टिपरिवर्तनम्।

दृष्टि बदलने का अर्थ है—सत्य का साक्षात्कार होना।

○ क्षमतया समता

क्षमता के बिना समता का विकास हो नहीं सकता। पहले क्षमता का विकास होता है तो समता भी विकसित होने लग जाती है।

○ समतया निर्विकल्पता

समता और निर्विकल्प अवश्य—दोनों में तालमेल है।

○ भूतेषु समता सहानुभूतिः

प्राणी-प्राणी के बीच में समता की खोज सहानुभूति है।

○ सहिष्णुतयाभयम्

○ अभयेन मैत्री

○ गर्वोन्मत्तो भयञ्जकरः

समता का विकास १. मैत्री २. अभय और ३. सहिष्णुता—इन तीन आयामों में होता है। जिस व्यक्ति में प्रतिकूल परिस्थिति को सहन करने की क्षमता जागृत नहीं होती, वह अभय नहीं हो सकता और भयभीत मनुष्य में मैत्री का विकास नहीं हो सकता। जिसमें अनुकूल परिस्थिति को सहन करने की क्षमता जागृत नहीं होती, वह गर्व से उन्मत होकर दूसरों में भय और अमैत्री का संचार करता है। तीनों आयामों में विकास करने पर ही समता स्थायी होती है।

○ भावो नोच्चावचो यस्य, लोकेषु सो महीयते

जिसके जीवन में उच्चावच भाव नहीं रहा, उससे बड़ा आदमी इस दुनिया में और कोई नहीं होगा।

○ दोषाणां साम्यमारोग्यम्

○ सुखदुःखयोस्समताध्यात्मम्

आयुर्वेद की भाषा में जिसे आरोग्य कहा जाता है, अध्यात्म विज्ञान की भाषा में उसे समता कहा जाता है। दोनों एक ही हैं। आयुर्वेद के आचार्यों ने आरोग्य की बहुत सुन्दर परिभाषा दी है—“दोषाणां साम्यं आरोग्यम्”—दोषों का समीकरण आरोग्य है।

○ स्वमैत्री सफलता

○ लक्ष्यं प्रति समर्पणं सफलतामूलम्

सफलता का अर्थ है, अपने आप का मित्र होना और सफलता का सूत्र है लक्ष्य के प्रति समर्पण होना।

○ समतां विना न धर्मो न शान्तिः

जब तक समता की साधना नहीं होगी, तब तक धर्म और शान्ति प्राप्त नहीं की जा सकती।

○ संवरस्समाधिः

समाधि संवर है।

○ आश्रवस्समस्या

समस्या आश्रव है।

○ अन्तर्जागरणं समाधिः

समाधि का अर्थ है—भीतर से जागना।

○ बहिर्मुखतासमाधिः

असमाधि—बाहर में जागना।

○ आत्मदर्शनोपादानं समाधिः

आत्मदर्शन का उपादान—समाधि।

○ चैतन्यानुभवस्समाधिः

समाधि है—चैतन्य का अनुभव।

○ मूर्च्छासमाधिः

मूर्च्छा असमाधि है।

○ प्रियताप्रियतासंवेदनमस्माधिः

प्रियता और अप्रियता का संवेदन है असमाधि।

○ मनोज्ञामनोज्ञयोर्मनोऽयोगस्समाधिः

मनोज्ञ अमनोज्ञ में मन का योग न करना समाधि है।

○ समतातारतम्यतस्सुखानुभूतिः

जितनी-जितनी समता कम, उतनी-उतनी सुखानुभूति कम।

जितनी-जितनी समता अधिक, उतनी-उतनी सुखानुभूति अधिक—यह एक समीकरण है।

○ दर्शनज्ञाने सहजे समाधिः

समाधि है दर्शन और ज्ञान—आत्मा का सहज स्वरूप।

० आहारसंयम-शान्तस्थान-गुरु-स्वाध्याय-सत्यनिष्ठा-चरित्र-वैराग्य-अप्रमाद-रिथरासनानि ध्यानस्य परिकराः

ध्यान में सहायक तत्त्व ये हैं:-

आहार—परिमित भोजन, न स्निग्ध न बहुत रुक्ष। कभी स्निग्ध कभी रुक्ष।

स्थान—एकान्त जहाँ ध्यान में बाधा उत्पन्न करने वाला वातावरण न हो।

सहायक—ध्यान के अनुभवी साधक।

ज्ञान भावना—ध्यान में सहायक शास्त्रों का स्वाध्याय।

दर्शन भावना—मानसिक शान्ति, अनासक्ति, अनुकम्पा और सत्यनिष्ठा।

चरित्र भावना—अहिंसा, सत्य आदि पांचों का अभ्यास।

वैराग्य भावना—आत्म स्वरूप के प्रति आकर्षण, वस्तुओं के प्रति विकर्षण, अभय और समभाव।

अप्रमाद—राग-द्वेष, मोह-रहित, वर्तमान क्षण का अनुभव।

आसन विजय—एक आसन में दीर्घकाल तक बैठने का अभ्यास।

० कायोत्सर्ग-सूक्ष्मश्वास-मौनानि ध्यानस्य प्रथमसोपानम्

कायोत्सर्ग—शरीर की चंचलता और ममत्व विसर्जन।

सूक्ष्मश्वास—आनापान ध्यान, श्वास पर मन को एकाग्र कर क्रमशः सूक्ष्म करना।

मौन—वाचिक ध्यान।

० पश्यना—विचयानुप्रेक्षा: ध्यानस्य द्वितीयसोपानम्

इसकी तीन पद्धतियाँ हैं—पश्यना, विचय और अनुप्रेक्षा।

पश्यना के पांच प्रकार हैं—

१. श्वास पर्याय पश्यना

२. औदारिक पर्याय पश्यना

३. तैजस पर्याय पश्यना

४. चित्त पर्याय पश्यना

५. कर्म पर्याय पश्यना।

विचय के चार प्रकार हैं—

१. आज्ञा विचय

२. अपाय विचय

३. विपाक विचय

४. संस्थान विचय

अनुप्रेक्षा के चार प्रकार—

१. अनित्य,
२. अशरण
३. भव
४. एकत्व ।

○ केवलं चैतन्यानुभवो ध्यानस्य चरमसोपानम्

शुद्ध चैतन्य की पश्यना, केवल चैतन्य का अनुभव, जो कषाय प्रशान्त अवस्था में प्राप्त होता है।

॥ इति रूपान्तरणप्रक्रियाधिकरणे साधनापादः ॥

रूपान्तरणप्रक्रियाधिकरणे भावपादः

- ० समता—साधकानां वीतरागाणां मुक्तात्मनाञ्चेति त्रयाणां सुखमव्याबाधम्
तीन व्यक्तियों का सुख अव्याबोध सुख होता है—
 - समता की साधना करने वाले साधक का।
 - वीतराग का।
 - मुक्त आत्मा का।
- भावो मनो मनोदशा च परिवर्तन्ते नृणां संवेदनशीलत्वात्
मनुष्य संवेदनशील होने के कारण एक रूप नहीं रहता। वह बदलता रहता है। उसके भाव बदलते रहते हैं, मन बदलता रहता है, मनोदशाएं बदलती हैं और मूड बदलता है।
- इच्छा व्यावर्तको धर्मो प्राणिनाम्। सा सूक्ष्मशरीरात्थूलशरीरमायाति
प्रमादं कषायं चञ्चलताञ्च जनयति। सानुशासितव्या।
इच्छा प्राणी का गहनतम लक्षण है। यह एक ऐसी विभाजक रेखा है जो केवल प्राणी में ही होती है, अप्राणी में नहीं होती। यह एक ऐसा दरवाजा है जो सूक्ष्म शरीर से आता है और रथूल शरीर में खुलता है।
इच्छा है तो प्रमाद भी होगा, कषाय और चंचलता भी होगी। इसलिए इच्छा पर अनुशासन करना जरूरी है।
- उप=निकटतया ईक्षणमुपेक्षा। सा च तटस्थे सम्भवति।
उपेक्षा के दो अर्थ हैं—ध्यान न देना और निकटता से देखना। उप+ईक्षा=उपेक्षा। जो तटस्थ होता है वही निकटता से देख सकता है। उपेक्षा का एक अर्थ है—ध्यान न देना, अवगणना करना।

○ अहिंसा—सत्यापरिग्रहात्मकञ्च चरित्रं सफलतामार्गः । तच्चाभयप्रदम्

सफलता का सबसे बड़ा सूत्र है—चरित्र का विकास और चरित्र के विकास के लिए ये तीन बड़े स्तम्भ हैं—अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह ।

अभय की मुद्रा का विकास करना चाहें तो अहिंसा का विकास करें । अहिंसा अभय की एक मुद्रा है । असंग्रह का विकास करें असंग्रह अभय की एक मुद्रा है । जिसके अंतःकरण में ये भावनाएं जन्म लेती हैं, सचमुच वह अभय बन जाता है ।

○ अभेदप्रतीतौ मैत्रीसमताहिंसा:

जहाँ अभेद की प्रतीति होती है वहाँ मैत्री, समता और अहिंसा का पूर्ण विकास होता है ।

○ निषेधदृष्टिहानौ विध्यात्मकदृष्ट्युदये च दर्शन-समाधिः

भावात्मक दृष्टि का उदय और अभावात्मक दृष्टि को समाप्त करना है—दर्शन समाधि ।

○ विसर्जननिग्रहौ चारित्रम्

○ अनाशंसा-अभय-समता-संयम-सम्यक् चर्या-ध्यान-अप्रमादास्तदङ्गानि

खाली करना और निग्रह करना चरित्र है । चरित्र के सात अंग है—अनाशंसा, अभय, समता, संयम, सम्यक् चर्या, ध्यान और अप्रमाद ।

○ लोभात्प्रवर्तन्ते क्रियाः

○ कामाद्वा

मनोविज्ञान के अनुसार प्राणी के जीवन केन्द्र में या तो लोभ है या काम है । कर्मशास्त्रीय दृष्टि से भी जीवन केन्द्र में लोभ ही है ।

○ भावनियन्त्रणे क्रिया-मनसोर्नियन्त्रणम्

भाव के कारण यह मन विक्षेप उत्पन्न कर रहा है, उड़ रहा है, मन का घोड़ा दौड़ रहा है । मन के प्रति जागने से मन स्थिर नहीं होगा । हाथ के प्रति जागने से हाथ स्थिर नहीं होगा । हाथ में जो शक्ति प्रकंपन पैदा कर रही है, मन को जो शक्ति चला रही है, वह है सारी भाव की शक्ति ।

○ प्रशस्ताप्रशस्तौ कृष्ण-श्वेतादयो वर्णाः

वर्ण अच्छे या बुरे दो प्रकार के होते हैं । काला रंग अच्छा भी होता है, बुरा भी होता है । प्रशस्त भी होता है, अप्रशस्त भी होता है । मनोज्ञ भी होता है, अमनोज्ञ भी होता है । श्वेत वर्ण भी अच्छा, बुरा, प्रशस्त, मनोज्ञ, अमनोज्ञ भी होता है ।

- बलवन्मिथ्यादर्शन-आकड़क्षा-प्रमाद-कषाय-अशुभप्रवृत्ति-असंयम-क्षुद्रता-अविवेक-क्रूरताः फलं कृष्णलेश्यायाः

आभामण्डल में काले रंग की प्रधानता हो तो समझा जा सकता है कि इस व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यक् नहीं है, आकांक्षा प्रबल है, प्रमाद प्रचुर है, कषाय प्रबल और प्रवृत्ति अशुभ है, मन, वचन और काया का संयम नहीं है, इन्द्रियों पर संयम नहीं है, प्रकृति क्षुद्र है, बिना विचारे काम करता है, क्रूर है और हिंसा में रस लेता है।

- मननं मतिः, स्मरणं स्मृतिः, प्रत्यभिज्ञा संज्ञा, व्याप्तिज्ञानं चिन्तनम्।

मति का अर्थ है—मनन, विचार। स्मृति का अर्थ है—याद होना। संज्ञा का अर्थ है—प्रत्यभिज्ञा, पहचान। चिंता का अर्थ है—तत्कपूर्ण चिंतन, व्याप्ति या संबंधों की खोज।

- प्रयोगसिद्धज्ञानमनुभवः

अनुभव है व्यवहार ज्ञान, प्रयोग सिद्ध ज्ञान जो केवल सिद्धान्त नहीं, प्रयोग पर उतरे।

- अनुभवोऽकाट्यो, न तु तर्कः

जो अकाट्य होता है—वह तर्क नहीं हो सकता।

अनुभव मात्र अकाट्य होता है।

- सर्वे भावास्सूक्ष्मे लब्धजन्मानस्थूले प्रतिफलन्ति

हमारे सारे भाव सूक्ष्म जगत् में जन्म लेते हैं और स्थूल शरीर में प्रतिबिम्बित होते हैं।

- सूक्ष्मे स्पन्दनानि तरड्गमात्रं वा। भावे लेश्याः। स्थूले क्रियाः।

कषाय या अतिसूक्ष्म शरीर में केवल स्पन्दन हैं कोरी तरंगे हैं। वहाँ भाव नहीं है। कोरी तरंगे हैं। अध्यवसाय में भी क्रोध की तरंगे होती हैं, क्रोध का भाव नहीं होता। वे तरंगे जब सघन होकर भाव का रूप लेती हैं तब लेश्या बन जाती हैं। लेश्या में पहुँचकर भाव बनता है। तरंग का सघन रूप भाव है और भाव का सघन रूप क्रिया है।

- अध्यवसायाः शरीरमतिक्रम्य तिष्ठन्ति।

एक है अध्यवसाय और एक है चित्त। चित्त तक की यात्रा शरीर सम्बद्ध यात्रा होती है। अध्यवसाय तक की यात्रा शरीर से परे की यात्रा होती है। जब हम अध्यवसाय तक पहुँचते हैं, वहाँ हमारा संबंध शरीर से छूट जाता है। शरीर

इस पार रह जाता है और अध्यवसाय उस पार रह जाता है। शरीर और अध्यवसाय का कोई संबंध नहीं है।

० यथा भावस्तथा मुद्रा

एक होती है भाव-मुद्रा और दूसरी होती है भाव-धारा। दोनों में बहुत गहरा संबंध है। जैसी भाव-धारा होती है, वैसी भाव मुद्रा बन जाती है। मुद्रा का निर्माण करती है—भाव-धारा। क्रोध का भाव जागे तो क्रोध की मुद्रा बन जाएगी।

० समर्थ एव सहिष्णुर्न कायरो निर्बलो वा

आज सहिष्णुता का अर्थ गलत समझ लिया गया। सहिष्णुता का अर्थ न कायरता है, न कमजोरी और न दब्बूपन। सहिष्णुता महान् शक्ति है। बहुत शक्तिशाली आदमी ही सहिष्णु हो सकता है। कमजोर आदमी कभी सहिष्णु नहीं हो सकता।

कमजोर सहन कर ही नहीं सकता। सहन करने का मतलब है कि शक्ति का विकास।

० विनयोऽहंकारशून्यता।

० स आत्मावस्था न तु परं प्रति भावविशेषः।

हमने मान लिया है कि विनय दूसरों के प्रति होता है। विनय दूसरे के प्रति नहीं होता। विनय होता है—स्वयं के प्रति। विनय है अहंकार शून्यता। यह अपनी आत्मा की अवस्था है।

० तादात्म्यीभावः सेवा

० समग्रतानुभूतिर्वा

सेवा है तादात्म्य की रथापना करना। समग्रता की अनुभूति का प्रयोग है—सेवा।

० हीरनुशासनहेतुर्यद्यपि न सात्मानुशासनम्

लज्जा, अनुशासन और मानसिक संकोच—रचनात्मक भय के ही नाम हैं। रचनात्मक भय को हम लज्जा कह सकते हैं, अनुशासन कह सकते हैं, मानसिक संकोच कह सकते हैं। मानसिक संकोच है तो आदमी बुरा काम नहीं करता। आत्मानुशासन अभी नहीं बना है, किंतु फिर भी अनुशासन है।

० भेदाभेदयोस्सामञ्जस्यं मैत्री

मैत्री है भेद और अभेद में सामञ्जस्य की अनुभूति।

- भावो जीवस्य स्वरूपम्
- सो द्विविधः—कर्मोदयवशादौदयिकः स्वाभाविकश्च पारिणामिकः

भाव जीव का स्वरूप है। एक भाव वह है जो औदयिक भाव कहलाता है, कर्म के उदय से होने वाला भाव है। एक वह जो स्वभावतः ही चलता रहता है, जिसकी संज्ञा है—पारिणामिक भाव।

- अतिविशुद्धे भावतन्त्रे स्वतश्शरीरापेक्षापूर्तिः

जिस व्यक्ति का भाव तंत्र बहुत प्रशस्त है, विशुद्ध है वह अपने शरीर के लिए आवश्यक तत्वों की पूर्ति अपने आप कर लेता है।

- चैतन्यपुद्गलयोगेन लेश्योत्पत्तिः

लेश्या चैतन्य और पुद्गल इन दोनों के योग से निर्मित होती है। चैतन्य की रश्मि पुद्गल को प्रभावित करती है। यह पारस्परिक प्रभाव ही लेश्या का मौलिक आधार है।

- आवनस्पति आमानवं लेश्या
- तस्मात्सर्वेषामाभामण्डलम्

लेश्या वनस्पति के जीवों में भी होती है। पशु, पक्षी तथा मनुष्य में भी होती है। इसलिए आभामण्डल भी प्राणिमात्र में होता है।

- कृष्ण-नील-कापोत-तेजः-पद्म-शुक्लाः षड्विधाः लेश्याः
- तेष्वाद्यास्तिस्रोऽशुभाः
- अन्त्यास्तिस्रश् शुभाः

वर्गीकरण में लेश्या के छह प्रकार बनते हैं—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोत लेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ल लेश्या। कापोत लेश्या में कृष्ण और लाल—दोनों रंग मिश्रित होते हैं। उक्त दोनों वर्गीकरण निमित्त और उपादान के आधार पर किए गए हैं। अशुद्ध लेश्या का उपादान है—कषाय की तीव्रता और शुद्ध लेश्या का उपादान है—कषाय की मंदता। अशुद्ध लेश्या के निमित्त हैं—कृष्ण, नील और कापोत वर्ण वाले पुद्गल और विशुद्ध लेश्या के निमित्त हैं—रक्त, पीत और श्वेत वर्ण वाले पुद्गल। प्रथम तीन लेश्याओं में विचार क्लेशपूर्ण होते हैं और अन्तिम तीन लेश्याओं में विचार धारा क्लेश-रहित होती है। उनमें क्लेश और अक्लेश की तरतमता इस प्रकार रहती है—

कृष्णलेश्या	अशुद्धतम्	विलष्टतम्
नीललेश्या	अशुद्धतर	विलष्टतर
कापोतलेश्या	अशुद्ध	विलष्ट
तैजस्लेश्या	शुद्ध	अविलष्ट
पदम्लेश्या	शुद्धतर	अविलष्टतर
शुकललेश्या	शुद्धतम्	अविलष्टतम्

- ० ईर्ष्या-कदाग्रह-माया-निर्लज्जता-आसवित्त-प्रद्वेष-शठता-प्रमाद-यशःलोलुपता-सुखेच्छा-क्षुद्रता-अविवेक-अतपस्थिता-अविद्या-हिंसा: नील-लेश्यालक्षणानि

आभामण्डल में नीले रंग की प्रधानता हो तो समझा जा सकता है कि व्यक्ति में ईर्ष्या कदाग्रह, माया, निर्लज्जता, आसवित्त, प्रद्वेष, शठता, प्रमाद यशलोलुपता, सुख की गवेषणा, प्रकृति की क्षुद्रता, बिना विचारे काम करना, अतपस्थिता, अविद्या, हिंसा में प्रवृत्ति इस प्रकार की भावधारा और प्रवृत्ति होती है।

यदि नील वर्ण अधिक अप्रशस्त, अमनोज्ञ होता है तो उक्त भावधारा और प्रवृत्ति के अधिक तीव्ररूप का अनुमान किया जा सकता है।

- ० वक्रता-प्रवञ्चना-आत्मदोषगोपन-कटाक्ष-तस्करता-मात्सर्य-मिथ्यादर्शनानि कापोत-लेश्या-लक्षणानि

आभामण्डल में कापोत वर्ण की प्रधानता हो तो समझा जा सकता है कि इस व्यक्ति में वाणी की वक्रता, आचरण में वक्रता, प्रवंचना, अपने दोषों को छिपाने की प्रवृत्ति, मखौल करना, दुष्टवचन बोलना, चोरी करना, मात्सर्य, मिथ्या दृष्टि इस प्रकार की भावधारा और प्रवृत्ति होती है।

- ० नम्रता-स्थिरता-ऋजुता-अनौत्सुक्य-विनय-जितेन्द्रियता-समाधि-तपः-आरथा-पाप-भीरुता-मुमुक्षा: रक्तलेश्यालक्षणानि

आभामण्डल में रक्त वर्ण की प्रधानता हो तो समझा जा सकता है कि यह व्यक्ति नम्र व्यवहार करने वाला, अचपल, ऋजु, कुतूहल न करने वाला, विनयी, जितेन्द्रिय, मानसिक समाधि वाला, तपस्वी, धर्म में दृढ़ आरथा रखने वाला, पापभीरु और मुक्ति की गवेषणा करने वाला है।

- ० शान्ति-समाधि-वचनसंयम-जितेन्द्रियता-संयमा: पीतलेश्यालक्षणानि

आभामण्डल में पीत वर्ण की प्रधानता हो तो समझा जा सकता है कि यह व्यक्ति प्रशांत चित्त वाला, समाधिस्थ अत्यभाषी, जितेन्द्रिय और आत्मसंयम करने वाला है।

○ प्रशान्तचित्तं शुक्ललेश्यालक्षणम्

आभामण्डल में श्वेत वर्ण की प्रधानता हो तो समझा जा सकता है कि यह प्रशांत चित्त वाला है।

○ कृष्ण-नील-कापोत-लेश्यानामार्त्तध्यानम्

○ तेषां तीव्रभावानां रौद्रध्यानम्

○ तैजस्-पद्म-शुक्ललेश्यानां धर्मध्यानम्

○ शुक्ललेश्यानां परमशुक्ललेश्यानाऽच्यु शुक्लध्यानम्

आर्तध्यान—कृष्ण, नील और कापोत लेश्या की भावधारा, कृष्ण नील और कापोत वर्ण की प्रधानता वाला अमनोज्ञा आभामण्डल।

रौद्रध्यान—कृष्ण, नील और कापोत लेश्या की प्रकृष्ट भावधारा कृष्ण, नील और कापोत वर्ण की प्रधानता वाला अमनोज्ञतम आभामण्डल।

धर्मध्यान—तैजस, पद्म और शुक्ल लेश्या की भावधारा, तैजस शुक्ल, पद्म और शुक्ल वर्ण की प्रधानता।

शुक्लध्यान—शुक्ल और परमशुक्ल लेश्या की भावधारा शुक्लवर्ण का मनोज्ञतम आभामण्डल।

○ शरीरसम्बद्धानि चित्तं मन इन्द्रियाणि वा

○ तेषां स्नायु-सम्बद्धत्वात्।

○ स्नायुद्विविधः—ज्ञानवाही क्रियावाही च

○ तत्र नियंत्रणं सम्भवम्

○ लेश्यानां शोधनं, तासामशरीरत्वात्

चित्त, मन और इन्द्रियां—ये सब स्थूल शरीर से संबद्ध हैं। लेश्या का हमारे स्थूल शरीर से तो संबंध नहीं है, जिनके मरित्तष्क है, सुषुम्ना है, नाड़ी संस्थान है उनके लेश्या होती है, तो जिन जीवों में ये नहीं होते, केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है उनके भी लेश्या होती है। वह लेश्यातंत्र भावों का निर्माण करने वाला तंत्र, यह चेतना केन्द्र सबसे अधिक सक्रिय और जागृत होता है। जितनी स्नायविक क्रिया होती है, वह सारी शरीर से संबंध रखती है। मन का कोई भी विचार, वाणी की कोई भी प्रवृत्ति, शरीर की कोई भी क्रिया और बुद्धि या चित्त की कोई भी क्रिया इस शरीर तंत्र के स्नायविक योग के बिना नहीं होती। ज्ञानवाही स्नायु और क्रियावाही स्नायु—दोनों प्रकार के स्नायु इन सारी क्रियाओं का संपादन करते हैं, किंतु लेश्या के लिए इन स्नायुओं की कोई अपेक्षा नहीं है। यह स्नायु से परे हैं। यहां यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आत्म-नियंत्रण स्नायविक स्तर पर होता है और आत्मशोधन लेश्या के स्तर पर होता है।

- अध्यवसाय आन्तरः

- तत्स्य बाह्येन सम्बन्धसेतुर्लेश्या

जो आन्तरिक व्यक्तित्व का संचालक है, उसे अध्यवसाय कहा जाता है।

आन्तरिक व्यक्तित्व और बाह्य व्यक्तित्व—इन दोनों के बीच एक सेतु है, दोनों को जोड़ने वाला है, वह है लेश्याचित्त या भाव चित्त।

- अध्यवसायो भावतन्त्रं रञ्जयति

- ततो लेश्या

अध्यवसाय की एक धारा जो रंग के परमाणुओं से प्रभावित होती है, रंग के परमाणुओं के साथ जुड़कर भावों का निर्माण करती है, वह है—हमारा लेश्या तंत्र या भाव तंत्र।

- कर्मनिर्झरः लेश्या

लेश्या की एक परिभाषा है—कर्म निर्झर । लेश्या कर्म का झरना है, कर्म का प्रवाह है।

- लेश्या तैजसशरीरगामिनी

लेश्या का स्तर—विद्युत् शरीर—तैजस शरीर के साथ काम करता है।

- मेरुदण्डे शक्त्यभिव्यक्तिः

- हृदये आनन्दाभिव्यक्तिः

- मस्तिष्के ज्ञानाभिव्यक्तिः

- शरीरे सर्वाभिव्यक्तिः

शक्ति के प्रकट होने का केन्द्र है—पृष्ठरञ्जु ।

आनन्द प्रकट होने का केन्द्र है—अनाहत चक्र, मन चक्र, हृदय चक्र।

चेतना के अभिव्यक्त होने का केन्द्र है—बृहद् मस्तिष्क ।

शरीर के माध्यम के बिना शांति, ज्ञान, आनंद कुछ भी प्रकट नहीं हो सकता।

- चित्तं मलिनीकरोतीति कर्म

- चित्तं विमलीकरोतीत्यकर्म

- मुमुक्षामात्रप्रेरितं वा कर्म

जिस क्रिया से चित्त कतुषित हो, वह कर्म है।

जिस क्रिया से चित्त निर्मल हो, वह अकर्म है।

अकर्म वह है जिसके पीछे केवल मुक्ति की प्रेरणा हो।

- आत्मनाकृष्टं तदेकरसीभूतञ्च पुद्गलं कर्म, तदान्तरम्
- कर्मविपाके निमित्तं नोकर्म, तद् बाह्यम्

आत्मा की प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट और उसके साथ एकरसीभूत पुद्गल कर्म कहलाते हैं।

कर्म विपाक की सहायक सामग्री को नो कर्म कहा जाता है। आज की भाषा में कर्म को आन्तरिक परिस्थिति या आन्तरिक वातावरण और नो कर्म को बाहरी परिस्थिति कह सकते हैं।

- रासायनिक प्रक्रिया कर्म, न तद् वासना, संस्कारो, धारणा, स्मृतिवर्गं कर्म एक रासायनिक प्रक्रिया है।
कर्म न वासना है, न संस्कार है, न धारणा है, न स्मृति है।

॥ इति रूपान्तरणप्रक्रियाधिकरणे भावपादः ॥

रूपान्तरणप्रक्रियाधिकरणे सूक्ष्मजगत्पादः

- स्पन्दनं प्राणाः
- ते सामान्या विशेषाश्चेति द्विविधाः
- सामान्याः सर्वशरीरे
- विशेषास्तेषु तेष्विन्द्रियेषु

प्राण का मतलब है— स्पन्दन, धड़कन, गतिशीलता।

प्राण के दो प्रकार हैं—सामान्य प्राण, विशेष प्राण। सामान्य प्राण पूरे शरीर में विद्यमान है और विशेष प्राण क्षेत्रीय नाम से जाना जाता है, जैसे आँख से देखने में जो प्राण सहयोग कर रहा है—वह है चक्षु इन्द्रिय प्राण।

- हृदय-नासाग्र-नाभिषु प्राणाधिक्याविर्भावः प्राणाधिक्याविर्भावः

हृदय, नासाग्र, नाभि इन स्थानों में प्राण अधिक प्रकट होता है।

- सूक्ष्मशरीरे क्षमतासञ्चयः
- स्थूलशरीरे तदभिव्यक्तिः
- आत्मा शक्तिः
- सूक्ष्मशरीरं तदावरणम्
- ज्ञानञ्चेतनालोकः
- आनन्दस्तदनुभूतिः
- शक्तिरतन्मुवितः
- वासना सूक्ष्मशरीरे
- स्थूलशरीरे तदभिव्यक्तिः

तीन चीजे हैं—आत्मा, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर। स्थूल शरीर वह है जिसमें सब कुछ प्रकट होने की क्षमता है। सूक्ष्म शरीर वह है जिसमें क्षमताओं

का संग्रह है। आत्मा मूल शक्ति का स्रोत है। सूक्ष्म शरीर आत्मा पर आवरण डालता है। अतः चैतन्य को प्रकट होने के लिए माध्यम चाहिए।

सूक्ष्म शरीर इन शक्तियों का सम्प्रेषण करता है। सूक्ष्म शरीर बीज है। उनके बोने पर ही स्थूल शरीर प्रकट होता है। सूक्ष्म शरीर का ही प्रतिबिम्ब स्थूल शरीर में होता है।

हमारे चैतन्य की मुख्य तीन क्रियाएं हैं—ज्ञान, शक्ति और आनन्द। ज्ञान चेतना का आलोक है। आनन्द उसकी अनुभूति है और शक्ति उसकी मुक्तता है। तीनों में अवरोध डालना सूक्ष्म शरीर का कार्य है। किंतु चेतना के जागरण पर वह सूक्ष्म शरीर पर प्रहार करता है। जैसे-जैसे अवरोध दूर होता है वैसे-वैसे ज्ञान, आनन्द और शक्ति स्थूल शरीर में प्रकट होने लगते हैं। इसलिए स्थूल शरीर अभिव्यक्ति का एक बड़ा माध्यम है। वासना, कषाय, विकार सूक्ष्म शरीर में है, स्थूल में नहीं, किंतु ये अभिव्यक्त होते हैं स्थूल शरीर द्वारा।

सैकंस का केन्द्र वासना की अभिव्यक्ति का, ललाट—क्रोध की अभिव्यक्ति का, गर्दन अहंकार की अभिव्यक्ति का, जंघा शक्ति की अभिव्यक्ति का केन्द्र है।

- प्रयासेन सर्व प्राप्यत इति भ्रमः
- अकर्मणापि सिद्धिः

सब कुछ प्रयत्न या कर्म से प्राप्त नहीं होता। कुछ ऐसी भी उपलब्धियाँ हैं जो केवल अप्रयत्न से ही प्राप्त होती हैं। हमने अज्ञानवश मान लिया है कि जो सिद्धि होगी वह केवल प्रयत्न या प्रवृत्ति से ही होगी। हम अकर्म या अप्रयत्न का मूल्य नहीं जानते।

- शरीरे मनसि वाण्यामेकरूपता भावक्रिया

भावक्रिया का अर्थ है—शरीर, मन और वाणी को एक साथ मिला लेना।

- ध्येयतन्मयता श्रद्धा

श्रद्धा का अर्थ है तन्मय हो जाना, ध्येय के प्रति समर्पित हो जाना या उसमें विलीन हो जाना।

- विश्वासे भयसम्भावना
- अविश्वाससर्तु स्वयं भयम्

विश्वास में कहीं खतरा संभव हो सकता है किंतु अविश्वास स्वयं खतरा है।

○ समताया: परतरं न हि

जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है—समता, समता से बड़ी दुनिया में कोई उपलब्धि नहीं है।

○ स्वातंत्र्यं, शुद्धचेतनास्तित्वात्

शुद्ध चेतना है इसलिए हम स्वतंत्र हैं।

॥ इति रूपान्तरणप्रक्रियाधिकरणे सूक्ष्मजगत्पादः ॥

रूपान्तरणप्रक्रियाधिकरणे मनःपादः

- रागद्वेषयुक्तं मनः इत्येकम्
- रागद्वेषरहितं मनः—इति द्वितीयम्
- अमनः—इति तृतीयम्

मन की तीन अवस्थाएं हैं—राग-द्वेष युक्त मन, राग-द्वेष शून्य मन, अमन।

- अशान्तं, शान्तं, समाहितञ्चेति मनसस्तिरूपोऽवस्थाः

मन की तीन अवस्थाएं हैं—अशांत, शांत अवस्था और समाधि अवस्था।

- सति मस्तिष्के मनः
- अध्यवसायस्तु, सर्वेषाम्

मन की क्रिया का संचालन मस्तिष्क के द्वारा होता है, इसलिए वह यान्त्रिक क्रिया है। जिसके सुषुप्ता है, मस्तिष्क है, उसमें मन होता है। सब जीवों में मन नहीं होता, किंतु अध्यवसाय सब जीवों में होता है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक सब जीवों में अध्यवसाय होते हैं, किंतु मन सबमें नहीं होता।

- उत्तरोत्तरं हस्यत्वं चैतन्य-चित्त-मानसाम्
- चित्तं स्थायि मनोऽस्थायि
- चैतन्यैकाग्रता कषायं प्रति
- चित्तैकाग्रता निर्णयं प्रति
- मन एकाग्रता सङ्कल्प-विकल्प-निरोधं प्रति

चैतन्य, चित्त और मन तीनों भिन्न हैं। चैतन्य व्यापक है, चित्त उससे छोटा और मन उससे छोटा। चित्त (बुद्धि) स्थायी तत्व है। मन उत्पन्न-नष्ट होता है।

जब हम कहते हैं—चैतन्य को केन्द्रित करो तो उसका अर्थ है—चैतन्य की धारा को कषाय की ओर प्रवाहित करो। जब हम कहते हैं—चित्त को केन्द्रित करो तो उसका अर्थ है—चित्त की निर्णयात्मक शक्ति को आत्मा में विलीन करो। जब हम कहते हैं—मन को केन्द्रित करो तो उसका अर्थ—संकल्प-विकल्प का निरोध करो।

- **मननं मनः**
- **निर्विकल्पममनः**
- **तत्र ध्यानम्**
- **तत्र भावपरिवर्तनम्**

मन का अर्थ है—मनन शक्ति। अमनस्क-निर्विचार या निर्विकल्प। अमन की अवस्था—मन की समाप्ति, ध्यान की अवस्था। ध्यान का अर्थ है—भावों को बदलना, विचारों को रोकना नहीं।

- **चेतनञ्चित्तम्**
- **अचेतनं मनस्तदुपकरणम्**

चित्त हमारी चेतना है। मन अचेतन है। चित्त ज्ञाता है मन उसका एक यंत्र है, उपकरण है।

- **बहिर्मुखचेतना मनः**

जो चेतना बाहर जाती है उसका प्रवाहात्मक अस्तित्व ही मन है।

- **चेतनं पौद्गलिकञ्चेति द्विविधं मनः**
- **पौद्गलिकं सहायकञ्चेतनस्य**

मन दो प्रकार का होता है—चेतन और पौद्गालिक। पौद्गलिक मन ज्ञानात्मक मन का सहयोगी होता है। उसके बिना ज्ञानात्मक मन अपना कार्य नहीं कर सकता।

- **चित्तक्रियान्वितिकारकं मनः**

मन क्रियातंत्र का एक अंग है, उसका कार्य है—चित्त के निर्देश की क्रियान्विति करना।

- **स्मृति-सङ्कल्प-कल्पनेति त्रिकालविषयं मनः**

मन का अर्थ है—संकल्प-विकल्प, स्मृति और चिन्तन, कल्पना। मन तीनों कालों में बंटा हुआ है।

- **न मनसः स्थिरत्वम्**

मन को स्थिर करने की बात केवल एक भ्रान्ति है।

- वर्तमानं मनः स्वरूपतः
- त्रैकालिकं वस्तुज्ञानरूपतः

स्वरूप की दृष्टि से मन वर्तमान ही होता है। वस्तुज्ञान की दृष्टि से वह त्रैकालिक होता है।

- शिलष्टचित्तैकाग्रता धारणा
- सुलीनचित्तैकाग्रता ध्यानम्
- उभे धर्मध्यानम्

शिलष्ट चित्त की एकाग्रता को धारणा और सुलीन चित्त की एकाग्रता को ध्यान कहा जा सकता है। इन दोनों को एक शब्द में धर्मध्यान कहा जा सकता है।

ज्ञानवैराग्याभ्यां मनश्शान्तिः

मन को शांत करने का मुख्य मार्ग है—श्रुत की भावना, ज्ञान का अभ्यास वैराग्य, आत्मज्ञान का अभ्यास, आत्मज्ञान का निरन्तर विचार।

- शान्ते मनसि सत्यस्तित्वाभिव्यक्तिः

जब मन शांत होता है तब अस्तित्व प्रकट होता है। अस्तित्व और मन—ये दोनों साथ-साथ बहुत कम रहते हैं। जब मन सक्रिय रहता है तब अस्तित्व सोया रहता है और जब मन निष्क्रिय होता है तब अस्तित्व जागता है।

- मनस्तटस्थं

- न चलं न स्थिरम्

मन का स्वरूप चेतना की धारा से निर्मित होता है। वह अपने आप में न कलुषित है और न निर्मल, न चंचल है न स्थिर। जैसा उत्पादन होता है वैसा ही वह निर्मित हो जाता है।

- चेतनाचेतनमनसोः संयोगस्संज्ञानम्

जिसमें चेतन और अचेतन दोनों मनों का योग होता है, काँशियस माइण्ड और सब-काँशियस माइण्ड दोनों का योग होता है, उसे संज्ञा या संज्ञान कहते हैं।

- स्थूलमनोनिष्क्रियता चेतनमनोजागरणं योगः

अचेतन मन को जगाने और स्थूल मन को सुलाने का साधन है—योग।

- चित्तशोधनं प्रायश्चित्तम्

प्रायश्चित्त का अर्थ है—चित्त का शोधन। जिससे चित्त का शोधन होता है उस प्रक्रिया का नाम है—प्रायश्चित्त।

- मनआलोकः सरलता
- मनोऽन्धकारो माया

सरलता मन का वह प्रकाश है जिसमें कोई भी वस्तु अस्पष्ट नहीं रहती। माया मन का वह अंधकार है, जिसमें आदमी भटकता है।

- अतीन्द्रियचेतना वीतरागता

वीतराग होने का अर्थ है—चेतना की सूक्ष्म भूमिका में प्रवेश पा जाना। यह अतीन्द्रिय चेतना की भूमिका है।

- पदार्थजागरूकता रागः

- आत्मजागरूकता वैराग्यम्

अप्रमाद की चेतना का अर्थ है—अपने प्रति जागरूक होना।

राग का अर्थ है—पदार्थ जगत् का साक्षात्कार। वैराग्य का अर्थ है—आत्मा का साक्षात्कार। उपाधि का अर्थ है—कषाय।

- चैतन्यसततोपयोगोऽप्रमादः

- तत्र निरन्तरं सुखम्

अप्रमाद है वैतन्य का सतत उपयोग। अप्रमाद है सुखानुभूति की निरन्तरता।

- प्रमाद-निद्रा-कषायोत्तेजना अनुत्साहः

प्रमाद, निद्रा, कषाय की उत्तेजना अनुत्साह है।

- अनुकूलनं सहिष्णुता

व्यक्ति सहन करना सीख जाए तो प्रतिकूल रिथतियां अनुकूल बनती चली जाती हैं।

- अभ्यासः सायासः

- वैराग्यमनायासः

अभ्यास कृत होता है, अर्जित नहीं, वैराग्य स्वाभाविक होता है कृत नहीं।

- वैयक्तिकमध्यात्मम्

- तत्र विनिमयार्हम्

अध्यात्म भौतिक वस्तु नहीं है इसीलिए वह प्रसरणशील भी नहीं है और उसका विनिमय भी नहीं हो सकता। वह आत्म-केन्द्रित है और नितान्त वैयक्तिक है।

○ परिस्थित्यानाहताहिंसा

अहिंसा का अर्थ है—परिस्थिति के मर्मभेदी परशु से मर्महत न होना।

○ चर्म शरीरं वृणोतीति व्रतम्

○ तदभावे दयनीयं शरीरम्

चमड़ी हमारे शरीर का व्रत है। यदि वह नहीं होती तो हमारी स्नायुओं का क्या होता?

○ शरीर-मन-आवेशानां नियमनं संयमः

आत्मनियन्त्रण का पहला अर्थ है—शरीर पर नियंत्रण। दूसरा अर्थ है—मन पर नियंत्रण। तीसरा अर्थ है—आवेश पर नियंत्रण।

○ मेरुदण्डे प्राणे संयमिते सति प्राण-मनसोशशन्तिरस्तित्वाभिव्यक्तिश्च

प्राण की धारा को हम मध्यवर्ती करें, पृष्ठरज्जु में प्रवाहित करें। इससे प्राण तथा मन दोनों शांत होंगे और अस्तित्व प्रकट हो जाएगा।

○ कपालभातिप्राणायाम-त्रिबन्ध-दीर्घश्वासेभ्यः मेरुदण्डे प्राणसंयमनम्

प्राण को वहाँ केन्द्रित करने का पहला रास्ता है—कपालभाति प्राणायाम। इसके प्रयोग से प्राणधारा मध्यवर्ती होती है। दूसरा रास्ता है—त्रिबन्ध का प्रयोग अर्थात् जालंधर, उड्डीयान और मूलबन्ध। तीसरा रास्ता—दीर्घश्वास। मैंने इसका नाम दिया है—कोटि प्राणायाम—इसकी प्रक्रिया—एक दीर्घश्वास लें उसका रेचन कर तत्काल दूसरा दीर्घश्वास लें। पहला श्वास पूरा होते ही दूसरा उसके साथ संलग्न हो जाए, बीच में विराम न हो। श्वास का चक्र-सा बन जाए। यह है कोटि प्राणायाम यानि दीर्घश्वास। इन तीनों से प्राण मध्यवर्ती होता है जिससे रीढ़ की हड्डी नियंत्रित होती है। इससे सम्पूर्ण शरीर में अस्तित्व खुलकर प्रकट होता है।

○ स्थूलचेतनासुषुप्तौ सङ्कल्पसिद्धिः

संकल्प के सिद्धान्त का एक सूत्र है—संकल्प उस समय करो जब ज्ञान-तन्तु शून्य होने जा रहे हों। स्थूल चेतना लुप्त होती जा रही हो।

○ निर्विचारतासाधनं मौनम्

वाक् संयम (मौन) के द्वारा निर्विचारता को प्राप्त किया जा सकता है।

○ एकान्तवासो मौनम्

मौन का परोक्ष अर्थ हो जाता है—एकान्तवास।

○ स्वदर्शनम् दर्शनम्

दर्शन का अर्थ है—साक्षात्। जब हम अपने आप में देखते हैं तब दर्शन

पूर्ण हो जाता है। जहाँ चित्त को अपने आप में केन्द्रित किया जाता है, वही है दर्शन।

- बुद्धिः सान्त्वा भौतिकी च
- दर्शनमनन्तमाध्यात्मिकञ्च

बुद्धि भौतिक वस्तु है और दर्शन आध्यात्मिक। जो आत्मा और उसके अनन्य चैतन्य में विश्वास नहीं करता, उसके लिए दर्शन बुद्धि का पर्यायवाची होता है। बुद्धि सान्त और ससीम होती है, दर्शन अनन्त और असीम।

- परोक्षोऽपूर्णो बुद्धिवादः
- स इन्द्रियमनोजगज्जन्यः
- दर्शनमात्मजगज्जन्यम्

बुद्धिवाद अपूर्ण इसलिए होता है कि वह परोक्ष है। दर्शन प्रत्यक्ष होता है इसलिए वह पूर्ण है। बुद्धिवाद की उत्पत्ति इन्द्रिय और मन के जगत् में होती है, जो स्वयं चैतन्यमय नहीं हैं बल्कि चैतन्य के वाहक हैं। दर्शन की उत्पत्ति आत्मिक जगत् में होती है, जो कि स्वयं चैतन्यमय है।

- इन्द्रिय-मनोबुद्धिभ्यः परो धर्मः

इन्द्रिय, मन और बुद्धि की समाप्ति ही धर्म का प्रारम्भ है।

- धर्मो व्यष्टिगतः
- समष्टिस्तत्संरथानम्
- धर्मे निर्मलता
- कर्तव्यं दायित्वनिर्वहणम्

धर्म व्यक्तिगत होता है। वह सामाजिक या राष्ट्रीय नहीं होता। जो सामाजिक या राष्ट्रीय होता है, वह धर्म का संस्थान हो सकता है, धर्म नहीं।

कर्तव्य राष्ट्रीय हो सकता है। उसका अर्थ है—नीति को क्रियान्वित करना। उसका संबंध आत्मा की पवित्रता से नहीं किंतु दायित्व से है।

- नीति-कर्तव्य-धर्माणामुत्तरोत्तरं सूक्ष्मता
- सम्यक्त्वानिवार्यमिति नीतिः
- सम्यग्भवितव्यमिति कर्तव्यम्
- सम्यगसीति धर्मः

नीति रथूल है, कर्तव्य सूक्ष्म है और धर्म सूक्ष्मतम्। धर्म की मान्यता है—तुम अच्छाई से भिन्न कुछ भी नहीं हो। कर्तव्य कहता है—तुम्हें अच्छाई का पालन करना चाहिए। नीति कहती है—तुम्हें अच्छाई का पालन करना होगा।

ये तीनों रेखाएं अपने-अपने क्षेत्र में विकसित होती हैं। तब असदाचार पर सदाचार हावी नहीं हो सकता।

० साधना स्वभावपरिवर्तनप्रक्रिया

साधना का अर्थ है—स्वभाव परिवर्तन की प्रक्रिया।

० सा चित्तात्मिका निर्जरा

० चित्तातीता संवरस्ता

साधनाएं दो प्रकार की हैं—एक चित्त पर्याय का निर्माण, जो निर्जरा की साधना है। एक चित्तातीत का निर्माण, जो संवर की साधना है।

० सूक्ष्म उच्चारणे ग्रन्थिभेदः

० स आज्ञाचक्रे

योग ने मानसिक ग्रन्थियों के भेदन की पद्धति का विकास किया था। जब हमारा उच्चारण सूक्ष्म हो जाता है, उस समय ग्रन्थियों का भेदन शुरू हो जाता है। आज्ञाचक्र तक पहुँचते-पहुँचते ध्वनि बहुत सूक्ष्म हो जाती है, सूक्ष्मतम हो जाती है और उन ग्रन्थियों का भेदन भी शुरू हो जाता है।

० आत्मविश्लेषणं विचयध्यानम्

० तेन कषायाणां विचयः

तजाव विसर्जन का सूत्र है—विचय-ध्यान। व्यक्ति आत्म विश्लेषण करे—क्रोध क्यों आता है? लोभ क्यों जागता है? जब हम अपना आत्म- विश्लेषण करते हैं तब आर्त-रौद्र ध्यान छूट जाते हैं। धर्म-ध्यान का प्रारम्भ विचार विश्लेषण के द्वारा होता है।

० ममताविसर्जने शून्यता

० तत्र चैतन्य-शरीर-सम्पर्क-विच्छेदः

० तत्र तीव्रचैतन्यानुभूतिर्न तु मूर्च्छा

० तत्रासीमशक्त्युद्भवः

शून्यता का अभ्यास—वैज्ञानिक धातु को ठंडा करता जा रहा है। जैसे ही वह परम शून्य के निकट पहुँचा तो उसने पाया कि प्रतिरोध शक्ति विलुप्त हो गई। उसके विलुप्त होने पर प्रतिक्रिया शून्य असीम शक्ति का स्रोत प्राप्त होने की संभावना बन गई।

हमारे भीतर भी प्रतिरोध शक्ति है। उसका नाम अहं है। इसके रहते हुए परम शून्य तक नहीं पहुँच पाते। इसका विसर्जन करने पर हम प्रतिक्रियाहीन

असीम शक्ति के स्रोत में बदल जाते हैं। इसी परिवर्तन का नाम है—आत्मोदय या अस्तित्व का उदय।

अहंकार, ममकार और चंचलता के विसर्जित होने पर एक असाधारण शून्यता प्राप्त होती रहती है। यह शून्यता मूर्च्छा या निद्रा जैसी शून्यता नहीं होती। इसमें चैतन्य की अनुभूति तीव्र हो जाती है। यह शून्याशून्य की स्थिति है। इसे निषेध की भाषा में चैतन्य के साथ माध्यम-विहीन सम्पर्क कहा जा सकता है।

० नायोगो नातियोगः

आयुर्वेद में एक सिद्धान्त के तीन अवयवों की चर्चा की है। वे तीन अवयव हैं—योग, अयोग और अतियोग। अयोग हो तो कोई बात पनपती ही नहीं। किसी व्यक्ति को शिक्षा का अयोग हो तो वह नितांत मूर्ख ही बना रहेगा। अतियोग भी हानिकारक होता है। कोई व्यक्ति रात-दिन पढ़ता ही रहे तो शक्ति शून्यता आ जायेगी। वह कुछ भी नहीं कर पायेगा। न अयोग हो और न अतियोग हो किंतु योग होना चाहिए। दिन में दो-चार घंटा पढ़ा, फिर विश्राम किया, फिर पढ़ा, फिर विश्राम किया। यह है इच्छा पर नियंत्रण, अनुशासन। योग का अर्थ है—परिष्कृत इच्छा पर नियंत्रण, संयम।

० सुषुम्नायां प्राणप्रवाहे सति समता

हमारे नाड़ी-संस्थान के तीन हिस्से हैं—परानुकम्पी, अनुकम्पी और केन्द्रीय नाड़ी-संस्थान। यह केन्द्रीय नाड़ी-संस्थान दोनों नाड़ी-संस्थानों का नियंत्रण करता है। ये तीनों हमारे ग्रन्थितंत्र पर नियंत्रण रखते हैं। हठयोग की भाषा में कहा जा सकता है—इडा और पिंगला। इन दो प्राण प्रवाहों का असंतुलन होना विषमता है और सुषुम्ना में प्राण प्रवाह का चालू होना समता है। शरीर शास्त्रीय भाषा में कहा जा सकता है कि परानुकम्पी और अनुकम्पी नाड़ी-संस्थान का असंतुलन विषमता है और केन्द्रीय नाड़ी संस्थान के द्वारा उनका संतुलन होना समता है। हठयोग में सुषुम्ना का महत्त्व है। जैन योग में समता और सुषुम्ना को पर्यायवाची माना जा सकता है। सुषुम्ना की अवस्था समता की अवस्था है। सुषुम्ना का जागरण समता का जागरण है और जब समता जागती है तो सुषुम्ना जाग जाती है।

० वामदक्षिणमस्तिष्कसन्तुलनं समतोपायः

समता के विकास का एक उपाय है—दाएं-बाएं मस्तिष्क का संतुलन स्थापित करना। दोनों को जगाना। किसी को भी निरन्तर सोने नहीं देना चाहिए।

○ समतायामेव पदार्थं अपि सुखप्रदाः

○ नान्यथा

समता है तो पदार्थ भी सुख दे सकता है। यदि समता नहीं है तो हजार पदार्थ होने पर भी मन बेचैन, उदास और संतप्त बना रहता है।

○ ज्ञाने न सुखदुःखे

ध्यान की परम्परा में एक ऐसी ही अवस्था होती है जहाँ केवल ज्ञानात्मक पक्ष होता है। जहाँ न सुखद भाव और न दुःखद भाव। मात्र तटरथता का भाव।

○ इन्द्रियैः प्राप्ते ज्ञाने तटरथता

समाधि का परम बिंदु है—समता। इन्द्रियों का पूर्ण निरोध संभव नहीं अतः जो आता है उसे आने दें। ऐसी चेतना जागृत करें कि जो आये उसे देखें उसके साथ प्रियता-अप्रियता को न जोड़ें।

○ निर्विकल्पं मनः, शिथिलं शरीरं, प्रकम्पानामग्रहणञ्चेति सामायिकार्थः

सामायिक का अर्थ है—प्रकम्पनों को समाप्त करना। इसे संवर भी कहते हैं। इसके लिए तीन बातें जरूरी हैं—

१. मन की शिथिलता—मन को विकल्पों से खाली कर देना।

२. शरीर की शिथिलता—शरीर को तनावों से मुक्त कर देना।

३. प्रकम्पनों का अग्रहण।

○ ज्ञानध्यानयोर्विंकल्पनिर्विंकल्पयोस्सञ्चयव्यययोर्गुप्तिसमित्योः स्मृति-विस्मृतयोर्वचनमौनयोः प्रवृत्तिकायोत्सर्गयोऽच संतुलनम्।

समस्या मुक्ति के लिए संतुलन करें।

ज्ञान और ध्यान का संतुलन करें। विकल्प चेतना और निर्विकल्प चेतना का, शक्ति व्यय और शक्ति संचय, आवृत्त चेतना और अनावृत्त चेतना का, स्मृति और विस्मृति का, वाणी और मौन का, शरीर की चंचलता और कायोत्सर्ग का संतुलन करें।

○ चेतनाया ऊर्ध्वीकरणे परिष्कारः

काम केन्द्र की ओर प्रवाहित होने वाली चेतना को ऊपर उठाकर ज्ञान केन्द्र में ले जाना। नीचे के प्रवाह को ऊपर की ओर मोड़ देना। यह शुद्ध आलम्बन की स्वीकृति है। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रयत्न है। इस प्रयत्न से सारी वृत्तियों का परिष्कार होता है, मन का अनुशासन सधता है।

० भावक्रियायां सदा ध्यानम्

जब भावक्रिया सध जाती है तब ध्यान की पद्धति केवल एक घंटा बैठकर करने की पद्धति नहीं रहती, वह समग्र जीवन दर्शन बन जाता है। इस स्थिति में प्रत्येक क्रिया में ध्यान बना रहेगा।

० कायोत्सर्गं स्थिरतायां स्नायुतंत्र-मस्तिष्कीयविद्युत्-शरीरबुद्धिजड़ता

-शीतोष्णाद्वच्छेषु अनुकूलप्रभावः

० ततः स्थूलशरीरानवबोधः

० ततः चैतन्यानुभवः

कायोत्सर्ग की प्रथम अवस्था में स्थिरता प्राप्त होती है। दूसरी अवस्था में कुछ विशिष्ट परिवर्तन होते हैं यथा—

० स्नायुतंत्र प्रभावित होता है।

० मस्तिष्क की तरंगों और मस्तिष्कीय विद्युत में परिवर्तन आ जाता है।

० ऑक्सीजन की खपत कम हो जाती है।

० श्लेष्म आदि दोषों के क्षीण होने से देह की जड़ता नष्ट होती है।

० जागरूकता के कारण बुद्धि की जड़ता नष्ट होती है।

० सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वों को सहने की क्षमता बढ़ती है।

० चित्त की एकाग्रता सुलभ हो जाती है।

अग्रिम अवस्था में स्थूल शरीर का बोध क्षीण हो जाता है। सूक्ष्म शरीर की सक्रियता बढ़ती जाती है। इन्हियों का अनुभव क्षीण हो जाता है। बाद की अवस्था में आत्मा के चैतन्यमय स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है।

० ज्योतिः केन्द्रे श्वेतवर्णं ध्यायिते कषायोपशमः

० प्राणकेन्द्रे ध्यायितेऽप्रमादः

जो व्यक्ति प्रिय-अप्रिय संवेदनों से मुक्त होना चाहता है, वह ज्योति केन्द्र पर ध्यान करे। जिस व्यक्ति ने ज्योति केन्द्र पर श्वेत रंग या अन्य निर्दिष्ट रंगों का ध्यान किया है, उस व्यक्ति ने क्रोध, अहंकार, द्वेष और राग से छुटकारा पाया। इस प्रयोग से कषाय-विजय प्राप्त होता है।

प्राण केन्द्र पर ध्यान करने से प्रमाद आश्रव पर विजय प्राप्त होती है।

० अतीते प्रतिक्रमणे, वर्तमाने संवरे, भविष्यति प्रत्याख्याने च ग्रन्थिभेदः

बीमारी की जड़ बहुत गहरी होती है। ध्यान करने का प्रयोजन है उस जड़ तक पहुंच जाना। ध्यान में तीन कालों का समाहार है—अतीत का प्रतिक्रमण, वर्तमान का संवर और भविष्य का प्रत्याख्यान। यह भाव-चिकित्सा

का महत्वपूर्ण सूत्र है। केवल वर्तमान पर विचार करना आवश्यक है, पर पर्याप्त नहीं। केवल अतीत और भविष्य पर विचार करना ही पर्याप्त नहीं है। तीनों कालों का समाहार करने से ही साधना की संगति होती है और भाव-चिकित्सा के क्षेत्र में नयी उपलब्धि होती है।

अतीत का प्रतिक्रमण अत्यन्त आवश्यक है। जब तक अतीत के प्रतिक्रमण और मनोभावों को समझने की बात फलित नहीं होती तब तक मानसिक ग्रन्थियाँ नहीं खुल सकती। ग्रन्थियों के विमोचन के बिना हम वर्तमान का जो उपयोग करना चाहते हैं, सफल बनाना चाहते हैं, पर वर्तमान बंटा हुआ नहीं है। वह जुड़ा हुआ है, अतीत और भविष्य से।

○ व्यग्रं ज्ञानम्, एकाग्रं ध्यानम्

ज्ञान और ध्यान दो नहीं हैं। वस्तुतः ज्ञान ही ध्यान है। जो तरल है, व्यग्र है, वह है ज्ञान और जो ज्ञान एकाग्र है, जमा हुआ है, वह ध्यान है।

○ ज्ञानस्य तटस्थता-यथार्थता-स्थिरता: ध्यानम्

ज्ञान को ध्यान में बदलने के तीन साधन हैं—ज्ञान तटस्थ हो, यथार्थ हो, अतिनिश्चल हो।

○ आयासराहित्य - आकाशदर्शन - कुम्भक - हृदयचक्रध्यान - आत्मानुभवाः निरालम्बध्यानसाधकाः

निरालम्बन ध्यान की पद्धतियाँ—

- प्रयत्न की शिथिलता
- निरभ्र आकाश की ओर टकटकी लगाकर देखते जाएं
- केवल कुम्भक का अभ्यास करें
- मानसिक विचारों को समेटकर हृदय-चक्र की ओर ले जायें
- आत्मा या चैतन्य केन्द्र की धारणा को दृढ़ कर उसके सान्निध्य का अनुभव करें।

○ श्रुतज्ञाने मनः स्थिरता

मन को एक स्थान पर टिकाने का साधन है—श्रुतज्ञान।

○ ध्यानेन नाशुभविचारः

○ न विकल्पजालविस्तरो वा

बुरे विचारों या विकल्पों से छुट्टी पाने का एकमात्र मार्ग है—ध्यान। जो व्यक्ति एकाग्रता का अभ्यास करता है उसमें इतना अन्तर अवश्य आ जाता है

कि वह आने वाले विकल्पों में उलझता नहीं है। आने वाले विचारों को द्रष्टाभाव से देखता है।

○ अनुभवेन रूपान्तरणम्

अपने आपको बदलने का, व्यक्ति के रूपान्तरण का और आदतों के परिवर्तन का सबसे बड़ा उपाय है अनुभव के जगत् में प्रवेश पाना। यह अनुभव का जगत् है, ध्यान का जगत् है।

○ ध्यानेन रासायनिकपरिवर्तनम्

○ ततो निसर्गतः प्रत्याख्यानम्

ध्यान के द्वारा व्यक्ति में ऐसा रासायनिक परिवर्तन होता है कि व्यसन अपने आप छूट जाते हैं। प्रत्याख्यान स्वयं घटित हो जाता है। जैसे ही व्यक्ति वर्तमान के प्रति जागरूक होता है, वैसे ही उसमें अतीत का प्रायश्चित्त और भविष्य का प्रत्याख्यान हो जाता है। ये दोनों घटनाएं घटती हैं।

○ प्रेक्षया निरोधः

○ अनुप्रेक्षया शोधनम्

प्रेक्षा निरोध की प्रणाली है। अनुप्रेक्षा शोधन की।

○ विश्वं व्यक्तिना

○ विश्वेन व्यक्तिः

○ उभयोर्युतिः

समाज की सबसे छोटी इकाई है व्यक्ति और वृहत्तम इकाई है विश्व। व्यक्ति और विश्व—ये दो छोर पर दो बातें हैं, किंतु दोनों में अन्तःसंबंध है। दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं। व्यक्ति से भिन्न विश्व नहीं है और विश्व से भिन्न व्यक्ति नहीं है। व्यक्ति और विश्व—दोनों को एक संदर्भ में देखा जा सकता है। व्यक्ति की समस्याओं को छोड़कर विश्व की समस्याओं पर विचार नहीं किया जा सकता।

○ असङ्ग्रहे आर्थिकोपनिवेशवादाभावः

○ अनाग्रहे विचारस्यातन्त्रयम्

○ उभयोरहिंसा

एक सूत्र है असंग्रह और अनाग्रह का। उसका फलित है अहिंसा। उसका समीकरण होगा—असंग्रह, अनाग्रह, अहिंसा। ये दोनों बातें भुला दी गई हैं। असंग्रह का विकास होता है तो बाजार पर अधिकार करने की बात कमजोर पड़ती है। अनाग्रह का विकास होता है तो विचार पर अधिकार करने

की बात समाप्त होती है। ये दोनों बातें हमारे सामने हैं। हर व्यक्ति यह अनुभव करे कि अगर विश्व में अशान्ति है तो उसका एक जिम्मेदार मैं भी हूँ। विश्व में शान्ति का प्रचार हो—इसके लिए एक आहुति मेरे विचार की भी लगानी चाहिए।

० सुविधावादत्यागे स्वावलम्बनारथायाम् आवश्यकतासवित्तविवेके रूपान्तरणे श्रद्धायाऽज्ञात्मन्यधिकारः

अपनी आत्मा को अपना बनाने के चार उपाय हैं—

१. सुविधावादी दृष्टिकोण का परित्याग
२. कोई दूसरा व्यक्ति सुख-दुःख नहीं दे सकता—इस आरथा का निर्माण
३. आवश्यकता और आसक्ति की भेदरेखा का बोध
४. आदत को बदला जा सकता है—इस श्रद्धा का निर्माण।

० सूक्ष्मदृष्ट्या सूक्ष्मज्ञानम्

सूक्ष्म पर्यायों को जानने के लिए सूक्ष्म दृष्टि का विकास जरूरी है और वह होता है विचारानुगत ध्यान या पर्याय ध्यान से। जब हम पर्याय का ध्यान करेंगे तब वह विकसित होगा।

० यथा ध्येयं तथा ध्याता

भावात्मक बीमारियों को मिटाने का पहला सूत्र है—आदर्श का चुनाव, इष्ट का चुनाव। व्यक्ति वैसा ही बनता है जैसा उसका आदर्श होता है। व्यक्ति का जैसा उद्देश्य होता है, लक्ष्य होता है, वैसा ही बन जाता है। आदर्श और व्यक्ति जब एकात्मक बन जाते हैं, तब परिवर्तन प्रारम्भ हो जाता है और व्यक्ति आदर्श के अनुरूप बन जाता है।

० विश्लेषणेनावेशोपशमः

एक उपाय है—विश्लेषण। संश्लेषण नहीं, विश्लेषण करें। क्रोध और चेतना को अलग-अलग कर दें। यदि हम यह विश्लेषण निरन्तर करते रहें तो आवेश शांत हो जाते हैं।

० अवचेतने धार्मिक आस्तिको वा जीवति न तु चेतने

आस्तिक और धार्मिक होने के लिए अवचेतन के स्तर पर जाना होगा। चेतन स्तर पर जीने वाला आस्तिक कैसे ?

० अदर्शनं सुषुप्तिर्वा नयनमीलनार्थो लोके

० जागरणमन्तर्दर्शनं वाध्यात्मक्षेत्रे

बाहरी दुनिया में आँख बंद करने के दो अर्थ हैं—नहीं देखना, सो जाना।

अध्यात्म के क्षेत्र में अर्थ बदल जाते हैं—वहाँ अर्थ है—जागना, भीतर देखना।

- बाह्यसाधनैरस्थायिपरिवर्तनम्
- स्थायि अध्यात्मविद्या

अध्यात्मविद्या का विकास मानव का सर्वोपरि विकास है। अध्यात्मविद्या के द्वारा जो अनुशासन प्राप्त होता है, वह किसी अन्य विद्या से प्राप्त नहीं होता। इन्द्रिय मन, विचार और भाव पर केवल अध्यात्म के द्वारा ही अनुशासन हो सकता है, अन्य किसी के द्वारा नहीं हो सकता। आदमी को सुलाया जा सकता है, मूर्छा में पटका जा सकता है, इलेक्ट्रोड लगाकर कुछ क्षणों के लिए बदला जा सकता है, पर उसके व्यक्तित्व का स्थायी रूपांतरण नहीं किया जा सकता। वैज्ञानिक उपकरणों के माध्यम से क्रोध और आवेग को शांत किया जा सकता है, कामवासना और भूख को रोका जा सकता है, दर्द को शांत किया जा सकता है, पर सब होता है कुछ समय के लिए, अल्पकाल के लिए। ये उपकरण व्यक्तित्व का स्थायी रूपांतरण नहीं कर सकते।

○ पिण्डे ब्रह्माण्डदर्शनम्

इस जगत् का सबसे बड़ा सार तत्त्व हमारे शरीर के भीतर है। उसके दर्शन से जैविक रासायनिक परिवर्तन होते हैं। अन्तःस्नावी ग्रंथियों के रसायन बदलते हैं। नाड़ी संस्थान पर नियंत्रण होता है। मूर्छा टूटती है और चैतन्य जागृत होता है। आत्मा का अस्तित्व शरीर के माध्यम से प्रकट होता है जो शरीर को देखना नहीं जानता वह अन्तर्भाव में अवस्थित चैतन्य केन्द्रों का दर्शन करना नहीं जानता। वह अपने अस्तित्व को भी नहीं जानता।

○ स्वास्थ्यमानुषङ्गिकं फलं ध्यानस्य

ध्यान के संदर्भ में एक गौण ध्येय है—शारीरिक स्वास्थ्य।... इतना विवेक अवश्य जागना चाहिए—ध्यान आत्मशुद्धि अथवा आत्मा की उपलब्धि के लिए है। शारीरिक स्वास्थ्य उसका प्रासंगिक फल है।

○ सम्यग्योगः प्रतिसंलीनता चेन्द्रियशुद्ध्युपायः

इन्द्रिय शुद्धि के दो उपाय हैं—१. स्वविषयान् प्रति सम्यग् योगः—अर्थात् अपने—अपने विषयों के प्रति सम्यग् योग होना। इन्द्रिय विषयों के प्रति ज्ञाताद्रष्टा भाव का विकास करना न कि प्रियता और अप्रियता के भाव की। २. प्रतिसंलीनता—व्यक्ति की सारी लीनता पदार्थ के प्रति है, बाहर की ओर है। प्रियता और अप्रियता की बात छूटती है तब लीनता का क्षेत्र बदल जाता है। यह रसहीनता नहीं किंतु जो व्यक्ति अपने भीतर महान रस को खोज लेता है,

उसके सारी लीनता बदल जाती है, आकर्षण बदल जाता है, श्वास प्रेक्षा, शरीर प्रेक्षा और प्रकंपन प्रेक्षा में व्यक्ति जब लीन होता है तब बाहर की लीनता अपने आप छूट जाती है। उसका कालबोध, दिशाबोध बदल जाता है।

० पराश्रितोऽज्ञानी

० आत्माश्रितो ज्ञानी

जब तक अध्यात्म चेतना नहीं जागती तब तक सारा दोष दूसरों पर और उसके जागने घर सारा दायित्व अपने पर।

प्रेक्षा जागती है तब भ्रान्तियां टूटती हैं, सत्य उपलब्ध होता है।

- ० सुख दुःख का दायित्व स्वयं पर है।
- ० सुख भीतर है।
- ० शांति भीतर है।
- ० स्वास्थ्य भीतर है।
- ० दीर्घायु की कुंजी अपने हाथ में है।

० अनर्थविकल्पपरित्याग इति प्रथम्

० सार्थकविकल्पग्रहणमिति द्वितीयम्

० निर्विकल्प इति तृतीयम्

अनावश्यक विकल्पों को समाप्त करना आत्म-साक्षात्कार की प्रथम भूमिका है। कुछ विकल्पों को पुष्ट करते हैं, उन्हें कहते हैं— सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चरित्र। यह आत्म साक्षात्कार की द्वितीय भूमिका है जहाँ कोई विकल्प विचार और कोई अनुभव नहीं होता। केवल चैतन्य होता है। यह आत्म साक्षात्कार की तीसरी भूमिका है।

- ० ध्याता-ध्येय-द्वैतं यात्रारम्भे
- ० यात्रान्तेऽद्वैतम्
- ० तदेव श्रद्धा
- ० सा गुणेषु, न व्यक्तौ

हम अपने आदर्श के प्रति इतने श्रद्धावान् बनें, ऐसा तादात्म्य स्थापित करें कि हमारा द्वैत समाप्त हो जाए, ध्याता और ध्येय दो नहीं रहें, दोनों एक हो जाएं। प्रारंभिक अवस्था में ध्याता अलग होता है, ध्येय अलग होता है। जब श्रद्धा का पूरा परिष्कार होता है, वह शैशव अवस्था को छोड़कर प्रौढ़ अवस्था में आती है, तब ये तीनों—ध्याता, ध्येय और ध्यान—एक हो जाते हैं। वही ध्याता, वही ध्येय और वही ध्यान तीनों में कोई अन्तर नहीं रहता। ऐसी अवस्था में ही श्रद्धा के परिणाम मिल सकते हैं। इस दुनिया में श्रद्धा न करना भी खतरनाक

है और श्रद्धा करना भी खतरनाक है। दोनों ओर खतरा है। इससे बचने का एक ही रास्ता है और वह है आदर्श के प्रति आस्था। वीतराग हमारा आदर्श है। गुणात्मक श्रद्धा में कोई खतरा नहीं होता। श्रद्धा किसी व्यक्ति के प्रति नहीं होनी चाहिए। श्रद्धा गुणात्मक होनी चाहिए।

- **शुद्धः प्रत्ययो ज्ञानम्**
- **रागद्वेषयुक्तोऽज्ञानम्**

अज्ञान—जब ज्ञान के साथ राग-द्वेष, मोह आदि जुड़ जाते हैं तब वह ज्ञान अज्ञान है।

जहां ज्ञान और वेदना दोनों हैं वह है अज्ञान।
ज्ञान का अर्थ है—केवल ज्ञान, कोरा ज्ञान।

- **संवेगनियंत्रणं वैराग्यमिति मनोवैज्ञानिकाः**
- **विचारनियंत्रणमेकाग्रता**

मनोविज्ञान की भाषा में संवेदन नियंत्रण वैराग्य है। विचार का नियंत्रण एकाग्रता है।

- **कामकेन्द्रोर्जामूर्धीकृत्य ज्ञानकेन्द्रे स्थापनान्तर्मुखता**

जब काम-केन्द्र की ऊर्जा को ऊपर ले जाते हैं, ज्ञान केन्द्र में ले जाते हैं या ज्ञान केन्द्र से नीचे नहीं उतरने देते तब स्थितात्मा हो जाते हैं। इस स्थिति में राग-द्वेष नहीं सताते। क्षोभ और मोह नहीं सताते, आवेश और वासनाएं नहीं सताती। यही अन्तर्मुखता की स्थिति है।

- **क्रूरता-वैर-मूर्च्छा-अवज्ञा-अविश्वासा: स्वाधिष्ठानचक्रे जायन्ते**
- **तृष्णा-ईर्ष्या-लज्जा-घृणा-भय-मोह-कषाय-विषादाः मणिपूरचक्रे**
- **लोलुपता-हिंसा-फलाशा-चिंता-ममता-दंभ-अविवेक-अहङ्काराः अनाहतचक्रे**
योग का एक ग्रंथ है—आत्मविवेक। उसमें बताया है कि क्रूरता, वैर, मूर्च्छा और अविश्वास—ये सब स्वाधिष्ठान चक्र में उपन्न होते हैं। तृष्णा, ईर्ष्या, लज्जा, घृणा, भय, मोह, कषाय और विषाद—ये सब मणिपूर चक्र में जन्म लेते हैं।

तीसरा है अनाहत चक्र। यह हृदय के स्थान का चक्र है। इस चक्र में लोलुपता, तोड़फोड़ की भावना, आशा, चिंता, ममता, दंभ, अविवेक, अहंकार—सारे जन्म लेते हैं।

ये तीन चक्र हैं—स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपूर चक्र और अनाहत चक्र। जहाँ हमारी सारी वृत्तियां जन्म लेती हैं। अब हम लेश्या की दृष्टि से विचार करें। अविरति, क्षुद्रता, निर्दयता, नृशंसता, अजितेंद्रियता—ये कृष्ण लेश्या के परिणमन

हैं। ईर्ष्या, कदाग्रह, अज्ञान, माया, निर्लज्जता, विषय वासना, कलेश, रस लोलुपता—ये नील लेश्या के परिणमन हैं। वक्रता—वक्र आचरण, अपने दोषों को ढांकने की मनोवृत्ति, परिग्रह का भाव, मिथ्यादृष्टिकोण, दूसरे के मर्म को भेदने की वृत्ति, अप्रिय कथन—ये कापोत लेश्या के परिणमन हैं।

० बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा चेति विकासक्रमः

० अधोलोकान्मध्यलोके ऊर्ध्वलोके च क्रमिकारोहणम्

हमारी चेतना के तीन स्तर हैं—मूर्च्छा, जागृति और वीतरागता। मिथ्यात्व या मिथ्यादृष्टि मूर्च्छा की अवस्था है। मूर्च्छा में बहिर्मुखता रहती है। जागृति का फलित है—अन्तर्मुखता। अर्थात् मन, इन्द्रिय, प्राण की चंचलता का विलीन हो जाना। सम्यक् दर्शन का पहला क्षण जागरण का पहला क्षण है। वीतरागता की चेतना में हमारी साधना पूर्ण होती है। जागृति की प्रक्रिया क्या हो ? हमारे शरीर के मुख्यतः तीन भाग ऊर्ध्व, अधो और मध्य। नाभि से ऊपर ऊर्ध्व, नाभि मध्य और नाभि के नीचे का भाग अधोलोक। हमारी प्राणशक्ति अधोलोक से शुरू होती है—उसका प्रवाह ऊपर जाने पर चेतना का विकास नाभि से १२ अंगुल ऊपर एक चक्र है, उसका नाम है मन चक्र। उस मन चक्र पर जब हमारी प्राणशक्ति का प्रवाह जाता है तब जागरण का पहला क्षण होता है। अपनी धारणा के द्वारा प्राणशक्ति को मनःचक्र में केन्द्रित करना और वहाँ केन्द्रित कर प्राणायाम् करना—रेचक पूरक और कुंभक करना। यह है जागृति की प्रक्रिया। ऐसा करने पर मन की ग्रन्थि खुलने लगती है। यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थूल शरीर से भी बड़ी एक शक्ति है सूक्ष्म शक्ति और इस सूक्ष्म शरीर से भी अलग चैतन्य की स्वंत्र सत्ता है तथा उसका विकास किया जा सकता है। जागरण होने से आत्मा और शरीर का भेदज्ञान, हमारी शक्तियों का बोध, अस्तित्व का बोध तथा अन्तर्जगत की क्रियाओं एवं प्रतिक्रियाओं का बोध हो जाता है।

० मूर्च्छा नियन्त्रिता हितकरी लोके परस्परोपकाराधारत्वात्

० मूर्च्छाऽनियन्त्रिता विनाशकरी

सामाजिक प्राणी के लिए यह नहीं कहा जा सकता कि मूर्च्छा सर्वथा हेय है। वह छोड़ भी नहीं सकता। जो कुछ दूसरे के लिए होता है या किया जाता है वह सारा मूर्च्छा और मोह के कारण ही हो रहा है। मोह नहीं होता तो कौन पढ़ाता बच्चों को ? कौन उन्हें तैयार करता ? कौन उन्हें व्यवसाय सिखाता ? फिर तो सब अकेले होते। सब विरागी या विरक्त होते। अकेला आदमी विरागी बनकर जीवन यापन कर सकता है, पर समाज वैसा नहीं कर सकता। यदि संसार ऐसा होता तो वह फिर संसार नहीं, व्यक्ति होगा। आदमी अनगिनत

कष्टों को सहता हुआ भी जी रहा है। इसका मुख्य कारण है—मूर्च्छा । मूर्च्छा में हजारों कष्ट सहे जा सकते हैं, अन्यथा नहीं। एक मूर्च्छा हजारों कष्टों को शांत कर देती है, उनका निवारण कर देती है। यदि ऐसा नहीं होता तो एक दुःखमय, कष्टमय और दारुण संसार में आदमी कभी जी नहीं पाता। उसका जीवित रखने वाली वस्तु है मूर्च्छा। सामाजिक और पारिवारिक वातावरण को सजीव रखने के लिए मूर्च्छा की अनिवार्यता स्वीकार करनी होगी। सामाजिक व्यक्ति मूर्च्छा को सर्वथा छोड़ दे, यह असंभव बात है। किंतु मूर्च्छा के चक्र-व्यूह को तोड़ना जरूरी है। जब तक उसका चक्र-व्यूह चलता रहेगा, तब तक दुःखों का अन्त नहीं होगा। उसकी एक सीमा हो। वह अनन्त न बने, यह अपेक्षित है। मूर्च्छा केवल समाज को चलाने वाली कड़ी के रूप में स्वीकृत हो तो इतना अनर्थ नहीं होता। पर आज उसे अनन्त आकाश प्राप्त है। यह अहितकर है। ध्यान का पुष्ट परिणाम है मूर्च्छा के चक्र का टूटना।

- चेतनायां मूर्च्छितायां कर्मतन्त्रं निष्क्रियम्
- न तदध्यानम्
- भावतंत्रपरिष्कारे मूर्च्छाविलयः
- स चेतनया साध्ये न पदार्थेन

ध्यान की प्रक्रिया मूर्च्छा को तोड़ने की प्रक्रिया है। जो उपाय चेतना को मूर्च्छित करते हैं वे ध्यान के सही उपाय नहीं हैं। ध्यान में सही उपाय वे ही हैं जो मूर्च्छा को तोड़ते हैं। जितने पदार्थ हैं, उतने उपक्रम हैं। व्यक्ति की चेतना को मूर्च्छित करने वाले सब हमारे कर्म-तंत्र को प्रभावित करते हैं। वे कर्म-तंत्र को निष्क्रिय बना देते हैं, किंतु वे मूर्च्छा को नहीं तोड़ सकते। केवल कर्म-तंत्र को प्रभावित या मूर्च्छित करने से मूर्च्छा का नाश नहीं होता, मूर्च्छा का विलय नहीं होता, मूर्च्छा नहीं टूटती। जब साधक कर्म-तंत्र को पार कर भाव-तंत्र का स्पर्श करता है तब मूर्च्छा टूटती है। भाव-तंत्र का स्पर्श केवल चेतना के द्वारा ही किया जा सकता है। वहाँ तक कोई पदार्थ नहीं पहुँच सकता।

- प्रायश्चितं भावपरिवर्तनोपायः
- भाव को बदलने का अच्छा साधन है प्रायश्चित।

- “मिच्छामि दुक्कडं” इति मनसः कायाकल्पसूत्रम्

जैसे कायाकल्प का पंचकर्म है—वमन, विरेचन, निरुहण, वस्तिकर्म और स्नेहन वैसे ही अध्यात्म का पंचकर्म है—पडिक्कमामि, निंदामि, गरहामि, आलोएमि, मिच्छामि दुक्कडं।

- आत्मानं विद्वीति प्रथमाधिशान्तिः
- कृतकर्मफलाङ्गीकार इति द्वितीया
- सत्यस्वीकृतिरिति तृतीया

मानसिक स्वारथ्य का पहला सूत्र है—अपने आपको जानो।

दूसरा सूत्र है—परिणामों की स्वीकृति। हम प्रवृत्ति करते हैं किंतु उसके परिणामों को स्वीकार नहीं करते और इसलिए मन में असंतोष और अशांति पैदा होती है।

तीसरा सूत्र है—सत्य के प्रति समर्पण। सत्य का अर्थ है—सार्वभौम नियम। मृत्यु एक सार्वभौम नियम है। वस्तु स्वभाव एक सच्चाई है। सार्वभौम सच्चाइयों के प्रति जो समर्पित रहता है, वह मानसिक दृष्टि से स्वरथ रह सकता है।

○ आत्मदर्शनं परमात्मदर्शनम्

समाधान है—स्व-दर्शन (स्वदर्शन का परिणाम होता है—परमात्मा दर्शन का)।

○ जिह्वा-कण्ठ-शिथिलीकरणं मनश्शान्त्युपायः

मन को शांत करने के लिए शरीर के दो अवयव बहुत महत्त्वपूर्ण हैं—जीभ और स्वरयंत्र। जीभ का कायोत्सर्ग और कंठ का कायोत्सर्ग बहुत ही महत्त्वपूर्ण साधन है।

तपस्या, तेजस्विता, उग्रता—ये मन के उत्तरायण हैं। जड़ता और नींद की शांति यह हमारे मन का दक्षिणायन है।

○ आत्मलीनता कष्टसहिष्णुता

भगवान महावीर के साधना काल में अनेक कष्ट उपस्थित हुए। वे कष्टलीन होते तो उन्हें कभी नहीं झेल पाते किंतु वे आत्मलीन थे, इसलिए उन्हें झेल सके।

○ तपसा वृत्तिशोधनम्

○ शुभसंस्कारपोषणञ्च

वृत्तियों का शोधन तपोयोग से होता है। जैसे पानी, हवा और धूप के अभाव में अंकुरित बीज मुरझा जाता है वैसे ही पोषक सामग्री के अभाव में अर्जित संस्कार निर्वीर्य बन जाते हैं। जैसे गंदा जल शोधक द्रव्यों के प्रयोग से स्वच्छ हो जाता है वैसे ही तपोयोग के द्वारा वृत्तियों के दोष विलीन हो जाते हैं।

○ स्वभावस्मृतिर्विभावरेचनं साधनाया लक्ष्यम्

ध्यान का उद्देश्य है—स्वभाव की सतत स्मृति, सतत दर्शन और विभाव का रेचन।

○ सत्यसाक्षात्कारस्समस्यासमाधानञ्च

○ रूपान्तरण-कषायमुवित्त-मोहनीयकर्मक्षयाश्च

○ रागद्वेषहानिश्च

○ प्राणोर्जा-वृद्धिश्च

ध्यान और कायोत्सर्ग का मूल प्रयोजन है सच्चाई को समझकर अपनी समस्या को सुलझाना।

प्रेक्षाध्यान का मुख्य प्रयोजन है भाव परिवर्तन, वृत्तियों का रूपान्तरण। क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, घृणा, भय, कामवासना आदि-आदि जो मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ हैं उनसे निपटना, संस्कारों को क्षीण करना—यह है ध्यान का मुख्य प्रयोजन।

ध्यान का मूल उद्देश्य है—राग और द्वेष को कम करना।

प्रेक्षाध्यान का एक महत्त्वपूर्ण अंग है—प्राण-ऊर्जा को जागृत करना।

○ परिस्थितिजय-चेतनोत्थान-मूर्च्छाहानयस्सद्वेः फलम्

○ कषायशान्ति-निर्मलते वा

सिद्धि के तीन स्तर हैं—

१. प्राकृतिक, जैसे परिस्थितियों पर प्रभुत्व पाना।

२. चेतना का जागरण।

३. मूर्च्छा की समाप्ति।

साधना का उद्देश्य है कषाय की शान्ति, चेतना की निर्मलता।

○ संवेदने मन्दे सति दर्शनम्

○ मन्दतरे समता

○ क्षीणे वीतरागता

संवेदन मंद होने पर दर्शन समाधि, मंदतर होने पर समता समाधि और क्षीण होने पर वीतराग समाधि फलित होती है।

○ प्रवृत्ति-निवृत्तिसंतुलनं ध्यानस्य फलितम्

○ दृष्टभावविकासश्च

○ मानसिकसंतुलनञ्च

○ मनोव्यथाजन्यरोगनिवारणञ्च

प्रेक्षाध्यान के मुख्य फलित ये हैं—

१. सक्रियता और निष्क्रयता का संतुलन
२. दृष्टिभाव का विकास
३. मानसिक संतुलन
४. तनाव जनित रोगों का निवारण।

○ नानन्तपदार्थप्राप्तिः

○ अनन्तशान्त्यवाप्तिस्तु

कोई भी व्यक्ति पदार्थ विकास में अनन्त यात्रा नहीं कर सकता। शान्ति के विकास में अनन्त यात्रा कर सकता है।

○ अतीते प्रतिक्रान्ते रूपान्तरणम्

○ प्रायश्चित्ते च

जब अतीत का प्रतिक्रमण करने में हमारी अन्तःप्रेरणा जाग जाती है तब परिवर्तन शुरू होता है समग्र जीवन में। इसलिए इस बात को पकड़ें कि अतीत का प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्त किए बिना, शोधन और परिष्कार किए बिना मानसिक ग्रन्थियाँ नहीं खुलती, हजार उपचार करने पर भी परिवर्तन नहीं होता।

○ आत्मानुशासने अतिसहजा व्यवस्था

○ स्वर्धम् इत्येवाहेतुकं कर्तव्यपालनम्

समाज में रहने वाले स्व की सीमा में चलें। इस स्व-शासन का विकास होने पर समाज में व्यवस्था नहीं होगी किंतु एक विशेष अवस्था होगी। नियम कृत्रिम नहीं होगा, किंतु सहज होगा। प्रेरणा मूल भय नहीं होगा किंतु कर्तव्य-निष्ठा होगी।

○ बाह्ये वातावरणेऽनुकूले ध्यानम्

○ आन्तरिके च

बाहरी और आन्तरिक दोनों वातावरण अनुकूल होते हैं तब ध्यान का जन्म होता है।

○ चित्तं सततं परिवर्तते

○ चित्ते परिवर्तिते सति बाह्याभ्यन्तरं परिवर्तते

ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं है जो एक चित्त वाला हो। देश, काल और परिस्थितियों के साथ चित्त बदलता रहता है। जब चित्त बदलता है तब आसपास का सब कुछ बदल जाता है, भीतर का भी बदलता है और बाहर का भी बदलता है।

○ शरीर-रसायन-विद्युत्-मस्तिष्क-कोशिका-सूक्ष्मशरीर-कार्मणशरीर-दर्शनादात्मदर्शनम्

आत्मा तक पहुंचने के लिए सात बिंदुओं को देखना होगा—

१. शरीर को देखना

२. शरीर में होने वाले परिवर्तनों—रसायनों को....

३. शरीर की विद्युत् के आवेशों...

४. उस विद्युत् द्वारा होने वाले मस्तिष्कीय परिवर्तनों....

५. प्रत्येक कोशिका को...

६. उसमें होने वाली प्रक्रिया

७. रथूल शरीर की सीमा को पार कर सूक्ष्म शरीर तैजस् को... और वहाँ से आगे सूक्ष्मतम—कार्मण शरीर को।

○ क्रियात्मक-संतुलित-ज्ञानात्मक-सत्याभिमुख-व्यवहारः आध्यात्मिकाः

आध्यात्मिक व्यवहार का पहला सूत्र—क्रियात्मक व्यवहार,

दूसरा सूत्र—संतुलित व्यवहार,

तीसरा सूत्र—ज्ञानात्मक व्यवहार,

चौथा सूत्र—सत्याभिमुख व्यवहार

○ कायोत्सर्ग-अप्रमाद-भावना-अनुप्रेक्षा-प्रेक्षा आत्मदर्शनोपायाः

अपने आपको देखने का पहला सूत्र—कायोत्सर्ग

दूसरा सूत्र—अप्रमाद

तीसरा सूत्र—भावना

चौथा सूत्र—अनुप्रेक्षा

पांचवां सूत्र—प्रेक्षा

○ श्वास-शरीर-चैतन्यकेन्द्र-प्रेक्षा: वृत्तिनिरोधोपायाः

○ उपवास-ऊनोदरी-आसनानि च

साधना करते समय उत्पन्न वृत्तियों को रोकने के साधन हैं—

१. श्वास को देखना

२. शरीर को देखना

३. चैतन्य केन्द्रों को देखना

४. उपवास करना

५. कम खाना

६. आसन करना।

○ श्वास-स्थूल-सूक्ष्म-कार्मण-शरीरावलम्बनेन द्रष्टुं ज्ञातुं सामर्थ्यम्

देखने और जानने की क्षमता के विकास के लिए—श्वास, स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और अति सूक्ष्म शरीर का आलम्बन लें।

- ० कायोत्सर्ग-आसन-बन्ध-व्यायाम-प्राणायामः शरीरशुद्ध्युपायाः
- ० निस्संगता च

काय शुद्धि के पांच उपाय हैं—कायोत्सर्ग, आसन, बंध, व्यायाम और प्राणायाम। ये पांचों शरीर की प्रवृत्ति से जमने वाले मलों को साफ करते हैं किंतु शरीर में कोरा प्रवृत्ति का ही मल नहीं जमता। उसमें मल जमता है—भावना, आसक्ति और अन्तःकरण के द्वारा। संस्कारों का मल भी जमता है। आज परीक्षण किये जा चुके हैं कि विचारों के विष हमारे नाखूनों और विभिन्न अवयवों में जमा होते हैं। इनकी धुलाई होती है—निस्संगता के द्वारा, अनासक्ति के द्वारा और विचारों के स्नेहीकरण के द्वारा। यह कायशुद्धि का छठा उपाय है।

- ० अधोलोके कुवृत्तयः

सारी बुरी वृत्तियां पेड़ के पास वाले स्थान से लेकर नाभि के स्थान तक या हृदय के स्थान तक जन्म लेती है। इतना ही स्थान है इनका। इस सत्य को समझ लेने पर बदलने की बात समझने में बहुत सरल हो जाती है।

- ० शरीरज्ञानं शरीरकज्ञानाय प्रभवति

साधना के लिए शरीर को जानना भी आवश्यक है। जो बाहर के अधिष्ठान को ठीक से जानता है, वही उसमें रहने वाले को ठीक से जान सकता है। अतः आत्मा के साथ शरीर को भी जानना आवश्यक है।

- ० आहार-नीहार-विहारेभ्य उदरशुद्धिः

- ० ततः स्वास्थ्यम्

सुखी और स्वस्थ जीवन का माध्यम उदर है। जितने रोग होते हैं वे प्रायः उदरविकृति के कारण ही होते हैं। आरोग्य की जड़ उदर है। उदर की शुद्धि का संबंध तीन से हैं। वे हैं—आहार, निहार और विहार।

- ० संवेगात् ग्रन्थिस्रावाः

- ० ततः स्वायत्ततन्त्रिका

- ० ततः हाइपोथेलेमसम्

- ० ततस्तैजसशरीरम्

संवेग का संबंध ग्रन्थियों के स्राव और ग्रन्थियों का संबंध स्वायत्त-तंत्रिका-तंत्र से और स्वायत्त-तंत्रिका-तंत्र का संबंध हाइपोथेलेमस से, हाइपोथेलेमस का संबंध तैजस शरीर से।

- ० नाभ्या हृदये स्थित आत्मपरिणामे समता

- ० दर्शनकेन्द्रे स्थिते ज्ञानम्

जब आत्म परिणाम नाभि-कमल से ऊपर उठकर हृदय कमल की पंखुड़ियों पर जाता है तब समता की वृत्ति जागती है, ज्ञान का विकास होता है। जब आत्म परिणाम दर्शन केन्द्र पर पहुँचता है तब केवल ज्ञान की क्षमता जागृत होती है।

- हस्ते संयमिते स्पर्शनेन्द्रियसंयमः
- पादे संयमिते चक्षुरेन्द्रियसंयमः
- वाचि संयमितायां श्रोत्रेन्द्रियसंयमः

हाथ का संयम होने पर स्पर्शन इन्द्रिय वश में हो जाती है।

पैर का संयम करने से औंख का संयम हो जायेगा। वाणी का संयम करने से श्रोत्रेन्द्रिय का संयम हो जायेगा।

- सम्यगतया जपाद्वाकशुद्धिः
- सत्यतया च

शब्दों का संयोजन और उच्चारण हमारी भावना को प्रभावित करता है। शब्दों की शक्ति, भावना की शक्ति और उच्चारण की शक्ति—इन तीनों को समझना बहुत आवश्यक है। यही वाणी-शुद्धि की प्रक्रिया है। प्रलम्ब नाद इसी का संकेत है।

वाकशुद्धि का दूसरा उपाय है—सत्य का आलम्बन।

- एकाग्रतया मनश्शुद्धिः
- मनश्शुद्धि के उपाय—संकल्प की दृढ़ता और एकाग्रता। एकाग्रता के अभ्यास से संकल्प दृढ़ बनता है। श्वास-प्रेक्षा एकाग्रता का अभ्यास है। जिसने श्वास को देखना प्रारम्भ कर दिया, उसने मन की शुद्धि का क्रम शुरू कर दिया।
- अव्यथिते मनसि ग्रहणशीलतावृद्धिः
- व्यक्ति में ग्रहणशीलता तब बढ़ेगी जब वह तनाव मुक्त होगा। कायोत्सर्ग से तनाव विसर्जित हो जाता है। मस्तिष्क तनाव रहित होता है तब ग्रहण की क्षमता बढ़ जाती है।
- जिते रसे जितम् सर्वम्
- अध्यात्म में सबसे ज्यादा बल जीभ को वश में करने के लिए दिया जाता है।
- मिताहारे सुकरा साधना
- साधना का एक सूत्र है मिताहार।

० संतुलिताहारे च

परिवर्तन का एक कारण है—भोजन। जब भोजन असंतुलित होता है तब आदतें बिगड़ जाती हैं। जब भोजन में विटामिन “ए” की कमी होती है तब स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। भोजन के परिवर्तन से भी स्वभाव बदल जाता है।

० यथाहारस्तथा रसायनम्

० यथा रसायनं तथा मनः

० यथा मनस्तथा विचारः

० यथा विचारस्तथा व्यवहारः

जैसा आहार वैसा रसायन, जैसा रसायन वैसी मस्तिष्क क्रिया, जैसी क्रिया वैसा आचार-व्यवहार, विचार और आदतें। अतः स्वभाव परिवर्तन के लिए आहार शुद्धि अनिवार्य है।

आहार का अर्थ व्यापक है। प्राण का आकर्षण, भाषा का आकर्षण, चिन्तन के परमाणुओं का आकर्षण आदि-आदि सब आहार हैं।

० आसनैः सहिष्णुता

सहिष्णुता की शक्ति को बढ़ाने के लिए आसनों का प्रयोग भी कारगर होता है।

० क्रोधावेगे श्रमे प्रवृत्तिरूपशमकारिणी

जब क्रोध आये या क्रोध का तनाव बढ़े तब किसी न किसी प्रकार के शारीरिक श्रम में लग जाना चाहिए, जिससे कि ध्यान बंट जाने के कारण क्रोध का आवेग कम हो जाये।

० आसनैः वृत्तिपरिवर्तनम्

बदलने के अनेक कारण हैं, हिंसक से अहिंसक होने के अनेक कारण हैं। उन कारणों में योगासन भी एक महत्वपूर्ण कारण है। उनके अभ्यास के द्वारा उस तंत्र को बदला जा सकता है, जो हिंसा का तंत्र है।

० शशाङ्कासनेन एङ्गीनलग्रन्थिनियमनम्

एङ्गीनल ग्लेण्ड उत्तेजना के लिए काफी काम करती है। शशांकासन का प्रयोग करने से एङ्गीनल पर नियंत्रण पाया जा सकता है। यदि प्रतिदिन इस आसन का प्रयोग किया जाये तो बहुत सारी वृत्तियों पर नियंत्रण पाया जा सकता है। यदि हमारा एङ्गीनल ग्लेण्ड पर नियंत्रण होता है तो हिंसात्मक वृत्तियां कम होती हैं। हिंसात्मक उत्तेजनाएं कम हो जाती हैं।

- आसनैः क्षुत्पिपासाजयः
- सहिष्णुता च

आसन के द्वारा भूख और प्यास पर भी विजय पाई जा सकती है।

आसन के द्वारा मानसिक और भावात्मक द्वन्द्वों पर भी विजय पाई जा सकती है।

- रूपान्तरणे सति न नियन्त्रणापेक्षा

बहुत बार ऐसा होता है कि व्यक्ति नियंत्रण करना चाहता है, शोधन करना चाहता है, संकल्प करना चाहता है, अच्छा होना चाहता है, फिर भी वह वैसा हो नहीं पाता। त्याग करता है, प्रत्याख्यान करता है, दृढ़ निश्चय करता है, परन्तु जो अन्तर में बदलना चाहिए वह नहीं बदलता, जो आदत बननी चाहिए वह नहीं बनती। तब व्यक्ति के मन में प्रश्न उभरता है। इसका अच्छा समाधान लेश्या तंत्र के द्वारा मिलता है। यदि हम स्नायविक स्तर पर भी इस प्रश्न को समाहित करना चाहें तो हो नहीं सकता। जब तक शोधन नहीं होता तब तक नियंत्रण की बात सामने आती रहेगी, रूपान्तरण नहीं होगा। रूपान्तरण के बाद नियंत्रण समाप्त हो जाता है, क्योंकि रूपान्तरित व्यक्ति के लिए नियंत्रण की जरूरत नहीं होती।

- हेयं मलं शरीरावरोधकं
- चैतन्यकेन्द्रावरोधकञ्च

साधक शरीरावरोधक मल को ही साफ नहीं करता, चेतना के क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले मलों को भी साफ करता है।

- आत्मनि सति चेतना
- तस्यां प्राणाः
- तेषु श्वासः

श्वास का दर्शन आत्मा का दर्शन है। श्वास वही लेता है जिसमें प्राण होते हैं। प्राण उसमें होते हैं जिसमें चेतना होती है। चेतना उसमें होती है जिसके आत्मा है। आत्मा के निकल जाने पर श्वास भी समाप्त।

- श्वासनिश्वासयोर्मध्येऽश्वासः
- सो ध्यातव्यः

श्वास और निःश्वास—इन दोनों के बीच जो अश्वास का क्षण है, उसे पकड़ना है।

- लघुकायः प्रज्ञावान्

जो प्रज्ञावान् होगा, उसका मांस-शोणित प्रतनु होगा।

- नासाग्रे ध्यानं मनोनिरोधकम्

प्राण वायु का मुख्य केन्द्र है—नासाग्र। यहाँ मन को टिकाते ही प्राण वायु रुद्ध हो जाती है और मन का विलय हो जाता है।

- प्राणायामेन विवेकख्यातिः

प्राणायाम से अन्यत्वबोध, विवेकख्याति या भेदविज्ञान का विकास होता है।

- होरां होराद्वयं वा प्रतिदिनं प्रतिमिनटमेकश्वासनिःश्वासः मनोविकारविनाशकः

एक मिनट में एक श्वास-निःश्वास की स्थिति यदि दिन में एक-दो घंटे तक हो जाए तो हम क्रोध आदि खतरों से बाहर हो जायेंगे। तब क्रोध, आवेश, अहंकार आदि का प्रश्न ही समाप्त हो जायेगा। मनोभाव से उत्पन्न होने वाली शरीर की विकृति का समाधान सहज संभव हो पायेगा।

- समवृत्तिश्वासप्रेक्षया प्राण-नाडीतंत्र-संतुलनम्

समवृत्ति श्वास प्रेक्षा से प्राण का संतुलन, नाड़ी तंत्र का संतुलन सधता है, चंचलता कम होती है।

- दीर्घश्वास आवेशोपशमः

हम लम्बा श्वास लें, आवेश शान्त होगा। दीर्घ श्वास के प्रयोग से ये आवेश—क्रोध, अहंकार और लोभ शांत होंगे। क्रोध तभी आता है जब आदमी छोटा श्वास लेता है या जब क्रोध आता है तो वह श्वास को छोटा बना देता है।

- श्वासे नियन्त्रिते मस्तिष्क-ग्रन्थिस्राव-चयापचयानां संयमः

श्वास नियंत्रण के द्वारा मस्तिष्क तरंग, हार्मोन के स्राव तथा चयापचय की क्रिया पर नियंत्रण किया जा सकता है।

- प्राणायामेन चित्तप्रसादः

- जालन्धरबन्धेन व्यानवायुजयः

- ब्रह्मरन्धे संयमो महाप्राणसाधना

प्राण जितना बाहर रहेगा उससे नाड़ी शुद्धि और चित्त शुद्धि होगी।

व्यान वायु के साथ मन का योग होना है संकल्प-विकल्प। व्यान वायु को जीतने के लिए कंठ में संयम अर्थात् जालंधर बंध।

जीभ को उलटते ही प्राण वायु ऊपर मस्तिष्क में चली जाती है। यह महाप्राण ध्यान का पहला चरण है। महाप्राण में प्राण को एक बिंदु पर सिर में केन्द्रित किया जाता है जिससे कि प्राण की सारी क्रिया समाप्त हो जाये।

○ प्राणापानविषमता रोगः

○ समता स्वास्थ्यम्

प्राण और पान की विषमता यानि शरीर और मन की अस्वस्थता। प्राण और अपान की समता यानि शरीर और मन की स्वस्थता।

○ संवेगविचारयोरन्योऽन्यनियंत्रणकत्वम्

संवेग नियंत्रण, विचार नियंत्रण में सहायक और विचार नियंत्रण संवेग नियंत्रण में सहायक।

○ शरीरमनसोरन्योऽन्यचञ्चलता

शरीर की चंचलता मन की चंचलता, शरीर की स्थिरता मन की स्थिरता है। शरीर की स्थिरता शिथिलीकरण के द्वारा प्राप्त होती है।

○ चञ्चले मनसि प्रयोजनशून्यता क्रमबद्धताभावश्च

जब मन चंचल होता है तब दो स्थितियाँ बनती हैं—प्रयोजन शून्यता और क्रमबद्धता का अभाव।

○ सरले मनसि समस्यासमाधानम्

मन को सरल बनाये बिना मानसिक उलझन कभी नहीं मिट सकती।

○ मनस्यन्तर्जार्जत्यः

○ वाचि वैखरी वाक्

मन और वाणी में इतना सा अन्तर है कि मन शब्द के सहारे चलने वाला विकल्प है और वाक् शब्द के सहारे बाहर झलक पड़ने वाला विकल्प है।

○ आनन्दमनुभूय ब्रह्मचर्यसम्भवो, न तु तदभावे

सुखानुभूति के द्वार को बंद कर कोई आदमी ब्रह्मचारी नहीं बन सकता किंतु आनन्दानुभूति के द्वार को खोलकर ही ब्रह्मचारी बन सकता है।

○ काल्पनिके सुखदुःखे

○ विकल्पजन्ये तयोरत्तीव्रतामन्दते

कल्पना का दूसरा रूप है—विकल्प। यह मान लेना कि मैं सुखी हूँ दुःखी हूँ—यह कल्पना ही तो है। वास्तव में सुख दुःख अनुभव के साथ जुड़ता

है। पीड़ा की तीव्रता और मन्दता विकल्प के आधार पर होती है। जिस प्रकार की विकल्पना होती है, उसी प्रकार की अनुभूति होने लगती है।

○ यद् बुभूषति तन्मयं भवेत्

जो कुछ होना चाहता है—उस चित्त का निर्माण करे। जो स्वस्थ होना चाहता है—वह स्वस्थ चित्त का निर्माण करे। जो ब्रह्मचर्य की साधना करना चाहता है वह ब्रह्मचर्य चित्त का निर्माण करे। (प्रक्रिया)—ऐसा चित्त बनाना जिसमें हमारा ध्येय साकार हो। शरीर को शून्य कर, कल्पना को साकार कर प्राणायाम करे। भावी चित्त की निर्मलता के लिए, उसके साथ संबंध स्थापित करने के लिए रेचक और बाह्य कुंभक महत्वपूर्ण कड़ियाँ हैं।

○ ध्येयतादात्म्ये तद्गुणसङ्क्रमणम्

अपने ध्येय के स्वरूप में आविष्ट हो जाने से गुण संक्रमण होता है। अपने शरीर को शून्य बनाकर ध्येय में घुसना शुरू कर दिया। घुसते-घुसते इतने घुस गये कि ध्येय और ध्याता दोनों एक बन गए। यह गुण संक्रमण का सिद्धांत है।

मूर्छा को तोड़ने का एकमात्र उपाय है—शुद्ध चेतना का अनुभव।

○ प्रतिपक्षभावनया स्वभावपरिवर्तनम्

स्वभाव परिवर्तन का अमोघ उपाय है प्रतिपक्ष भावना।

○ शुभविचारे शुभपुद्गलग्रहणम्

यदि आप प्रसन्नता, मैत्री आदि अच्छी बातों का चिन्तन करते हैं तो अनायास ऐसे इष्ट पुद्गलों का ग्रहण होगा कि मन अच्छा बनने लग जायेगा और चित्त निर्मल होने लगेगा।

○ अन्यत्व-एकत्व-अनित्यत्वानुप्रेक्षाभिः शरीर-समाज-पदार्थमूर्च्छानाशः

मन पर जमने वाले मलों को दूर करने के लिए हमें अनुप्रेक्षा का अभ्यास करना चाहिए। तीन अनुप्रेक्षाएं हैं—अन्यत्व, एकत्व और अनित्य। जब अन्यत्व अनुप्रेक्षा का अभ्यास होता है तब शरीर के प्रति होने वाली मूर्छा नहीं पनपती, मैल नहीं जमता। एकत्व अनुप्रेक्षा से सामाजिक संबंधों में आने वाली मूर्छा कम हो जाती है। अनित्य अनुप्रेक्षा के अभ्यास से पदार्थ के प्रति होने वाली मूर्छा नष्ट हो जाती है।

○ वैराग्येण चित्तशुद्धिः

वैराग्य भावना चित्त शुद्धि का प्रमुख साधन है।

○ स्पष्टकल्पनया रूपान्तरणम्

- मानसिकचित्रनिर्माणेन च

- तत्रैकाग्रता च

रूपान्तरण का पहला चरण है—कल्पना।

कार्य की सफलता के लिए सबसे पहले जरूरी है—स्पष्ट कल्पना।

कल्पना का अगला चरण है—मानसिक चित्र का निर्माण और फिर उस पर एकाग्रता।

- रेचने निषेधात्मकभावविरेचनम्

- पूरके विधायककल्पना

- कुम्भके वीतरागध्यानम्

यह दृढ़ भावना और दृढ़ संकल्प बना रहे कि वीतराग हमारे अन्तःकरण में उत्तर रहा है। विधायक कल्पना रेचन के साथ नहीं, पूरक के साथ। फिर कुम्भक में “तम्मुत्ति” का अनुभव, वीतराग का ध्यान। जैसी हमारी बुद्धि, चित का निर्माण, धारणा वैसा हमारा परिणमन।

- वीतरागे शुक्लवर्णभावना

वीतराग के साथ श्वेतवर्ण की भावना करें। वीतराग के स्वरूप की स्पष्ट धारणा हो।

- स्वरूपसन्धानजिज्ञासायामावेगवशीकरणम्

जिस व्यक्ति में अपने स्वरूप के सन्धान की बात चेतना पर उत्तर आती है, वह व्यक्ति आवेगों में परिवर्तन करने में सक्षम हो जाता है।

- वैराग्य-समता-प्रसन्नता-एकाग्रता: चैतन्यजागरणोद्भवाः

चैतन्य जागरण का पहला बिंदु है—वैराग्य, दूसरा समता, तीसरा प्रसन्नता और चौथा एकाग्रता।

- पदार्थः पदार्थत्वावच्छिन्नो रागद्वेषापगमे

जब मन से प्रियता और अप्रियता का भाव समाप्त हो जाता है तब पदार्थ—पदार्थ मात्र रह जाता है। प्राणी—प्राणी मात्र रह जाता है।

- चेतनाशान्तिश्चेतनयैव निवारयितुं शक्या

वैराग्य को जगाये बिना, पदार्थ के प्रति होने वाले आर्कषण को कम किये बिना, चैतन्य के प्रति आर्कषण पैदा किये बिना इस मानसिक अशान्ति का कोई स्थायी समाधान नहीं है। चेतना की अशान्ति को चेतना के जागरण के द्वारा ही मिटाया जा सकता है।

○ वैराग्येण समता

वैराग्य से जीवन में समता घटित होती है।

○ लेश्याभावयोश्शोधनं, न तु नियन्त्रणम्

भाव और लेश्या के क्षेत्र में नियंत्रण नहीं, शोधन होता है।

○ भावा आध्यात्मिकाः

○ ते जीवनमूलाः

क्रोध, मान, माया, लोभ—ये भाव हैं, आध्यात्मिक हैं। क्षमा आदि भी भाव हैं—आध्यात्मिक हैं। आध्यात्मिक का अर्थ है भीतर से होने वाला। क्रोध और क्षमा दोनों भाव हैं। भाव के आधार पर जब विश्लेषण किया जाता है, तभी सम्पूर्ण जीवन को समझा जा सकता है, और सच्चाई को जाना जा सकता है।

○ वीतरागता भावशुद्धिः

भाव विशुद्धि का अर्थ है—चित्त की निर्मलता, राग-द्वेष मुक्त चित्त की स्थिति। जब भाव शुद्धि घटित होती है तब भीतर से जो संस्कार उभर कर आते हैं, उन सबका उपशमन होता है, वे धीरे-धीरे क्षीण होते जाते हैं।

○ भावे शुद्धे पापान्निवृत्तिः

○ न तत्र कर्मावलेपः

हमें भावतंत्र का शोधन करना चाहिए, जब भावतंत्र का शोधन हो जाता है, तब शरीर हिले-डुले, मन चले, फिर भी हिंसा का भाव न होगा, न हिंसा का व्यापार होगा, न कोई बुरी प्रवृत्ति होगी। मूल करणीय है भाव का शोधन।

○ सज्जनता-दुर्जनता-सङ्गमः व्यक्तौ

हमारी इस दुनिया में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जिसे सर्वथा बुरा कहा जा सके। हम जिसको बुरा मानते हैं, वह अच्छा भी है और जिसे अच्छा मानते हैं, वह बुरा भी है। अच्छाई और बुराई—दोनों साथ-साथ चलती हैं। अन्तर सिर्फ इतना सा होता है कि अच्छाई जब उभर कर सामने आती है तब बुराई नीचे रह जाती है। इसलिए हमें उस बिंदु की खोज करनी है, जहाँ व्यक्ति का रूपान्तरण होता है या जो व्यक्ति को रूपान्तरित करता है। खोज से यह निष्पत्ति हुई कि वह बिंदु है लेश्या। लेश्या एक ऐसा चैतन्य स्तर है, जहाँ पहुंचने पर व्यक्ति का रूपान्तरण घटित होता है। भावों का परिष्कार होता है।

○ निष्फलाः भावशून्याः क्रियाः

श्वास लेने, शरीर का निरीक्षण करने, खाने-पीने, सारी क्रियाओं में साधक भावक्रिया करेगा। आचार्य सिद्धसेन ने लिखा है—“यरमात् क्रिया प्रतिफलन्ति

न भावशून्या:—भावशून्य क्रियाएं फलित नहीं होती, निष्कल होती हैं। आदमी कितना ही प्रयत्न करे, यदि उसका प्रयत्न भावशून्य है तो वह व्यर्थ चला जायेगा। श्वासप्रेक्षा, शरीरप्रेक्षा या चैतन्य-केन्द्र प्रेक्षा—ये सारी प्रवृत्तियाँ बहुत बड़ी नहीं हैं, साधारण हैं। पर इनके साथ जब हमारा भाव जुड़ जाता है तब श्वासप्रेक्षा बहुत मूल्यवान् बन जाती है, तब शरीरप्रेक्षा और चैतन्य-केन्द्र प्रेक्षा बहुत मूल्यवान् बन जाती है। जब रंगों के साथ और लेश्या के साथ भाव संयुक्त होता है तब रंग प्रेक्षा, लेश्या प्रेक्षा का महत्त्व बढ़ जाता है। मूल्य बढ़ता है भाव से। भाव नहीं जुड़ता तो ये सारी क्रियाएं दस—बीस—पचास वर्षों तक करते रहो, निष्पत्ति मात्र शून्य होगी। भाव है हमारी चेतना। जब क्रिया के साथ चेतना ही नहीं है तो उसकी अंधता नहीं मिट सकती।

० भाव उपादानं प्रधानः

० तस्मिन् सति निमित्तान्यकिञ्चित्करणि

उपादान का पहला स्थान है और निमित्त का दूसरा। यदि हम भीतर की भावधारा को मोड़ देते हैं तो वहाँ बाहर के निमित्त बहुत प्रभाव नहीं डाल सकते।

० भावनाधीना स्वतश्चालितक्रिया

रागाशय और द्वेषाशय—ये स्वास्थ्य को सीधा प्रभावित नहीं करते हैं। जब भाव संवेग बनते हैं तब वे स्वास्थ्य को सीधा प्रभावित करते हैं। वे भी सीधा स्वास्थ्य को प्रभावित नहीं कर पाते। वे प्रभावित करते हैं शरीर के माध्यम से। हमारे शरीर का सर्वोत्तम अंग है मस्तिष्क। मस्तिष्क का एक भाग है लिम्बिक सिस्टम और एक भाग है हाइपोथेलेमस। हाइपोथेलेमस भावना के प्रति बहुत संवेदनशील है। वह भावना को पकड़ता है और भावना से होने वाली प्रवृत्तियों पर नियंत्रण करता है। जो भावना पैदा होती है, जो भाव निर्मित होता है उससे हाइपोथेलेमस प्रभावित होता है और वह दूसरे अंगों को प्रभावित करता है। हमारा जो स्वतः चालित नाड़ी-संस्थान है, ग्रन्थितंत्र है, उसको भी भावना प्रभावित करती है। जैसे पृथ्वी पर हमारा कोई अधिकार नहीं है, वैसे ही स्वतःचालित नाड़ी-संस्थान पर भी हमारा कोई अधिकार नहीं है। भोजन कर लिया, उसका परिपाक होता है, हम चाहे उसके प्रति सचेत रहें अथवा सचेत न रहें। स्वतःचालित होने वाली क्रिया पर नियंत्रण है हाइपोथेलेमस का। हमारी जो नाड़ियाँ हैं, ग्रन्थियों के साथ हैं, हारमोन्स बनते हैं, उन पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है। अपना काम करते हैं। भावना को पकड़ता है हाइपोथेलेमस। वह नाड़ी-तंत्र और ग्रन्थितंत्र के माध्यम से शरीर को प्रभावित करता है।

क्रोध की प्रबलता आयेगी तो पित्त तीव्र हो जायेगा। काम, शोक और भय से वायु कुपित होगी। मनोविज्ञान में यह सम्मत है—जब वे संवेग प्रबल होते हैं तब शारीरिक परिवर्तन होते हैं। मेडिकल साईंस की दृष्टि से विचार करें—जब-जब संवेग प्रबल होगा, एड्रीनल ग्लैंडस काफी एक्टिव बन जाएगा। आज दोनों सिद्धान्तों को हम मिलायें तो पित्त का अर्थ करना चाहिए एड्रीनेलीन। मेडिकल साईंस की भाषा में एड्रीनल ग्लैंडस से एड्रीनेलीन का स्राव होता है। वह आयुर्वेद की भाषा में पित्त है। जैसे ही क्रोध का संवेग तीव्र होगा, एड्रीनल ग्लैंड को सारी शक्ति उसमें लगानी पड़ती है, एड्रीनेलीन का अतिरिक्त स्राव करना पड़ता है। यह अतिरिक्त स्राव बीमारी का कारण बनता है।

- प्रवृत्तर्निवृत्तौ वृत्तिशोधनम्
- वृत्तिशुद्धौ प्रवृत्तिर्न पुनरावृत्तिः
- अमूर्छा समता
- तस्यां सत्यामतीन्द्रियं ज्ञानम्

अमूर्छा का विधायक अर्थ है—समता, उसका विकास होने पर अतीन्द्रिय चेतना अपने आप विकसित होती है।

- नियंत्रणं नास्त्यप्रमत्तस्य

जो व्यक्ति अप्रमत्त अवस्था में चला जाता है, उसके लिए नियंत्रण किस काम का। जब तक लेश्या के द्वारा अपने व्यक्तित्व का रूपान्तरण नहीं हो जाता, तब तक नियंत्रण को नहीं छोड़ा जा सकता।

भाव से विचार और विचार से क्रिया। क्रिया स्थूल है, विचार उनसे सूक्ष्म है और भाव उनसे भी सूक्ष्म। क्रिया और विचार दोनों स्नायविक प्रेरणाएं हैं। भाव स्नायविक प्रवृत्ति नहीं, शरीर की प्रवृत्ति नहीं है। वह स्थूल शरीर से परे, फिजिकल बॉडी से परे जो लेश्या शरीर या लेश्या तंत्र है, लेश्या की चेतना है, उसकी प्रवृत्ति है, उसकी क्रिया है। शोधन का, रूपान्तरण का यह पहला बिंदु है। वहाँ पहुँचकर हम रूपान्तरण कर सकते हैं।

- शब्दात्मका मंत्रः शरीरमनसोः शोधकाः

भावों को बदलने का दूसरा शक्तिशाली साधन है—शब्द। मंत्रों की पद्धति इसकी साक्षी है। मंत्रों के द्वारा भावों को बदला जा सकता है। वह मूल्यवान् साधन है। मन और शरीर के साथ मंत्र का बहुत बड़ा संबंध है। इष्ट का जप करो, मंत्र का जप करो, क्योंकि शुभ भाव और शुभविचार तुम्हारे मन

में रहेगा तो अशुभ भाव को जागने का मौका नहीं मिलेगा। इसीलिए मंत्र का आलंबन लिया गया।

० प्रायश्चितं ग्रन्थिविमोचनम्

जब मन में ग्रन्थिपात हो जाता है तब नाना प्रकार की बीमारियाँ सताने लग जाती हैं। उन ग्रन्थियों को खोलने की सबसे महत्त्वपूर्ण विधि है—प्रायश्चित। प्राचीन भाषा में प्रायश्चित और आज की भाषा में मनोविश्लेषण, आत्म-विश्लेषण। जब रोगी आत्म-विश्लेषण करता है तब मनःचिकित्सक उसकी सारी ग्रन्थियों को जान लेता है और उपायों से उन ग्रन्थियां को खोल देता है।

० न नैराश्यं, नाकर्मण्यता

हम लेश्या को बदलें। शक्ति का विकास करें। शक्ति का प्रयोग लेश्या को बदलने में करें। शक्ति के विकास और उसके सही प्रयोग के लिए लेश्या का बदलना जरूरी है। लेश्या-तंत्र को बदलने की एक प्रक्रिया है। सबसे पहले हम चेतना का उपयोग करें। हम सम्यक् दृष्टि से यह विवेक करें—निराशा का भाव, शक्ति को क्षय करने का भाव और अकर्मण्यता का भाव जागता है तो वह व्यक्ति को जीवित ही मृत बना देता है। चेतन का पहला काम है कि व्यक्ति यह भाव करे—मैं निराशावादी नहीं बनूंगा, अपनी क्षमता का उपयोग करूंगा—जब यह भाव बन जाये तब इस भाव को आकार देने के लिए हम अपनी संकल्प शक्ति का उपयोग करें। इस स्थिति में लेश्या को बदलने का सूत्र हस्तगत हो सकता है।

० अशुभ-लेश्यानां शुभलेश्याभिरभिभवः

जब दर्शन केन्द्र पर ध्यान सधता है तब आदतों में परिवर्तन आना प्रारम्भ हो जाता है। कृष्ण, नील और कापोत लेश्या के अशुभ रंगों से होने वाली आदतें तेजो-लेश्या के प्रकाशमय लाल रंग से समाप्त होने लगती हैं, अचानक स्वभाव में परिवर्तन आता है।

० लेश्याध्यानेन शक्तिः रोगमुक्तिश्च

रंग का ध्यान बहुत महत्त्वपूर्ण है। जो व्यक्ति श्वेत वर्ण में अर्ह का ध्यान करता है, वह नाना प्रकार की व्याधियों से मुक्त हो जाता है। उसके शरीर में संचित विष समाप्त हो जाते हैं। जो व्यक्ति अरुण वर्ण का ध्यान करता है, उसमें तेजो-लेश्या के रूपद्वय जागते हैं, उसकी मन की दुर्बलता समाप्त हो जाती है। मन की दुर्बलता को लेश्या-ध्यान के द्वारा मिटाया जा सकता है।

यदि हम चमकते हुए पीले रंग के परमाणुओं को आकर्षित करते हैं तो जितेन्द्रिय होने की स्थिति निर्मित हो जाती है। हम जितेन्द्रिय हो सकते हैं।

पदम् लेश्या का अभ्यास करने वाला व्यक्ति जितेन्द्रिय हो जाता है। कृष्ण और नील लेश्या में रहने वाला व्यक्ति अजितेन्द्रिय होता है।

० नासाग्रे स्वर्णवर्णध्यानेन दूषितभावनापगमः

तंत्र-शास्त्र का एक प्रयोग है—नासाग्र पर स्वर्ण के रंग या श्वेत वर्ण का ध्यान करने से दूषित भावना से मुक्ति मिल जाती है।

० षष्मासं शरीरे रक्तवर्णध्यानेन वीतरागतेति तान्त्रिकाः

० आकाशे स्वशरीरावस्थानध्यानेन च

तंत्र-शास्त्र का एक प्रयोग है—साधक पूरे शरीर को लाल सूर्य जैसे रंग में देखे, ध्यान करे। छह महीने में इस प्रयोग से वीतरागता सिद्ध हो सकती है।

तंत्र-शास्त्र का एक प्रयोग है—साधक अपने शरीर को आकाश में स्थित देखे और शरद-ऋतु की संध्या जैसे रंग का ध्यान करे। छह महीने तक निरन्तर ऐसा ध्यान करने पर वीतराग भाव घटित होने लगता है।

० पीत-रक्त-श्वेतवर्णानां ध्यानेन भावशुद्धिः

अर्ह के ध्यान द्वारा भावों का भी अद्भुत ढंग से परिवर्तन होता है। जब हम गर्भ रंगों (पीला, लाल, श्वेत) का ध्यान करते हैं और उनसे तन्मयता प्राप्त करते हैं तब हमारे भाव परिवर्तित हो जाते हैं।

० रश्मिविकिरणलक्षणः पदार्थः

० तस्मात्तस्याभामण्डलम्

पदार्थ का लक्षण ही है रश्मियों का विकिरण करना। हर पदार्थ से रश्मियां निकलती हैं। रश्मियां ओरा बन जाती हैं।

० जीवस्य आभामण्डलं परिवर्तिष्यु, न त्वजीवस्य

पदार्थ में—अजीव में भी ओरा होती है। किंतु उसकी ओरा निश्चित होती है, वह बदलती नहीं। जीव की ओरा अनिश्चित होती है, वह बदलती रहती है।

० चेतनया तैजसशरीरं सक्रियम्

० तेन विद्युच्छरीरं

० तेन किरणविकिरणम्

० तेनाभामण्डलम्

चेतना हमारे तैजस् शरीर को सक्रिय बनाती है। जब यह विद्युत् शरीर सक्रिय होता है तब वह किरणों का विकिरण करता है। ये विकिरण व्यक्ति के शरीर के चारों ओर वलयाकार में घेरा बना लेते हैं। यह भावमण्डल है। जैसा भावमण्डल होता है वैसा ही आभामण्डल बनता है। भावमण्डल विशुद्ध होगा तो

आभामण्डल भी विशुद्ध होगा। भावमण्डल मलिन होगा तो आभामण्डल भी मलिन होगा, धब्बों वाला होगा। यह काले रंग का होगा, विकृत होगा, अंधकारमय होगा। सारे चमकीले वर्ण समाप्त हो जायेंगे। भावधारा को, परिणाम धारा को बदल कर आभामण्डल को बदल सकते हैं।

लेश्या के सिद्धांत में बताया गया है कि कृष्ण-लेश्या नील-लेश्या के भावों को प्राप्त कर नील-लेश्या में बदल जाती है। नील-लेश्या कापोत-लेश्या के भावों को प्राप्त कर कापोत-लेश्या में बदल जाती है। इसी प्रकार कापोत-लेश्या तेजो-लेश्या में, तेजो-लेश्या पद्म-लेश्या में और पद्म-लेश्या शुक्ल-लेश्या में बदल जाती है।

हम लेश्याओं का परिवर्तन कर अपनी वृत्तियों को बदल सकते हैं, उनका संशोधन कर सकते हैं। इस प्रक्रिया से हम काम-केन्द्र का भी शोधन कर सकते हैं। उसे ऐसा निर्मल बना सकते हैं कि वहां काम और क्रोध की वृत्तियां आयें पर जाग न पाएं, सक्रिय न बन पाएं। वह इतना निर्मल बन जायेगा कि वृत्तियां उभरेंगी ही नहीं।

० पीतवर्णध्यानेन स्मृतिवृद्धिः

धारणा शक्ति कमजोर हो तो मस्तिष्क में पीले रंग का ध्यान कीजिए।

० श्वासे वर्ण-रस-गंध-स्पर्शा आभामण्डलः

हमारे रंग श्वास के साथ जुड़े हुए हैं। हम श्वास लेते हैं। हमें पता नहीं है कि गृहीत श्वास में कौनसा रंग है। हमारा श्वास कभी काले रंग का होता है, कभी हरे रंग का होता है, कभी सफेद रंग का होता है। सब रंगों का होता है श्वास। हम जो श्वास लेते हैं वह कभी खट्टा होता है, कभी मीठा होता है, कभी उसमें तीखापन होता है। बाहर में जितने रस हैं, हमारे श्वास में भी वे रस हैं। कभी हमारा श्वास सुगन्ध से भरा होता है और कभी हमारा श्वास दुर्गन्ध से भरा होता है। कभी हमारा श्वास मृदु स्पर्श से भरा होता है और कभी हमारा श्वास कठोर स्पर्श का होता है। ये सारी बातें श्वास के साथ जुड़ी हुई हैं। इन सारे पुद्गलों से सम्बन्धित है आभामण्डल। इन सबके आधार पर देखें श्वास कैसे लिया? और सूक्ष्मता में जायें, विश्लेषण करें—रविवार का श्वास कैसा होगा? रविवार को हम सूर्य की कास्मिक रेज़ ले रहे हैं, सोमवार को हम चन्द्रमा की कास्मिक रेज़ ले रहे हैं। इन सबके साथ ग्रहों का संबंध है। ज्योतिष में कहा जाता है कि ग्रहों का प्रभाव होता है। ग्रह सीधा प्रभाव नहीं डालते। भाव मन पर प्रभाव डालते हैं, शरीर पर प्रभाव डालते हैं।

- कफनाशेन लोभनाशः

- वायुनाशेन कामवासनाक्षयः

बीमार व्यक्ति को यदि कफशामक औषधि दी जाती है तो उसमें लोभ की वृत्ति कम हो जाती है। वायुशामक औषधियों से काम-वासना शांत होती है।

- उपवासेन विषविरेचनम्

उपवास इसलिए किया जाता है कि शरीर का रसायन बदल जाए, रसायनों की संरचना बदल जाए। खाते-पीते विषेले रसायन पैदा हो जाते हैं, संचित हो जाते हैं और वे रसायन मन में विकृति पैदा करते हैं। मन में जो विकार उत्पन्न होते हैं वे विकार अनायास ही उत्पन्न नहीं होते, वे हमारे शारीरिक विकारों के कारण उत्पन्न होते हैं।

- प्राणकेन्द्रसिद्धौ प्रमादमुक्तिः

जो व्यक्ति प्राण-केन्द्र को साध लेता है, वह प्रमाद से छुट्टी पा लेता है। उसके मन में अरति नहीं होती, आर्त-भावना कम हो जाती है। उसका मन विपदाओं से मुक्त हो जाता है। पदार्थनिष्ठ रस समाप्त होने लगता है। वही रस बचता है, जो जीवन के लिए अनिवार्य होता है।

- कषायाः शमनीया इत्यध्यात्मम्

- ग्रन्थिस्रावाः परिवर्तनीया इति विज्ञानम्

- अहिंसया कलहशान्तिरित्यध्यात्मम्

- ऊर्ध्वीकरणेनेति विज्ञानम्

- शुभेन पापनिवृत्तिरित्यध्यात्मम्

- आलोकितवर्णध्यानेनेति विज्ञानम्

अध्यात्म की भाषा—

कषाय चेतना का शमन किए बिना अति-चेतना को नहीं जगाया जा सकता।

विज्ञान की भाषा—

अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के स्राव को बदले बिना व्यक्तित्व को नहीं बदला जा सकता।

अध्यात्म की भाषा—

अहिंसा का विकास किये बिना संघर्ष और युद्ध के उन्माद को नहीं मिटाया जा सकता।

विज्ञान की भाषा—

ऊर्जा की ऊर्ध्व यात्रा किये बिना स्वतःचालित नाड़ी संस्थान के साथ सम्पर्क स्थापित किये बिना विश्वमैत्री और सामाजिक संतुलन की स्थापना नहीं की जा सकती।

अध्यात्म की भाषा—

अच्छे भावों का विकास किये बिना भय और चिंता को नहीं मिटाया जा सकता।

विज्ञान की भाषा—

प्रकाश वाले रंगों का ध्यान किये बिना भय और चिंता को नहीं मिटाया जा सकता।

- **व्यवहारः कायिकः**
- **विचारो मानसिकः**
- **भावः लेश्यगताः**

हमारे व्यक्तित्व के तीन पहलू हैं—भाव, विचार और व्यवहार। व्यवहार हमारी कायिक प्रवृत्ति है, कायिक आचरण है। विचार हमारी मानसिक प्रवृत्ति है। ये दोनों स्नायुओं से सम्बन्धित हैं। मन भी स्नायविक प्रवृत्ति है और व्यवहार भी स्नायविक प्रवृत्ति है। भाव स्नायविक प्रवृत्ति नहीं है—वह लेश्या केन्द्र से होने वाली क्रिया है।

○ आवरणं न रूपान्तरणम्

व्यक्तित्व का आवरण और व्यक्तित्व का रूपान्तरण—ये दो बातें हैं। व्यक्तित्व पर आवरण तो जब चाहें तब डाला जा सकता है। जो व्यक्ति जैसा है—वैसा कम दिखना चाहता है। वह बहुत बार अपने व्यक्तित्व पर आवरण डाले रहता है, जिससे कि दूसरा उसे पहचान न सके, उसके असली रूप को जान न सके।

○ सापेक्षतया शान्तिः

सापेक्षता से मन की शांति को बल मिलता है। एकांगी दृष्टिकोण से अशांति निष्पन्न होती है।

○ सामज्जस्य-समन्वय-व्यवस्था-सहिष्णुता-विनय-वात्सल्यैः शान्तिसमूहितिः

सामंजस्य, समन्वय, व्यवस्था, सहिष्णुता, विनय और वात्सल्य—इन पांच बातों पर मनन करें तो हम अपने लक्ष्य तक पहुंच पायेंगे, पारिवारिक शान्ति की बात सधेगी।

○ चेतनापरिष्कारोऽशान्तिहेतुः

अशान्ति का कारण है—चेतना का अपरिष्कृत होना।

○ अमनस्के केवलं प्रकाशः

मानसिक विकास की अन्तिम भूमिका है अमनस्क योग की भूमिका। यहाँ मन समाप्त हो जाता है। व्यक्ति वहाँ पहुँच जाता है जहाँ कोई विचार नहीं, कल्पना नहीं। केवल प्रकाश और केवल चेतना।

○ ततः समाधिः

○ ध्यानं सेन्द्रियं समनस्कं बहिर्मुखं सविषयञ्च

○ समाधिः तद्विपरीतः

ध्यान और समाधि में अन्तरः—

ध्यान—सेन्द्रिय और समनस्क वित्त दशा

समाधि—अनिन्द्रिय और अमनस्क वित्त दशा

ध्यान में बाहरी जागरूकता भी होती है।

समाधि में केवल आन्तरिक जागरूकता।

ध्यान में शब्द आदि विषयों का बोध होता है।

समाधि में भीतरी शब्द आदि विषय भी निरुद्ध हो जाते हैं।

○ सबीजः समाधिः साधनम्

○ निर्बीजः साध्यः

समाधि साधन भी है और समाधि साध्य भी है। जब समाधि बीज रूप में होती है, तब वह साधन होती है और जब वह प्रस्फुटित होती है, समाधि साध्य बन जाती है।

○ ततः केवलं ज्ञानम्

○ ततः निर्विकल्पचेतना

समाधि का पहला बिंदु है केवल ज्ञान, केवल दर्शन और अन्तिम बिंदु है निर्विकल्प चेतना।

○ ततोऽहिंसादयः

राग-द्वेष मुक्त चेतना का क्षण ही अहिंसा का, सत्य, अचौर्य आदि का क्षण है।

○ शैलेशी तरङ्गातीतावस्था

हम यह कल्पना न करें कि दो-चार घंटे की ध्यान की स्थिति से तरंगातीत अवस्था प्राप्त होती है। व्यक्ति शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है तब उसे तरंगातीत अवस्था प्राप्त होती है।

○ नाहं परतंत्र इति समाधिः

आत्मा की स्वतंत्रता का बोध—मैं परिस्थिति परिचालित यंत्र नहीं हूं।

○ तरङ्गैः सुखं न पदार्थः

विज्ञान भी मानता है कि पदार्थ के भोग में सुख नहीं होता। जब मस्तिष्क में अल्फा तरंगें उत्पन्न होती हैं तब सुख और वे तरंगें तब उत्पन्न होती हैं जब व्यक्ति संयम, समाधि या ध्यान की स्थिति में होता है।

○ अकर्मणा वृत्तिशोधनम्

कर्म अकर्म तब बनता है, जब वृत्ति का शोधन होता है। वृत्ति का शोधन मनुष्य ही कर सकता है, पशु नहीं।

वृत्ति का शोधन—प्रवृत्ति-निवृत्ति। प्रवृत्ति दोनों क्रमों में है। वह दोनों के मध्य है। वृत्ति के बाद भी प्रवृत्ति होगी और वृत्ति के शोधन के बाद भी प्रवृत्ति होगी। किंतु जहाँ वृत्ति का शोधन हो गया, वहाँ प्रवृत्ति होगी और बाद में वास्तविक निवृत्ति होगी, पुनरावृत्ति नहीं होगी।

अकर्म की साधना से वृत्ति शोधन और वृत्ति के शोधन से आवृत्तियों की समाप्ति होती है।

॥ इति रूपान्तरणप्रक्रियाधिकरणे मनःपादः ॥

* * * * *

अन्तरायाधिकरणे शारीरिकबाधापदः

० बाधका इत्यधिकृत्य

० शरीरं, मनो भावनाश्चापरिष्कृताः

शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक—ये समस्याएं आत्मा के स्वारथ्य में बाधक हैं।

० देहाभिमानज्ञ

जिस मनुष्य में देहाभिमान विद्यमान है, वह आत्मा के स्वरूप का यथार्थ विश्लेषण नहीं कर सकता। जो साधक देहाभिमान से मुक्त होकर आत्मा का साक्षात्कार कर सकता है, उसके अनुभव ही उस रिति में सहायक बनते हैं।

आप सुखासन में बैठ जाइये। दोनों नथुनों के नीचे ऊपर के होठ पर मन को केन्द्रित कीजिए। वहाँ श्वास के भीतर जाने और बाहर आने को मानस चक्षु से देखिए। दस मिनट तक इस साधना क्रिया को चलने दीजिए। उसके पश्चात् अनुभव कीजिए कि वहाँ पर चैतन्य का स्पंदन हो रहा है। इस अनुभव में जितना लम्बा समय लगा सकें, उतना ही अनुभव स्पष्ट हो जाएगा।

जब चैतन्य के स्पंदन का स्पष्ट अनुभव होने लगे तब धारणा को मोड़ देना आवश्यक होगा। आप जिस चैतन्य के स्पंदन का अनुभव करते हैं, वह शुद्ध चैतन्य नहीं है। वह मानस स्तरीय है। आप गहराई में जाने की धारणा कीजिए और शुद्ध चैतन्य के साक्षात्कार का अनुभव कीजिए। इस भूमिका में इन्द्रिय और मन के अतीत चैतन्य का अनुभव हो सकेगा।

० बहिर्मुखता च

० चञ्चलता च

जो व्यक्ति इड़ा और पिंगला से श्वास लेता है वह व्यक्ति बहिर्मुख होता

है। जिसका सुषुम्ना का मार्ग नहीं खुलता, उसका मन, इन्द्रियां अन्तर्मुख नहीं होती, चंचलता समाप्त नहीं होती।

- **मनोविकाराश्च**
- **निषेधात्मका भावाश्च**

जो व्यक्ति अपने मनोभावों का शिकार होता है, वह बीमारियों को निमन्त्रित करता है।

भय, घृणा, क्रोध, कपट आदि निषेधात्मक भाव साधना के विघ्न हैं।

- **ऊर्जापिव्ययश्च**

भगवान् महावीर ने साधना के प्रथम सूत्र के रूप में अनशन का विधान किया। इसका अर्थ है—ऊर्जा का कम खर्च हो। जो हो वह मुख्यतः चेतना के विकास के लिए मस्तिष्क में ही हो। मस्तिष्क की ऊर्जा का पेट के लिए उपयोग करना चेतना के विकास का अवरोध है और पेट की ऊर्जा का मस्तिष्क के लिए उपयोग चेतना के विकास की साधना है।

- **अब्रह्म च**
- **रसलोलुप्ता च**

जीवन रस को छूसने वाली दो बातें हैं—अब्रह्मचर्य और जीभ की लोलुप्ता। इन दोनों की उच्छृंखलता सारे जीवन के रस को निचोड़ डालती है।

- **त्वरा च**
- **प्रमादश्च**

साधना के क्षेत्र में जल्दबाजी उतावलापन बाधा है। साधना के विघ्न हैं—प्रमाद, अकर्मण्यता, आलस्य।

- **जनसङ्कुलता च**

सामग्री का हमारे जीवन में बहुत बड़ा स्थान है। आत्मा की प्रत्येक प्रवृत्ति उससे प्रभावित है। समुदाय भी एक सामग्री है। मन विशाल होता है तो समुदाय विघ्न नहीं बनता। मन छोटा होता है तो समुदाय बाधक बन जाता है। ये दोनों मन की उष्ण और शीत ग्रन्थियों के ही परिणाम हैं।

- **क्रियाप्रतिध्वनिश्च**

प्रवृत्ति समाप्त होने के बाद भी उसकी प्रतिध्वनि समाप्त नहीं होती। ये प्रतिध्वनियां हमारी शक्ति को खत्म करती हैं। जहाँ केवल दर्शन होता है वहाँ प्रतिध्वनि—प्रतिक्रिया नहीं होती।

○ अपानवायुविकृतिश्च

अपानवायु के विकृत होने से मन में अप्रसन्नता होती है और उसकी शुद्धि से प्रसन्नता होती है।

○ व्यवस्थाभावश्च

○ समन्वयाभावश्च

जहाँ व्यवस्था का अभाव है, वहाँ लडाई-झगड़े का अवतरण निश्चित है। जिस परिवार का मुखिया समझदार होगा, वह व्यवस्था पर सबसे पहले ध्यान देगा।

व्यक्ति समझौता करना नहीं जानता है तो छोटी भी घटना भी गांठ बन जाती है। जब तक गांठ खुलती नहीं, समस्या सुलझती नहीं है। समझौते के बिना दुनिया में कभी काम नहीं चलता।

○ असहिष्णुता च

सामंजस्य, समझौता और व्यवस्था—इन तीनों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण सूत्र है—सहिष्णुता। यह अहिंसा, पारस्परिक सौहार्द और शांत-सहवास का आधार बनती है। जब तक सहिष्णुता का विकास नहीं होता, तब तक शांत-सहवास की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

○ कलहश्च

कलह के अनेक कारण हैं। उनमें एक है—रुचिभेद। भोजन में रुचि भेद बहुत होता है। रुचि भेद न हो तो वह कलह निवारण का एक उपाय है, प्रयोग है। कलह का दूसरा कारण है—चिन्तन का भेद। एक व्यक्ति कुछ सोचता है और दूसरा उसके ठीक विपरीत सोचता है। हर व्यक्ति में सोचने की भिन्नता होती है। चिन्तन का जहाँ भेद होता है, वहीं कलह की आशंका होती है। जब चिन्तन का भेद उभर कर सामने आए वहाँ मौन का प्रयोग होना चाहिए। व्यक्ति जब मौन हो जाता है तब भेद आगे नहीं बढ़ता।

कलह का तीसरा कारण है—आग्रह। बात की पकड़ इतनी हो गई है कि टूट भले ही जाएं पर उसमें ढील नहीं दी जा सकती। कुछ भी हो जाए, मैं अपना आग्रह नहीं छोड़ूँगा, ऐसी स्थिति में कलह बढ़ता ही चला जाता है।

इस आग्रह वृत्ति के कारण कलहपूर्ण वातावरण पैदा हो जाता है। तपस्या का प्रयोग, मौन का प्रयोग, मनोगुप्ति और वाक्गुप्ति का प्रयोग—ये सब महत्त्वपूर्ण प्रयोग हैं। सारे प्रयोग शांत-सहवास से सुरभित होते हैं। ये सारे प्रयोग शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व, शांतिपूर्ण जीवन को बढ़ाने वाले होते हैं तब तो इनकी सार्थकता है, अन्यथा इनका फलित सीमित हो जाता है। जीवन में

निरन्तर अशांति रहे, संघर्ष रहे और व्यक्ति ध्यान भी करता जाए, मनोगुप्ति और वचनगुप्ति भी करे, मौन भी करे तो क्या प्रयोजन? उनका फलित क्या होगा? ऐसी स्थिति में इन प्रयोगों का अर्थ भी कम हो जाता है।

कलह का चौथा कारण है—स्वार्थवृत्ति। जहाँ स्वार्थ टकराता है वहाँ कलह पैदा हो जाता है। मौन से इसको टाला जा सकता है।

कलह का पांचवाँ कारण है—सच्चाई का ज्ञान न होना, यथार्थ की जानकारी न रहना। सच्चाई को न जानने के कारण गलतफहमी रहती है और इससे कलह उभर आता है।

○ अहंकारश्च

अहंकार की भी पारिवारिक विघटन में कम भूमिका नहीं है। एक व्यक्ति समूचे परिवार की स्थिति को गड़बड़ा देता है। अहंकारी व्यक्ति दूसरे की बात को सुनता भी नहीं है, मानता भी नहीं है।

○ लोभश्च

सामुदायिक चेतना के न जागने में, पारिवारिक विघटन में लोभ का हाथ भी कम नहीं है।

○ आवेशाश्च

जब तक हम तीन प्रकार के आवेश—क्रोध का आवेश, अहंकार का आवेश, लोभ के आवेश को कम करना नहीं जानते तब तक सामुदायिक जीवन की बात सोची नहीं जा सकती।

○ विपरीतदिनचर्या च

आज का आदमी या तो उठते ही चाय पीना पसंद करता है, अखबार देखना पसंद करता है या फिर रेडियो सुनना पसंद करता है। अखबार में उसे निषेधात्मक भावों को जगाने की सामग्री अधिक मिलती है और तब आदमी का मन पूरे दिन तक उन्हीं की उधेड़बुन में बीत जाता है। आज के अखबारों में मारकाट, हत्या, बलात्कार, चोरी, डकैती, लूट-खसोट या एक्सीडेंटों के समाचार अधिक होते हैं। वह रोमांचकारी घटनाओं से भरा रहता है। ये सारी निषेधात्मक भावों की घटनाएं हैं और ये घटनाएं पढ़ने वालों में निषेधात्मक भावों की सृष्टि करती हैं। आदमी पूरे दिन उन्हीं के प्रभावों में रहता है। आज के आदमी का यह है प्रभु-भजन, यह है आलोचना की प्रक्रिया और यह है ऑकार का जप।

○ असंविभागश्च

उपभोग का सामाजिक न्याय है—संविभाग, बांट-बांट खाना।

- मानसिकान्तराया इत्यधिकृत्य
- दौर्मनस्थम्
- दुःखम्
- तच्च कल्पना-अभाव-वियोग-परिस्थिति-जन्यम्
- रागद्वेषौ च
- बहिर्मुखता च

दुःख दौर्मनस्थ—ये चंचलता के परिणाम हैं।

राग और द्वेष विचारों के घटक हैं।

मैंने दुःख को चार भागों में विभक्त किया है— १. कल्पनाजनित

२. अभावजनित ३. वियोगजनित ४. परिस्थितिजनित दुःख।

दुःख का मुख्य हेतु है—बहिर्मुखता।

- विषयासक्तिश्च
 - कषायाश्च
 - तत्त्वसंशयश्च
 - आत्माज्ञानञ्च
 - प्रमादश्च
- अध्यात्म की भाषा में वृत्तियाँ पांच हैं—
१. विषय का आवेश
 २. कषाय का आवेश
 ३. तत्त्व की अश्रद्धा
 ४. आत्मा का अज्ञान
 ५. प्रमाद।

- विचाराश्च
- ते च परिवेशोद्भवाः

ये विचार क्यों आते हैं ? ये विचार कहाँ से आते हैं? यह खोजना चाहिए। विचार के परमाणु आकाश-मंडल में चक्कर लगाते रहते हैं। अरबों-खरबों व्यक्तियों के विचार आज भी आकाश-मण्डल में व्याप्त हैं। जब व्यक्ति इन विचारों की रेंज में आता है तब उसके मन में भी यह विचार उत्पन्न हो जाता है और वह विचार उस व्यक्ति का बन जाता है। हम यह न मानें कि हम जो सोचते हैं वे सब हमारे विचार होते हैं। वे हमारे विचार नहीं होते, वे दूसरों के विचार होते हैं। हम दूसरों के विचारों का भार ढोते हैं।

○ **रागोदभवाश्च**

जो विचार रागात्मक भाव की प्रेरणा से प्रेरित होकर आता है उसे रोकना है।

○ **विकल्पाश्च**

मन में जितने विकल्प होते हैं उतना ही मन अशान्त होता है

○ **मनसोऽतिचपलता च**

मन की ज्यादा गति ही मन की अशांति है।

○ **सा च मोहविपाकोद्भवा**

○ **श्वासजन्या च**

चंचलता के दो हेतु हैं—श्वास और मोहकर्म का विपाक। श्वास बाहरी कारण है और मोहकर्म का विपाक भीतरी कारण है। जब भीतर में मोह के परमाणु सक्रिय होते हैं तब चंचलता बढ़ जाती है। यह चंचलता नाड़ी-संस्थान में अभिव्यक्त होती है। नाड़ी-संस्थान की चंचलता के लिए प्राण का चंचल होना जरूरी है और प्राण की चंचलता के लिए श्वास का चंचल होना जरूरी है। काम, क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, अहंकार आदि की तरंगें श्वास की चंचलता के बिना नहीं उभरती हैं।

○ **अपरिष्कृतेच्छा च**

दूसरों को क्षति न पहुँचायें। इच्छा के परिष्कार के बिना सभ्य समाज का निर्माण नहीं हो सकता।

कभी-कभी परिष्कृत इच्छाएं भी खतरा पैदा कर देती हैं। समाज द्वारा यह मान्य है कि पति-पत्नी का संगम हो सकता है। यह व्यक्ति की परिष्कृत इच्छा का नियमन है किंतु आदमी यदि इसको सर्वमान्य बनाकर इच्छापूर्ति करता चला जाए तो वह वासना के भंवर में गिरकर अनेक रोगों का शिकार हो सकता है। उसकी सारी कर्मजा शक्ति नष्ट हो सकती है।

इसलिए परिष्कृत इच्छा का भी संयम और अनुशासन आवश्यक होता है।

○ **रागश्च**

आवेगों को मिटाने का उपाय न करके उसके मूल प्रियता को मिटायें तभी समस्या का स्थायी समाधान हो सकता है।

○ **अतिविन्तनञ्च**

मानसिक तनाव का एक कारण है—अधिक सोचना। हम उतना ही सोचें

जितना आवश्यक है। जरूरत पूरी होते ही सोचने का दरवाजा बंद कर दें। मन शांत हो जायेगा।

○ त्वरा च

मानसिक अस्त-व्यस्तता का एक कारण है—जल्दबाजी। मनुष्य में धृति नहीं है। वह प्रतीक्षा करना नहीं चाहता।

○ असाहिष्णुता च

तनाव का तीसरा कारण है—सहिष्णुता की कमी। मानसिक असंतुलन का एक कारण है—उदासी। उदास व्यक्ति अपनी क्षमताओं का ठीक उपयोग नहीं कर पाता। उसकी शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं।

पारिवारिक एवं सामाजिक वातावरण भी उदासी के मुख्य हेतु हैं।

○ दुराग्रहश्च

मानसिक असंतुलन का एक कारण है—दुराग्रह। आग्रह बहुत असंतुलन पैदा करता है। पक्षपात भी मानसिक असंतुलन का एक कारण है। इससे अपना संतुलन भी बिगड़ता है और सामने वाले का संतुलन भी बिगड़ता है। मानसिक असंतुलन का एक कारण है—नाड़ी की दुर्बलता। नाड़ी-संरथान की दुर्बलता, पृष्ठरज्जु की दुर्बलता और मस्तिष्क की दुर्बलता—ये सब असंतुलन के कारण बनते हैं।

○ असंयमश्च

○ लोलुपता च

पदार्थ की प्रतिबद्धता जैसे-जैसे बढ़ती है वैसे-वैसे मन भारी होता जाता है। टूटने लग जाता है। लोभ और काम वासना जितनी प्रबल होगी, तनाव उतना ही अधिक होगा। असंयम तनाव का जनक है। संयम के बिना तनाव को मिटाया नहीं जा सकता।

○ कामवासना च

जब हमारी चेतना काम केन्द्र की ओर अधिक बढ़ने लगती है तब सहज ही ज्ञानकेन्द्र की शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं। जो साधक अपने ज्ञान का विकास चाहता है, जो निर्मलता चाहता है, उसे चेतना के प्रवाह को मोड़ना होगा अर्थात् मन को ऊपर की ओर ले जाना होगा।

○ प्रियवियोगश्च

○ अप्रियसंयोगश्च

○ असहायता च

○ संघर्ष-संदेह-भय-द्वेषेष्या-क्रूरता-क्रोध-निराशाश्च

○ तेऽसंतुलनहेतवः

अनुकूलता का वियोग, प्रतिकूलता का संयोग, असहायता की अनुभूति, संघर्ष, संदेह, भय, द्वेष, ईर्ष्या, क्रूरता, क्रोध और निराशा ये सब मन में असंतुलन उत्पन्न करते हैं। असंतुलित मन में अशांति पैदा होती है।

○ मूर्च्छा च

मूर्च्छा के कारण व्यक्ति बुरे विचारों, बुरी भावनाओं और बुरे आचरणों से भर जाता है। जब जागृति हस्तगत होती है तब पवित्र विचार, पवित्र भावनाएं और पवित्र आचरण अपने आप बाहर आने लग जाते हैं।

द्वंद्वचेतना समस्याओं की जननी है। जब तक द्वंद्व-चेतना है तब तक ज्ञान, दर्शन और शुद्ध शक्ति का उपयोग कार्यकर नहीं होता। मूर्च्छा उत्पादक केन्द्र है। वह आवेग को उत्पन्न करती है। द्वंद्व को उत्पन्न करती है। इस स्थिति में ज्ञान, दर्शन और शक्ति के होने पर भी दुःख समाप्त नहीं होता।

साधना का विघ्न है—अधृति।

मूर्च्छा मोह के स्पन्दन सबसे अधिक होते हैं—

मोह के स्पन्दन हैं—आवेग, भय, शोक, धृणा, वासना और विषाद।

ये प्रतिपक्षी संवेदनों से निरस्त हो जाते हैं।

समस्या का मूल है—मनोबल की दुर्बलता।

समस्या क्या है—शरीर शास्त्र और मन शास्त्र की भाषा में—तनाव, कर्मशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र की भाषा में—कर्म विपाक। समाजशास्त्र की भाषा में—परिस्थिति और वातावरण। अर्थ की भाषा में—उत्पादन कम, खपत अधिक, आय कम, आवश्यकता अधिक।

○ प्रतिक्रिया च

वह पराजय को निमंत्रण देता है जो क्रिया से विमुख है। प्रतिक्रिया के सम्मुख चलता है।

○ हिंसा च

हिंसा और हिंसा—परस्पर सजातीय हैं। इसलिए हिंसा हिंसा को मारती नहीं, उबारती है उसे परम्परा पात में प्रवाहित करती है।

○ आत्मन्यविश्वासश्च

आत्म-विश्वास जितना शून्य होता है उतना ही उसमें परिस्थिति को अवकाश मिलता है।

० दृष्टिविपन्नता च

जो दृष्टि से विपन्न है, उसके लिए चहुँ ओर अंधकार है और जो दृष्टि से सम्पन्न है, उसके लिए चहुँ ओर प्रकाश ही प्रकाश है।

० स्वानुभूतेरभावश्च

जब-जब शास्त्रीय वाक्यों की दुहाई बढ़ती है और आत्मानुभूति घटती है तब धर्म निस्तेज हो जाता है। जब आत्मानुभूति बढ़ती है और शास्त्रीय वाक्यों की दुहाई घटती है तब धर्म तेजस्वी हो जाता है।

० सकामता च

धर्म जब-जब कामना की पूर्ति का साधन बनता है, तब-तब उसके आस-पास विकारं धिर आते हैं। विकारों से धिरा हुआ धर्म भूत से भी अधिक भयंकर होता है।

० अभिमानञ्च

चित्त की असमाधि का हेतु है—अभिमान । मनुष्य जितना परिग्रही होता है, उतना ही अभिमानी होता है। परिग्रह का अर्थ है—मूर्च्छा, आसक्ति ।

० मनोविकाराश्च

मनोविकार का हेतु है मन की मलिनता । प्रतिदिन मन पर मैल जमता है, उस पर रजें चिपट जाती है। मन के छिद्र रुक जाते हैं। जिनके द्वारा हम स्वरूप विचारों को ले सकते हैं वे सब रोम-कूप बंद हो जाते हैं।

० आत्मप्रदर्शनञ्च

मानसिक विकृतियों की कुछ धाराओं में एक है बड़प्पन की भावना का प्रदर्शन । प्रत्येक मनुष्य अपने आपको बड़ा दिखाना चाहता है। वह सोचता है—मैं बड़ा हूँ और सब छोटे हैं।

० ईर्ष्या च

ईर्ष्या भी मानसिक विकृति है। दूसरे की प्रगति देखी और मन में एक सिकुड़न पैदा हो गयी। जब यह होता है तब दूसरे की प्रगति पर दिल जलता है, कुँझता है और जल भुनकर राख हो जाता है।

० यथार्थापलापश्च

सबसे बड़ी बीमारी है—सच्चाई को झुठलाने की मनोवृत्ति। इससे मानसिक तनाव पैदा होता है।

समाज के क्षेत्र में एकत्व का आरोपण और एकत्व की सीमा में समाज का आरोपण करना सच्चाई को झुठलाना है।

० इच्छापूर्तीं बाधा च

क्रोध की उत्पत्ति के कारण—१. इच्छापूर्ति में बाधा, २. इच्छापूर्ति में असहयोग, ३. मनचाहा न होना।

० भयञ्च

भय की पहली प्रतिक्रिया है—रोना।

भय की दूसरी प्रतिक्रिया है—बुढ़ापा। भय के कारण आदमी बूढ़ा बनता है। जो अभय होता है, वह बूढ़ा नहीं होता। ज्यों-ज्यों अवस्था बढ़ती है, केश सफेद होते हैं। यह कोई बुढ़ापा नहीं है। वास्तव में शक्तियों का क्षीण होना बुढ़ापा है।

भय की तीसरी प्रतिक्रिया है—मरण। डरने वाला व्यक्ति स्वाभाविक मौत नहीं मरता, आत्मघात करके मरता है।

भय की चौथी प्रतिक्रिया है—विस्मृति। आदमी डरता है और उसकी स्मृति कमजोर हो जाती है। भय के कारण हमारे स्मृति-तंतु, ज्ञान-तंतु सिकुड़ जाते हैं। उनके सिकुड़ने से स्मृति कमजोर हो जाती है।

भय की पांचवी प्रतिक्रिया है—पागलपन। आदमी पागल बनता है, विक्षिप्त होता है। उसके अनेक कारण हो सकते हैं। किंतु बड़ा कारण है भय। कभी अक्सात् ऐसा आघात लगता है, गहरी चोट लगती है कि आदमी सुध-बुध खो देता है। वह पागलपन की बातें करने लग जाता है। भय का आघात गहरा होता है। उससे आदमी पागल हो जाता है। भय के चार सूत्र बताए गए हैं—

१. सत्त्वहीनता।

२. भय का सतत चिंतन।

३. भय की मति।

४. भय के परमाणुओं का उत्तेजित होना।

१. सत्त्वहीनता

व्यक्ति में पराक्रम नहीं है, बल नहीं है सत्त्व नहीं है। जब शक्ति पराक्रम और सत्त्व का अभाव होता है तब अकारण ही भय पैदा होता है। जिस व्यक्ति में अपने अस्तित्व के प्रति ग्लानि या हीनता का भाव नहीं है, वह चेतना सत्त्व-चेतना होती है।

भय की उत्पत्ति का पहला स्रोत है—सत्त्वहीनता, शक्ति-शून्यता।

२. भय का सतत चिन्तन

जब बुद्धि में भय समा जाता है, जब आदमी मान लेता है कि भय है तब भय ही भय दीखता रहता है। जब एक बार ऐसा होता है तब भय पैदा होता ही रहता है। भय की उत्पत्ति का दूसरा स्रोत है—भय की मति।

३. भय की मति

डर की बातें करना, डर के विषय में सोचते रहना, बार-बार भय उत्पन्न करने वाला साहित्य पढ़ना, उसी का श्रवण करना, उसी का मनन करना, उसी का निदिध्यासन करना—ये सारे भय की उत्पत्ति में सहायक बनते हैं।

भय का तीसरा स्रोत है—भय का सतत चिन्तन करना, भय की बातें करना।

४. भय के परमाणुओं का उत्तेजित होना

भय की उत्पत्ति का यह चौथा स्रोत बहुत ही महत्वपूर्ण है। व्यक्ति के समक्ष कोई उद्दीपक स्थिति नहीं है, कोई भय की स्थिति नहीं है, न कोई भय का चिंतन चलता है, न भय देने वाली वार्ता हो रही है, न बुद्धि में भय समाया हुआ है, कुछ भी नहीं है फिर भी मोहनीय कर्म के परमाणु सक्रिय होते ही भय लगने लग जाता है। यह बाहरी कारणों से होने वाला भय नहीं है। इसकी उत्पत्ति का मूल कारण आन्तरिक है। बाह्य कारणों की अपेक्षा से इसे अहेतुक या अकारणिक भय कहा जाता है। यह केवल अपने भीतर संचित भय के परमाणुओं की सक्रियता से उत्पन्न होता है। अकारण ही भय की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, अकारण ही डर लगने लग जाता है।

○ अहंकारममकारौ च

समस्याओं को पैदा करने वाली हमारी दो अवस्थाएं हैं—अहंकार का विकास और ममकार का विकास। परदर्शन से अहंकार और ममकार बढ़ता है।

○ शत्रुताभावश्च

जिस व्यक्ति में मैत्री का विकास नहीं होता उस व्यक्ति का मनोबल विकसित नहीं होता। शत्रुता एक जहरीला कीड़ा है, वह जिसके पीछे लगता है, उसे निरन्तर सताता है और तब मनोबल दबता चला जाता है। वह कुंठा, अवसाद और घृणा पैदा करता है।

○ परप्रभावनेयता च

जो व्यक्ति सहसा दूसरे के प्रभाव में आ जाता है, वह अपनी शक्ति से वंचित हो स्वयं को शून्य-सा अनुभव करने लगता है।

○ भावान्तराया इत्यधिकृत्य

○ इन्द्रियानुगमिता

अब प्रश्न है, क्या सुख को स्थायी बनाया जा सकता है? क्या दुःख को समाप्त किया जा सकता है? सीधा उत्तर होगा कि इन्द्रिय जगत् में ऐसा होना कभी संभव नहीं है। जब तक हम इन्द्रिय जगत् में जीयेंगे तब तक यह स्वप्न लेना दिवास्वप्न है। इन्द्रिय जगत् में आदमी जीए और सुख या दुःख—एक का ही अनुभव करे, यह असंभव बात है। यह द्वंद्व बराबर चलता रहेगा। यह चक्र समाप्त होता है फिर कोरा सुख बचता है, वह आनन्द बन जाता है। आनन्द से सुखानुभूति होती है, वह सुखानुभूति इस सुख-दुःख के चक्र में कभी नहीं होती। जब तक हम इन्द्रियानुभूति में रहते हैं तब तक वह कोरी कल्पना ही होती है। जो लोग केवल इन्द्रिय रस को जानते हैं, इन्द्रिय रसों का स्वाद लेते हैं और उन्हें ही सब कुछ मानते हैं, उनके लिए आनन्द कोरी कल्पना है।

○ आसवित्तश्च

इन्द्रिय चेतना का जागरण होने पर आसवित का जागरण होता है। वैराग्य का भाव दब जाता है। यही बात मनचेतना के विषय में है। आदमी बुद्धि की चेतना से काम करता है। वह तर्क का व्यवहार करता है। वह आदमी को उलझा देता है। आदमी व्यवहार की दुनिया में बुद्धि के सहारे जीत सकता है पर वह सच्चाई तक नहीं पहुँच सकता।

○ मनोविकाराश्च

सबसे पहले चोट करनी चाहिए उपाधि पर, भावात्मक व्याधि पर। काम, क्रोध, अहं, ईर्ष्या, माया, लोभ—ये सब भावात्मक दोष हैं। इन पर चोट किये बिना भावसाओं को स्वस्थ नहीं रखा जा सकता।

○ पापानि च चतुर्धा विभक्तानि

पहला वर्ग—प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह।

दूसरा वर्ग—क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष।

तीसरा वर्ग—कलह, अस्याख्यान, पैशुन्य, पर-परिवाद, रति-अरति।

चौथा वर्ग—माया, मृषा और मिथ्यादर्शन।

इन चार वर्गों में पाप समाहित हो जाते हैं।

○ अभावश्च

○ अतिभावश्च

अशांति का एक कारण अभाव होता है तो दूसरा कारण अतिभाव भी है।

० प्रतिशोधभावना च

प्रतिशोध की भावना, क्रोध और अहंकार की भावना—ये मानसिक ग्रंथियां विषमता पैदा करती हैं।

० बुद्धिश्च

बुद्धि ने मेरे और अस्तित्व के बीच में व्यवधान डाल रखा था। जैसे ही मैंने चेतना के प्रवाह का बुद्धि के स्रोत से जाना निरुद्ध किया, वैसे ही मेरे और मेरे अस्तित्व के मध्य का व्यवधान समाप्त हो गया।

० व्यथा च

रोग का प्रवाह जो काम की दिशा में जाता है, उसका सबसे बड़ा कारण है तनाव।

० जनसङ्कुलता च

क्रोध, अहं, घृणा, ईर्ष्या—ये सारी प्रवृत्तियां क्यों होती हैं? इसीलिए होती हैं कि हम इस बात को भूल जाते हैं—मैं अकेला हूँ। सामायिक का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—मैं अकेला हूँ। जब अकेला है तब विषमता कहाँ से आयेगी?

० सङ्गश्च

संग नहीं छोड़ेंगे तो कषाय को उत्तेजना मिलेगी। कषाय उत्तेजित होगा तो अध्यवसाय विकृत होगा। अध्यवसाय विकृत होगा तो लेश्या अशुद्ध होगी। लेश्या अशुद्ध होगी तो अशुद्ध मन का निर्माण होगा। अशुद्ध मन का निर्माण होगा तो चित्त विकृत होगा।

उत्तेजना के दो कारण—विषय की सन्निधि और आंतरिक विकार।

व्यक्ति ध्यान करने बैठता है तो कभी आंकाशाओं का ज्वार आता है, कभी प्रमाद का अन्धकार छा जाता है, कभी कषाय की आग भभक उठती है और वह ध्यान से भटक जाता है।

॥ इति अन्तरायाधिकरणे शारीरिकबाधापादः ॥

विभूत्यधिकरणम्

○ साधनायाः फलमित्यधिकृत्य

○ कषायाभावः

साधना का प्रयोजन है—कषाय का विवेक, कषाय को दूर करना। कषाय का अर्थ है—क्रोध, मान, माया, लोभ। यदि हम साधना करते हैं तो उसकी निष्पत्ति के रूप में कषाय का विवेक नहीं होता, कषाय की कमी नहीं होती तो मान लेना चाहिए कि साधना फलित नहीं हो रही है। यदि कषाय क्रमशः दूर होते चले जा रहे हों तो मान लेना चाहिए कि साधना ठीक दिशा की ओर गतिशील है, वह क्रमशः सफलता की ओर बढ़ रही है।

○ शरीरावरोधनिवारणं प्राणशक्तिसंतुलनञ्च

शरीर के अवयवों के अवरोध मिट जाते हैं। असंतुलित प्राणशक्ति संतुलित हो जाती है, विद्युत् का प्रवाह संतुलित हो जाता है। चैतन्य केन्द्रों के अवरोध मिट जाते हैं।

○ भावात्मकं परिवर्तनञ्च

प्रेक्षाध्यान का मुख्य उद्देश्य है—भावात्मक परिवर्तन। भाव का संबंध कर्मों के साथ है। वे भाव विकृतियां और बीमारियां पैदा करते हैं। भावों में परिवर्तन आने पर विकृतियां और बीमारियां मिट जाती हैं।

○ सुप्तशक्तिजागरणञ्च

लयबद्ध श्वास से मस्तिष्क की सुप्त शक्तियां जागती हैं। सारा तंत्र उससे प्रभावित होता है। लयबद्ध चलना, बोलना, श्वास लेना—ये शक्ति जागरण के प्रेरक तत्व हैं।

○ ग्रन्थिलावसंतुलनश्च

ग्रन्थियों का स्राव "हुं" के उच्चारण से संतुलित हो जाता है। मस्तिष्क अस्त-व्यस्त होता है। एक शब्द का जप शुरू होता है और मस्तिष्क व्यवस्थित हो जाता है।

○ स्मृतिविकासश्च

मंत्र की आराधना से स्मृति का विकास होता है, बौद्धिक शक्तियों का विकास होता है और अनुभव की चेतना जागती है।

○ मनः प्रसादश्च

जब मंत्र सिद्ध होने लगता है तब कुछ निष्पत्तियां हमारे सामने प्रकट होती हैं। पहली निष्पत्ति है—मन की प्रसन्नता। दूसरी निष्पत्ति है—मानसिक संतोष।

○ मस्तिष्कविश्रमश्च

"ओम्" का उच्चारण होता है, अल्फा तरंगें पैदा हो जाती हैं और मस्तिष्क रिलेक्स हो जाता है।

○ रोगमुक्तिश्च

जप करने वाला या मंत्र की आराधना करने वाला व्यक्ति क्षय, अरुचि, अग्नि-मंदता आदि-आदि बीमारियों पर नियंत्रण पा लेता है।

○ अपूर्वानन्दानुभूतिश्च

साधना करते-करते जब अरुण रंग या श्वेत रंग के स्पंदन जागते हैं तब अपूर्व आनंद की अनुभूति होने लगती है।

○ ग्रन्थिषु व्यवस्थितिश्च

थायरायड ग्रन्थि पर ब्लू रंग का ध्यान कराया गया। थायरायड की सक्रियता कम हुयी। जिसकी पिच्यूटरी ग्लैण्ड कमजोर हो जाती है, उसके लिए हरा रंग चमत्कारी होता है।

○ शान्ति-पवित्रता-स्फूर्ति-शुद्धयश्च

शांति और पवित्रता के लिए श्वेत रंग प्रभावशाली होता है। सक्रियता और स्फूर्ति के लिए लाल रंग प्रभावशाली होता है। पीला रंग बौद्धिक विकास और भावना शुद्धि का प्रतीक है। हरा रंग विषापहारक होता है। नीला रंग अध्यात्म विकास का प्रेरक है।

० बुद्धिविकासश्च

जो दस मिनट तक मस्तिष्क पर पीले रंग का ध्यान करता है, उसका बुद्धिबल शक्तिशाली हो जाता है।

० सर्वस्य निर्मलीकरणञ्च

ध्यान निर्मल जलधारा है। वह जहाँ प्रवाहित होती है वहाँ से सारी गंदगी समाप्त होती चली जाती है। निर्मलता आती है, चित्त निर्मल, शरीर, वाणी, श्वास निर्मल, सब कुछ निर्मल होते चले जाते हैं।

० ऊर्जावृद्धिश्च

तप के तीन फलित—ऊर्जा का अधिक संचय, ऊर्जा का अल्प व्यय, ऊर्जा का ऊर्ध्वकरण।

० यथार्थविद्यश्च

० अन्तः प्रज्ञोपलक्षिण्यश्च

ध्यान की साधना यथार्थ की साधना है, प्रतिबिम्ब से परे जाने की साधना है। यथार्थ को पकड़ा जा सके तो अनेक समस्याओं का समाधान पाया जा सकता है।

हमारे समक्ष दो स्थितियां हैं। एक है तर्क और बुद्धि के विकास की ओर दूसरी है अन्तः प्रज्ञा के विकास की। ध्यान के बिना अन्तः प्रज्ञा या अन्तर्वृत्ति का विकास नहीं हो सकता। अन्तर्वृत्ति के विकास के बिना सही अर्थ में दर्शन का विकास नहीं हो सकता।वस्तुतः वही दर्शन हो सकता है, जो बौद्धिक और तार्किक चेतना के विकास के साथ-साथ दोनों के द्वारा उत्पन्न परिणामों पर नियंत्रण रखने की क्षमता का विकास करता है। ऐसा होने पर ही हमारी चेतना के विकास की सार्थकता है।

० आत्मानुशासनोदयश्च

ध्यान से भीतर का अनुशासन फूटता है, जिसे आत्मानुशासन कहते हैं। शरीर, श्वास, प्राण, वाणी और मन इन पांच के अनुशासन इकट्ठे होते हैं तो फिर एक होता है—आत्मानुशासन।

० नियंत्रणक्षमता च

० आनन्दातिशयश्च

उत्तेजक परिस्थिति में नियंत्रण की क्षमता का विकास करना ध्यान के द्वारा संभव है।

ध्यान की प्रक्रिया में अन्तर्यात्रा का प्रयोग किया जाता है। अन्तर्यात्रा का अच्छा अभ्यास होने पर, सुषुम्ना में चित्त की ऊपर से नीचे की यात्रा होने पर ऐसे सुख का अनुभव होता है कि जैसा शायद भोग में भी नहीं होता।

दर्शन केन्द्र पर बालसूर्य का ध्यान करते-करते ऐसे स्पन्दन जागते हैं, ऐसे सुख का अनुभव होता है कि वैसा सुख काम-सेवन में भी नहीं होता।

० भावशुद्धिश्च

० तच्छुद्धौ समाजशुद्धिश्च

भावशुद्धि के द्वारा व्यक्ति का रूपांतरण होता है और फिर समाज का भी रूपांतरण हो जाता है।

० समाहितात्मा च

अमाया, अलोभ, अकलह आदि का अवतरण होता है। समत्व की प्रज्ञा जाग जाने का दूसरा लक्षण है कि मन समाहित हो जाता है। ऐसा व्यक्ति “समाहितात्मा” कहलाता है। उसका मन पूर्ण समाहित होता है। समस्याएं आती हैं, पर वे मन को उलझा नहीं पातीं। वे हट जाती हैं, दूर चली जाती हैं।

० परचित्तावबोधक्षमता च

उसे देखने के लिए अतीन्द्रिय प्रतिभा का विकास जरूरी है। प्रेक्षाध्यान के द्वारा वह किया जा सकता है। उसका विकास होने पर आभामंडल को देखा जा सकता है और आभामंडल के द्वारा विचारों को देखा जा सकता है।

० आभामण्डलस्य स्वारथ्यञ्च

जैसे अनुकूल भोजन से शरीर पुष्ट होता है। प्रतिकूल भोजन से वह क्षीण होता है, उसी प्रकार पवित्र भावना से शरीर और आभामंडल दोनों स्वरथ होते हैं। भय, शोक, ईर्ष्या आदि द्वारा अनिष्ट पुद्गलों का ग्रहण होता है, उनसे शरीर और आभामंडल—दोनों विकृत होते हैं।

० परिवेशपवित्रीकरणञ्च

ध्यान करने वाला अकेला व्यक्ति ही प्रभावित नहीं होता, सारा वातावरण मंगलमय तरঙ्गों से प्रभावित होता है। आज इतनी सूक्ष्म खोजें हो चुकी हैं कि हमारे शरीर से, वाणी से और मन से निकलने वाले परमाणुओं से आस-पास के पूरे वातावरण में प्रभाव होता है। अच्छे और बुरे परमाणु वर्षों तक अपना प्रभाव बनाये रखते हैं। अच्छे परमाणु सारे वातावरण को पवित्र बना देते हैं। यहाँ सामूहिक ध्यान चल रहा है। सभी उपस्थित व्यक्ति ध्यान में आने के लिए

प्रयत्नशील हैं। सभी व्यक्तियों से अच्छे परमाणु विकिरित हो रहे हैं। वे परमाणु तत्काल नष्ट नहीं होते। यदि लम्बे अर्से के बाद भी कोई व्यक्ति यहाँ आयेगा तो उसका मन आनन्दित होगा। इसी प्रकार यदि कहीं बुरे विचारों के व्यक्तियों का समवसरण होता है और वे सब व्यक्ति उस स्थान को छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं, फिर भी उस स्थान पर कोई व्यक्ति आयेगा, उसका मन उदास और खिन्न हो जायेगा। यह परमाणुओं का प्रभाव है।

० ज्योतिर्दर्शनञ्च

हमें प्राण में मन को सम करना होगा। जैसे ही प्राण में मन को सम किया और सूक्ष्म जगत् के साथ हमारा सम्पर्क स्थापित हो गया, फिर रंग दिखाई देंगे, ज्योति दिखाई देगी, विचित्र प्रकार की दुनिया दिखाई देने लग जायेगी। यह कोई काल्पनिक दुनिया नहीं है। विचित्र सृष्टि हमारे आस-पास विद्यमान है।

- विधिपरिकदृष्टिश्च
- पापान्वृत्तिश्च
- विनप्रता च

स्वयं को देखने से व्यक्ति निषेधात्मक भावों से विधेयात्मक भावों में आ जाता है।

जिस चेतना में ज्ञाता-द्रष्टा चेतना विकसित हो गई वह अकरणीय कार्य नहीं कर सकता।

कर्तव्य करेगा पर उसका अहंकार कभी नहीं करेगा।

० जीवने सरसता च

अध्यात्म जीवन को नीरस नहीं बनाता। अध्यात्म ही एक ऐसी प्रक्रिया है जो जीवन को अनन्त रसायन बनाने में समर्थ है। पदार्थ के सारे रस एक समय मात्र के लिए रस होते हैं, समय बीतने के बाद वे रसहीन हो जाते हैं।

० सूक्ष्मतत्त्वावगतिश्च

अध्यात्म सूक्ष्म नियमों की खोज है। अध्यात्म केवल धर्म का ही विज्ञान नहीं है। वह प्रकृति की सूक्ष्मतम गुणियों को सुलझाने वाला विधान है। उसके द्वारा प्रकृति का सूक्ष्मतम अध्ययन होता है और सूक्ष्म नियमों का पता लगाया जाता है।

○ निःस्पन्दतासिद्धिश्च

ध्यान का प्रयोग तरंगातीत जगत् का अनुभव करने के लिए करते हैं। किंतु तरंगों के जगत् से परे जाना, गुरुत्वाकर्षण को तोड़कर अन्तरिक्ष में जाना कोई साधारण बात नहीं है, बहुत ही कठिन बात है। मनुष्य पुरुषार्थी है। उसमें असीम मनोबल है। उसमें असीम संकल्प है। उसकी चेतना प्रबल है, जब कोई व्यक्ति वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर अन्तरिक्ष की यात्रा कर सकता है तो ध्यान के द्वारा तरंगातीत चेतना का अनुभव क्यों नहीं कर सकता? ऐसा संभव है।

जो व्यक्ति भाषातीत, विकल्पातीत और चिन्तनातीत नहीं होता वह कभी तरंगातीत नहीं हो सकता।

○ अनाहतनादश्च

कभी-कभी ध्यान में इस प्रकार के रंगों का दर्शन होता है कि वैसे रंग इस दुनिया में देखने को कभी नहीं मिलते। सुंदर, तेज और ज्योतिर्मय। जब हमारा सूक्ष्म जगत् के साथ सम्पर्क होता है, शब्द भी सुनाई देने लग जाते हैं। जब अन्तर शक्ति काम करने लगती है तब ये सारी बातें घटित होने लग जाती हैं। यह न कोई चमत्कार है, न कोई प्रदर्शन।

○ वीर्याभिव्यक्तिश्च

श्रद्धा से तत्काल लाभ मिलता है। जैसे ही अनन्त शक्ति सम्पन्न अर्हत् की आराधना प्रारम्भ होती है, शरीर के कण-कण में पराक्रम फूटने लगता है, अनुभव होने लगता है। एक कमजोर व्यक्ति तब अपने आप में शक्ति का अनुभव करने लग जाता है।

○ सङ्कल्पसिद्धिश्च

संकल्प में बहुत बड़ी शक्ति होती है। जिस प्रकार का संकल्प होता है, परमाणुओं को उसी रूप में संगठित होने के लिए बाध्य होना पड़ता है। आकाश में बादल नहीं है। आदमी ने संकल्प किया। वह सघन और सृदृढ़ हुआ। इस स्थिति में परमाणुओं को बादल के रूप में बदलना होता है।

○ श्रीवृद्धिश्च

ये सूत्र हमारी आन्तरिक भावना को जागृत करते हैं। मैं श्री सम्पन्न बनूँ। लेश्या के सिद्धांत में दरिद्रता को कोई स्थान नहीं है। जिसकी लेश्याएं पवित्र होती हैं, वह महान् ऋद्धि वाला होता है। महान् वैभव वाला होता है। जैसे

सामाजिक व्यक्ति अपनी ऋद्धि करना चाहता है वैसे ही शुद्ध लेश्या वाला अध्यात्म का साधक अपने आभामण्डल को शक्तिशाली बनाना चाहता है।

० अयोगश्चायोगश्च

साधना का चरम शिखर है अयोग।

(यहाँ 'अयोगश्च' सूत्र की पुनरावृत्ति समाधानसूत्र ग्रन्थ की सम्पन्नता सूचित करने के लिये की गयी है।)

॥ इति विभूत्यधिकरणम् ॥

सम्पन्नश्च समाधानसूत्रम्

* * * * *

एक उपनिषद्

महाप्रज्ञ-जैनेन्द्र-सम्बाद

जैनेन्द्र— क्या मुनि-जीवन में कष्ट-लीनता नहीं है।

मुनिश्री— मैं समझता हूँ नहीं है।

जैनेन्द्र— क्या कोई कष्ट नहीं आता?

मुनिश्री— आता है, पर कष्ट का आ पड़ना एक बात है और कष्ट की लीनता दूसरी बात है। भगवान् महावीर के साधना काल में अनेक कष्ट उपस्थिति हुए। वे कष्टलीन होते तो उन्हें कभी नहीं झेल पाते। किंतु वे आत्मलीन थे, इसलिए उन्हें झेल सके।

जैनेन्द्र— यदि आत्म-लीनता मूर्च्छा जैसी स्थिति है तो वह मुझे प्रिय नहीं हो सकती। उसमें चैतन्य का पुरुषार्थ नहीं है, और जहाँ चैतन्य का पुरुषार्थ नहीं है, वहाँ अध्यात्म नहीं हो सकता, ऐसा मैं मानता हूँ।

मुनिश्री— मैं आत्म-लीन को चैतन्य की मूर्च्छा नहीं बता रहा हूँ। मैं यह बता रहा हूँ कि आत्म-लीनता घनीभूत हो जाती है, तब चैतन्य इतना पराक्रमी बनता है कि बाह्य के प्रति शून्यता अपने आप आ जाती है।

जैनेन्द्र— कुछ लोग मादक द्रव्य के प्रयोग को साधना का अंग मानते हैं, वे क्यों गलत हैं?

मुनिश्री— वे इसलिए गलत हैं कि मादक द्रव्यों के सेवन से चेतना मूर्च्छित हो जाती है।

जैनेन्द्र— चेतना की मूर्च्छा आपको पसन्द नहीं है?

मुनिश्री— नहीं कर्तव्य नहीं।

जैनेन्द्र— तब फिर चलिए।

मुनिश्री— मेरी समझ में बाह्य संवेदना को शून्य कर चैतन्य को पराक्रम-विमुख

बनाने की स्थिति आत्म-लीनता नहीं है। आत्म-लीनता वह स्थिति है, जहाँ धैतन्य के पराक्रम के सामने बाह्य स्थिति अकिंचित्‌कर बन जाती है।

जैनेन्द्र— क्या संयम निरपेक्ष है?

मुनिश्री— निरपेक्ष नहीं, किंतु सापेक्ष है।

जैनेन्द्र— संयम की अपेक्षा क्या है ?

मुनिश्री— जब तक आसक्ति है, तब तक संयम अपेक्षित है। जैसे ही आसक्ति क्षीण हुई, वैसे ही संयम कृतकार्य हो चला। निरपेक्ष मूल्य अपने अस्तित्व का है। शेष वही बचता है। संयम बंधन नहीं है। वह मुक्ति है और वह मुक्ति, जिसका उत्स अनुराग है।

“अनुरागाद् विरागः” —यह संयम का सिद्धान्त है। जिसके प्रति अनुराग होगा, उसके प्रतिपक्ष में विराग और बाह्य के प्रति अनुराग, आत्मा के प्रति विराग। बाह्य के प्रति विराग यानी संयम।

जैनेन्द्र— इस आत्मलीनता में मुझे बहुत खतरा दिखाई देता है। यह स्व-रति का भाव आगे चल स्वार्थ में बदल जाता है। स्वार्थ की प्रेरणा में मुझे कोई रस नहीं है।

मुनिश्री— आप स्व-रति का जिस अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं, वह आत्मलीनता से भिन्न है। आत्मलीनता में परमार्थ की प्रेरणा प्रबल होती है। स्वार्थ मोह का रूपान्तर है जबकि आत्मलीनता मोह का विसर्जन।

जैनेन्द्र— मनुष्य को जब तक मैं हूँ—“अहम् अस्मि” का अनुभव होता रहता है, तब तक वह लीन नहीं हो सकता। अतः “वह है” के विन्तन में ही अहम् से मुक्ति मिल सकती है। “वह” अखण्ड तत्त्व का प्रतीक बनता है, “मैं” खण्डित बोध का। इसीलिए जिस प्रक्रिया में अहं का विसर्जन होता है वही कायोत्सर्ग है। कुछ भक्त भजन में इतने लीन हो जाते हैं कि अपने आपको भूल जाते हैं। इस अवस्था में वे जो कहें, वह इतना संवेदनपूर्ण हो जाता है कि उसका प्रभाव अचूक होता है। विचार-संप्रेषण इसी तन्मयता की उपलब्धि है। जब “मैं” “वह” में लीन हो जाता है तो उस एकाग्रता में विचार अपने आप अतिक्रान्त होने लग जाते हैं। इसमें देश की दूरी भी व्यवधान नहीं बन सकती।

मुनिश्री— इसे लययोग कहा जाता है। योग के अनेक प्रकार हैं—जपयोग, लययोग, ध्यानयोग आदि। पर सब योगों की अन्तिम शर्त है—आत्मा, इन्द्रिय तथा मन की एकलयता। शिष्य का अर्थ ही यही है कि वह गुरु में अपने आपको लीन कर दे। यदि शिष्य गुरु में लीन नहीं होता है तो उसे बौद्धिक उपलब्धि भले ही हो जाए पर उससे परे जो आत्मोपलब्धि है वह नहीं हो सकती। प्राचीन आचार्य शिष्यों को पढ़ाते बहुत थोड़ा थे और अपना काम ज्यादा करवाते थे। वस्तुतः जो शिष्य गुरु में लीन हो जाता था, वह दिनभर गुरु की सेवा में तन्मय रहता था। जब कभी गुरु उसे थोड़ा-बहुत ज्ञान दे देते उससे उसकी आत्मा जागृत हो जाती थी। आत्मजागृति के सामने बौद्धिक उपलब्धि अत्यन्त तुच्छ वस्तु है। वास्तव में जो दूसरों में अपने आपको लीन नहीं कर देता वह सदा अपने आप में उद्विग्न और चिन्तित रहता है।

जैनेन्द्र— शान्ति श्मशान की शान्ति नहीं होनी चाहिए। जड़ शान्ति में चैतन्य कुण्ठित हो जाता है।

मुनिश्री— मैं परिस्थिति से आँख-मिचौनी करने वाली कृत्रिम शान्ति की बात नहीं कर रहा हूँ। अन्याय के प्रतिकार को मैं शान्ति-भंग नहीं कह रहा हूँ। मैं उस शान्ति की बात कह रहा हूँ, जिसमें प्रतिकार की शक्ति सुरक्षित है, जिसे प्रतिगामी चुनौती नहीं दे सकता, प्रतिकार की क्षमता से विचलित कर स्वयं को आकुल नहीं बना सकता। मन की स्थिति सुदृढ़ होने पर वह अग्राह्य को छोड़ देता है, जैसे चलनी आटा छानती है उसमें अग्राह्य अंश शेष रह जाता है। कुटिलता व्यक्त होने पर ऋजुता शेष रहती है। ग्रंथि-मोक्ष अपने आप हो जाता है।

जैनेन्द्र— ध्याता और ध्येय—यह द्वैत हो वहाँ एकत्व कैसे संबंध है? आत्मा आत्मा में लीन—यह कैसी स्थिति है?

मुनिश्री— आत्मा का आत्मा में लीन होना यह स्थिति का द्वैत है। जिसमें लीन होता है, वह शुद्ध अवस्था है। जिसे लीन होना है, वह बहिर्मुखी अवस्था है।

जैनेन्द्र— मुझे ध्यान खतरनाक लगता है। उसे स्व-रति के खतरे से बचना है। थोड़ा ध्यान जिसमें स्वास्थ्य-लाभ हो, जिसका सेवा में उपयोग हो,

जिसे आत्मरमण कहते हैं, वह ठीक है, पर आत्म-रमण और स्व-रति में भेद है। आत्मरमण बड़ा शब्द है। स्व-रति मनोविज्ञान में भी चलता है, वह संकुचित है। भक्त और भगवान् दो हैं। भक्त अपनी ही भक्ति में स्व का द्वैत उत्पन्न करे, फिर एकीकरण करे?

मुनिश्री— द्वैत और एकीकरण, यह दोनों प्रक्रियाओं में समान है। एक जगह भगवान् और भक्त का एकीकरण है तो दूसरी जगह आत्मा की दो भिन्न स्थितियों का एकीकरण है। सहारे की अपेक्षा हो तो वह उसमें भी है और इसमें भी है।

जैनेन्द्र— जो “स्व” में ही निष्ठ हो गया, होते-होते निकम्मा ही नहीं, विक्षिप्त हो गया। परिस्थिति से संबंध रह नहीं सका।

मुनिश्री— यह परिस्थिति की तुलना में स्व-निष्ठा की बात नहीं है। स्व-निष्ठा का अर्थ चैतन्य है, प्रबुद्धता है और वह प्रबुद्धता जिसमें चैतन्य ही चैतन्य हो। साधनाकाल में ध्याता और ध्येय का विभाग रहता है, सिद्धि-काल में वे दानों एक हो जाते हैं।

जैनेन्द्र— चैतन्य का स्वभाव सिमटकर सीमित होना नहीं है। चैतना बाहर से लौटकर भीतर की ओर नहीं आती, वह बाहर की ओर फैलकर विराट् बन जाती है।

मुनिश्री— चैतन्य का भीतर की ओर लौटाने का अर्थ सिमटना नहीं किंतु विस्तार ही है। आप क्षेत्रीय विस्तार की भाषा में कह रहे हैं, मैं शक्ति-विस्तार की भाषा में कह रहा हूँ। क्षेत्रीय दृष्टि से तो आकाश भी विराट् है। चैतन्य की विराटता उससे विलक्षण है।

जैनेन्द्र— आप कहते हैं, कल्पना को समाप्त कर दो। मैं कहता हूँ कल्पना को मुक्त कर दो।

मुनिश्री— साधना के कुछ स्तरों में आपकी भाषा मान्य हो सकती है। साधना का स्तर सबका एक नहीं होता।

जैनेन्द्र— कल्पना को छोड़ने में लगे हुए अधिक बिखर गए हैं, यह मैंने देखा है।

मुनिश्री— उनका आत्मा के साथ ठीक योग नहीं हुआ।

जैनेन्द्र— योग शब्द ठीक है। पहले आपने विछिन्न कहा। यदि योग है तो यह मैं भी मानता हूँ।

मुनिश्री— मैंने तो पहले ही कहा था, स्व-द्रव्य के साथ योग और पर-द्रव्य के साथ अयोग। कोरा अयोग या विच्छेद नहीं कहा था।

छोड़ते जाओ, छोड़ते जाओ, यह समझ में आता है पर विस्तार करते जाओ, यह भाषा समझने में कठिनाई है। इसका व्यावहारिक रूप क्या है?

जैनेन्द्र— आचार्य तुलसी के प्रति आपकी श्रद्धा है। तुलसीजी में आपका लीन होना सरल है। जैनेन्द्र जैनेन्द्र में लीन हो जाए, यह कठिन लगता है। अपने से दूसरों में लीन होना विस्तार है और वह सरल भी है।

मुनिश्री— स्वलीन या परलीन यह भाषा-भेद है। भाषा कोई सत्य नहीं है। सत्य जहाँ पहुँचता है, वहाँ पहुँचता है।

जैनेन्द्र— आत्मा के नाम पर अहं की साधना होने से धर्म अधर्म बन जाता है।

मुनिश्री— अहं शब्द एक है पर इसके दो रूप हैं। अहं अस्मित्व का सूचक हो तो वह अधर्म हो सकता है पर अस्तित्व का सूचक हो तो वह अधर्म कैसे होगा ?

जैनेन्द्र— ध्यान में प्रवृत्ति-शून्यता या अहं की वृद्धि का खतरा है।

मुनिश्री— ध्यान में सहज आनन्द की अनुभूति होती है। मैं अपने में देखता हूँ। ध्यान के लिए कुछ समय लगाता हूँ, फिर भी मेरी प्रवृत्ति कम नहीं हुई है और न मुझे अहं सताता है, प्रत्युत आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ। इसलिए मुझे लगता है कि ध्यान कोई खतरा नहीं है। जहाँ आनन्द नहीं मिलता, वहाँ ध्यान की प्रक्रिया में गलती हो सकती है।

जैनेन्द्र— मेरे जीवन में कम से कम एक दर्जन व्यक्ति आए। दो-दो घंटे ध्यान करते थे, फिर भी उनका मन बिखर रहा है।

मुनिश्री— प्रक्रिया में कहीं गलती हो सकती है, अन्यथा ध्यान से आनन्द ही मिलता है, मन बिखरता नहीं।

जैनेन्द्र— क्या मुक्ति अभावात्मक स्थिति है ?

मुनिश्री— नहीं भावात्मक है। वहाँ ससीम सुख की निवृत्ति होती है तो असीम सुख की उपलब्धि होती है। परमात्मा का आनन्द अनन्त है। अचल है, अक्षर है। यहाँ के सुख क्षणशील हैं।

जैनेन्द्र— कहीं असहिष्णुता भी सदव्यवहार का अंग हो सकती है?

मुनिश्री— हाँ, हो सकती है।

जैनेन्द्र— असहिष्णुता होगी तो कठोरता आ जायेगी।

मुनिश्री— कुम्हार घड़े को पीटता है पर नीचे उसका हाथ रहता है। मृदु व्यवहार में इसका अवकाश है।

जैनेन्द्र— सत् व्यवहार की कसौटी आत्मीयता हो सकती है, मृदुता कैसे?

मुनिश्री— मैंने क्रूरता के प्रतिपक्ष में मृदुता का प्रतिपादन किया, कठोरता के प्रतिपक्ष में नहीं। कठोरता क्रूरता से भिन्न है। माँ का पुत्र के प्रति और गुरु का शिष्य के प्रति आवश्यकतावश कठोर-भाव हो सकता है, पर क्रूरता नहीं।

जैनेन्द्र— सदाचार शब्द चलता है। किंतु सदाचार काफी नहीं, सत्याचार होना चाहिए। सदाचार समाज की मानी हुई तात्कालिक नीति है। यदि धर्माचरण का विचार भी वहीं तक रह गया तो जिस क्रान्ति की आवश्यकता है, वह धर्म की ओर से नहीं आयेगी, धर्म को उससे गहरे जाना चाहिए। शान्ति, सहिष्णुता आदि शब्द भी कुछ वैसे ही रुद्धार्थ में प्रयुक्त होने लगे हैं।

मुनिश्री— सदाचार में सत् शब्द है, वह भी सत्य का वाचक है। सत् अर्थात् सत्य। समय की मर्यादा के साथ दूसरा अर्थ आ गया। सदाचार सत्याचार ही न रहा, अच्छा आचार भी बन गया। भाषा शास्त्र के अनुसार शब्द का अपकर्ष और उत्कर्ष होता रहा है।

जैनेन्द्र— सत्याचार की अभिव्यक्ति वह होगी, जो आज सदाचार में नहीं है।

मुनिश्री— यह ठीक है। सदाचार के पीछे जो भावना आ गई है, शब्द परिवर्तन से उसमें भावना भी परिवर्तित हो सकती है।

जैनेन्द्र— साहित्य में प्रतिक्रिया और पलायन—दो शब्द बहुत चल रहे हैं। मुझे पलायनवादी कहा जाता है। मैं कहता हूँ ऐसा कौन है जो बैल को सामने देखकर पलायन न करे?

मुनिश्री— हर शब्द की यहीं स्थिति है। उत्कर्ष, अपकर्ष, उत्क्रान्ति, अपक्रान्ति से मुक्त कोई शब्द नहीं है। आज से दो-ढाई हजार वर्ष पहले “पाषंड”

शब्द श्रमण सूचक था। अशोक के शिलालेख, जैन और बौद्ध साहित्य में उसका गौरव के साथ प्रयोग हुआ है। आज "पाषंड" शब्द कुत्सित बन गया है। "पाषंडी" कहने से अप्रिय-सा लगता है।

जैनेन्द्र— असुर शब्द हमारे लिए घृणा का है पर ईरान और फारस में असुर देव के लिए है।

मुनिश्री— प्राचीन साहित्य में असुर शब्द देव के अर्थ में था। यक्ष भी महत्त्व सूचक था। आज उससे भिन्न है। आज साहसिक शब्द प्रशंसा सूचक है परंतु जब चला था उस समय अविमृश्यकारी—बिना विचारे कार्य करने वाले के अर्थ में था। अर्थ के उत्कर्ष का अपकर्ष हो गया।

जैनेन्द्र— आस्तिकता ऐसी चीज़ है, जो घर में पैदा होने से ही आ जाती है। नास्तिकता बुद्धि के प्रयोग से होती है। मैं पहले आस्तिक था, फिर बहुत वर्षों तक अपने को नास्तिक कहता था। अब मानने लगा हूँ आस्तिक हूँ। पहली आस्तिकता जल्दी टूट गई।

मुनिश्री— यह आस्तिकता पुरुषार्थ से आयी। मन, इन्द्रिय, बुद्धि, शरीर आदि जो साधन हैं, आत्मा के अस्तित्व की जानकारी के प्रत्यक्ष सहायक नहीं हैं। डॉक्टर अणु-अणु को बिखेर देता है पर शरीर में कहीं भी चित्त नहीं मिलता। इसलिए मैं कह रहा था चित्त का मानना आश्चर्य है।

जैनेन्द्र— शरीर से भिन्नता का पीछा करना आपको क्यों आवश्यक है ?

मुनिश्री— आपके पास प्रयोगशाला है। आप शरीर के कण-कण की छानबीन कर सकते हैं। पर शरीर से मुक्त चैतन्य को जानने के आपके पास साधन कहाँ हैं? हमारे पास ज्ञान के साधन पांच इन्द्रियां हैं। वे शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श को जान सकती हैं। उनको शरीर द्वारा जाना जा सकता है। यदि आप शरीर और चैतन्य की भिन्नता जानना चाहते हैं तो उसका साधन ध्यान है। समुचित मात्रा में ध्यान करने पर आपको यह अनुभूति न हो तो मुझे आश्चर्य होगा।

जैनेन्द्र— क्या निश्चय और व्यवहार—ये दो बातें मन में रखनी पड़ेंगी ? निश्चय में से व्यवहार नहीं निकल सकता क्या ? व्यवहार स्वयं निश्चय की साधना में फलित होगा। निश्चय को साधेंगे तो अनुराग,

विराग नहीं होगा। व्यवहार की ओर झुकें तो निश्चय टूटेगा, निश्चय पर झुकें तो व्यवहार टूटेगा। निश्चय का पूरी ईमानदारी से पालन करेंगे तो व्यवहार स्वयं सधेगा।

मुनिश्री— तीर्थकर सारे व्यवहार का प्रवर्तन करते हैं, संघ का प्रवर्तन करते हैं, व्यवस्था का प्रवर्तन करते हैं। यह व्यवहार कहाँ से आया? प्रवृत्ति उनके जीवन में कहाँ से आयी? निश्चय में से ही व्यवहार निकला है। तीर्थकर कृतकृत्य हो गए, उनके लिए करना कुछ प्राप्त नहीं, फिर भी वे करते हैं। कोई भी शरीरधारी व्यवहार से मुक्त नहीं हो सकता। जब तक शरीर का पराक्रम है तब तक व्यवहार होता रहेगा। श्रावक के बारह ब्रतों में एक अतिचार है कि “अपने आश्रितों की जीविका का विच्छेद नहीं करूँगा।” यह व्यवहार कहाँ से आया? जो जितना धार्मिक होगा, उसका व्यवहार भी उतना ही सुखद होगा।

जैनेन्द्र— सुन्दरता दृष्टि से स्वतंत्र चीज है क्या? उसका स्वतंत्र अस्तित्व है क्या?

मुनिश्री— सुन्दरता संस्थानगत और रूपगत होती है। प्रियता मनोगत होती है। कड़वी के कड़वी चीज भी मनोगत हो सकती है पर मधुर नहीं। अमुक स्त्री सुंदर है पर पति के मन को नहीं भाती। वह क्यों? उसके प्रति प्रियता का मनोभाव नहीं हुआ। प्रियता जहाँ जुड़ती वहाँ घृणा नहीं रहती। मन में प्रेम का विस्तार हो तो सामने वाली वस्तु गौण हो जाएगी कि यह मनोरम है या मनोरम नहीं है। प्रेम का विस्तार सबको समा लेता है, वह “प्रति” पर निर्भर नहीं होता, अपने पर निर्भर होता है। “प्रति” का अर्थ किसी के प्रति नहीं यानी सबके प्रति। प्रेम संबंध का विस्तार नहीं, आत्मगुण का विस्तार है।

जैनेन्द्र— प्रेम में विवेक का स्थान नहीं है क्या?

मुनिश्री— विवेक से व्यवहार फलित होता है, प्रेम तो अखण्ड होना चाहिए। कोई मेरे साथ पांच प्रतिशत व्यवहार ठीक करता है और कोई दस प्रतिशत। प्रेम भी उसी अनुपात से हो तो वह खण्डित हो जाएगा।

जैनेन्द्र— पर सापेक्षता प्रेम के लिए संगत है।

मुनिश्री— विस्तार की प्रक्रिया क्या हो, यह सहज ही प्रश्न हो सकता है।

विस्तार का पहला सूत्र है—विचार की स्पष्टता या सम्यक् दर्शन। दूसरा सूत्र है—संकल्प का उपयोग। संकल्प की भाषा निश्चित और समय दीर्घ होना चाहिए। उतना दीर्घ कि उसे दोहराते-दोहराते उसमें तन्मयता आ जाए। भाषा का आकार एक होने से उत्तरोत्तर स्पष्टता आती है। आज कुछ, कल कुछ, परसों कुछ, इस प्रकार भाव-भाषा भिन्न होने से धारणा में दृढ़ता नहीं आती है। भाषा, भाव, स्थान और समय की निश्चितता अवश्य प्रभाव लाती है।

जैनेन्द्र— संकल्प में कर्तृत्व सहायक नहीं, बाधक बनता है। “मैं प्रेम का हूँ”, “मैं प्रेम का हूँ”—इसमें महत्त्व प्रेम को मिलेगा। “मेरा प्रेम बढ़ रहा है” इसमें जो कर्तृत्व है, वह अन्त में बाधक बन जाएगा। कर्तृत्व अपने पास न रहे तो क्षमता का विस्तार हो सकता है। भजन में प्रणिपात की भावना से तृप्ति मिलती है। वही सब है, मैं शून्य हो जाऊं। इसमें आत्म-गुणता, तत्समता का रास्ता सरल हो जाता है। मैं सब बनने में हाथ फैलाता हूँ।

मुनिश्री— ध्यान की प्रक्रिया यही है। एक ध्येय है। मैं अपने आप में इतना शून्य हो जाऊं कि वह मुझमें समाविष्ट हो जाए। ध्येय-आविष्ट का अर्थ है—ध्यान। आचार्य रामसेन ने इस शून्यीकरण को बहुत महत्त्व दिया है। उन्होंने लिखा है—

यदा ध्यानबलाद् ध्याता, शून्यीकृत्य स्वावग्रहम् ।
ध्येयस्वरूपाविष्टत्वात्, तादृक् संपद्यते ख्ययम् ॥

जैनेन्द्र— (प्रश्न को स्पष्ट करते हुए कहा)—प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। एक परिवार का सदस्य है। वह अपने ममत्व का विस्तार करना चाहता है तो पहले वह सगे रिश्तेदारों से आगे कम रिश्तेदारों से अपना ममत्व बांटता है, फिर उससे आगे। इस प्रकार यदि वह क्रमिक और आंकिक विस्तार करता है तो परिवार में दिक्कत पैदा होती है। एक बार सवाल आया—व्यक्ति से विराट् बनना चाहिए। विराट् तो अनन्त है, वह कैसे होगा? विराट् बनना नहीं है, अहंशून्य हो जाए तो फिर उसकी सीमा कहाँ रह गई? अनन्त तक विराट् हो जाएगा।

एक गिलास दूध में एक घम्च शक्कर डालने से वह सारे गिलास में फैलेगी, उसके आठवें भाग में नहीं। विस्तार की प्रक्रिया आंकिक

व पारिमाणिक नहीं, गुणात्मक है। पचास हजार रुपये हैं। बीस आदमी सगे हैं और बीस आदमी परिवार के हैं। जिनमें यह भाव आया कि ममत्व विसर्जन करना है उसने अपना संग्रह कम कर लिया। वह संग्रह से संबंध विच्छेद कर वैसा कर सकता है।

मुनिश्री— ममत्व विसर्जन यदि दानात्मक हो तो कटुता आ सकती है, किंतु त्यागात्मक हो तो उसकी संभावना नहीं दिखाई देगी। दान और त्याग में बड़ा अंतर है। दान में अहं बद्ध होता है जबकि त्याग में वह मुक्त हो जाता है। ममत्व के साथ जुड़े भय और चिंता निर्ममत्व के साथ जुड़कर अभय और निश्चिंतता में बदल जाते हैं। यह मन की शान्ति का अमोघ सूत्र है।

* * * * *

विद्वानों की दृष्टि में आचार्य महाप्रज्ञ

आज इन (आचार्य महाप्रज्ञ) के भीतर से जो ऊर्जा निकल रही है, उससे हजार गुना अधिक निकलेगी और वह विश्व के लिए बहुत हितकारी बनेगी।

—गणाधिपति तुलसी

मुनिश्री नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) इस समय भारत के ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व के शीर्षस्थ दार्शनिकों में से एक हैं। मैं उन्हें जैन न्याय के क्षेत्र का राधाकृष्णन् मानता हूँ।

—आचार्य विद्यानन्द

आचार्य तुलसी ने जैन समाज को जो दिया है, उससे भी अधिक केवल जैन समाज को ही नहीं, समग्र भारतीय समाज को ये मुनि नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) आचार्य बन कर देंगे, इसमें कोई संदेह नहीं है। —पं. दलसुख मालवणिया

महाप्रज्ञ जी अगाध ज्ञानी हैं और साथ ही उनका ज्ञान उनके जीवन में घुलमिल गया है। उनका मन सरल एवं निर्मल है। सबसे बड़ी बात है, बुद्धि का उनके मन पर कोई भार नहीं है।

—जैनेन्द्र कुमार

यदि महाप्रज्ञ के साहित्य को कुछ वर्ष पूर्व पढ़ने का सौभाग्य मिलता तो मेरे उपन्यास की धारा और दिशा दूसरी होती।

—विमल मित्र

महाप्रज्ञजी ने स्वच्छ संवेदनशील चित्त से प्राकृतिक आचारों को देखा है और उसे बहुमूल्य निष्कर्षों तक पहुँचाया है।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

मौन हो गए ग्रंथ जहां पर तुमने दी फिर वाणी।

गूजेगी वह दिग्दिगंत में बन कर के कल्याणी॥

—कन्हैयालाल फूलफगर

आप (आचार्य महाप्रज्ञ) आज के विवेकानन्द हैं। आपको पाकर हम गौरवान्वित हैं। आपकी तीक्ष्ण, और ठेठ तक पहुँचने वाली बुद्धि से हम परिचित हैं।

—रामधारीसिंह दिनकर

आचार्य श्री महाप्रज्ञ हमारे समय के एक ऋषि हैं, स्थितप्रज्ञ हैं... इसमें कोई सन्देह नहीं... आचार्य महाप्रज्ञ की प्रतिभा रश्मरथी है।

—डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी

—‘महाप्रज्ञ का रचना-संसार’ (सम्पादक श्री कन्हैयालाल फूलफगर) से साभार उद्धृत

लेखक का परिचय

नाम : दयानन्द भार्गव

जन्म : २२ फरवरी, १६३७

शैक्षणिक योग्यता : बी.ए. ऑनर्ज़ (अंग्रेजी)

एम. ए. (संस्कृत),

पी.एच.डी. (जैन एथिक्स)

पद

- प्राचार्य, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू तथा इलाहाबाद
- रीडर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर
- डीन, कला, शिक्षा, एवं समाजविज्ञान संकाय, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर
- प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष, जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्मदर्शन विभाग, जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) लाडनूर

शोध प्रकाशन

1. Jain Ethics
2. ऋचा-रहस्य
3. जैनतर्कभाषा
4. तर्कसंग्रह
5. जैन जीवनदृष्टि की पृष्ठभूमि
6. युक्ति-दीपिका
7. Who Am I
8. Earthen Lamps
9. Philosophy of Non-Violence
10. Glimpses of Indian Philosophy and Sanskrit Literature
11. अपरवाद
12. आवरणवाद
13. पितृ-समीक्षा
14. व्योमवाद
15. वर्णसमीक्षा
16. आधुनिक संस्कृत साहित्य
17. वेदविज्ञानवाक्यमाला
18. वेदविज्ञानवीथिका

शैक्षणिक विदेश-यात्रा

अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, हालैण्ड, थाइलैण्ड, नेपाल, जर्मनी।

सम्मानित पद

1. अध्यक्ष, संस्कारभारती, जोधपुर,
2. अध्यक्ष, विश्व- संस्कृतप्रतिष्ठान, जोधपुर,
3. सम्पादक, सर्वभाषाकालिदासीयम्,
4. सहनिदेशक, अनेकान्त शोधपीठ, जैनविश्वभारती
5. सदस्य, राजस्थान संस्कृत अकादमी
6. प्रधान सम्पादक, लालासुन्दरलाल जैन रिसर्चसिरीज
7. सदस्य, केन्द्रीय संस्कृत समिति, नई दिल्ली,
8. सदस्य, सिन्डीकेट, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर

पुरस्कार-सम्मान

1. राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर
2. शिक्षा-विभाग, राजस्थान सरकार
3. आचार्य हस्तिमल पुरस्कार
4. प्रेक्षा पुरस्कार

महाप्रज्ञ-दर्शन



आचार्य महाप्रज्ञ से लेखक की प्रार्थना

करारविन्दे विनयेन बद्धवा वन्दे त्वदीये चरणारविन्दे
उत्थाप्य हस्तौ वरदौ स्वकीयौ प्रशाधि मह्यं जगदधिपारम् ॥

